

भारतीय ज्ञानपीठ, का शी



# संस्कृतका भाषाशास्त्रीय अध्ययन

डॉ॰ भोलाशङ्कर व्यास प्राच्यापक, हिन्दी विभाग, काशी विश्वविद्यालय



# भारतीय ज्ञानपीठ काशी

MUNSHI RAM MANOHAR LAL

SANSKRIT & HINDI BOOKSELLERS

NAI SARAK DELHI-S

### ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला-सम्पादक ग्रौर नियामक श्री लद्दमीचन्द जैन, एम० ए०

प्रकाशक श्रयोध्याप्रसाद गोयलीय मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ दुर्गाकुएड रोड, बनारस

> प्रथम संस्करण १६५७ ई० मूल्य पाँच रूपये

> > मुद्रक बलदेवदास संसार प्रेस, बनारस

प्रस्थित महत्त्वपूर्ण रच पवं श्रिविकारी विद्वार साथ इस अन्थका नि 'संस्कृतका भाषा-शास्त्रीय ग्रध्ययन' डॉ॰ भोलाशंकर व्यास द्वारा प्रगीत महत्त्वपूर्ण रचना है । डॉ॰ व्यास संस्कृत तथा हिन्दीके मर्मज्ञ एवं ऋधिकारी विद्वान् हैं। उन्होंने पर्याप्त गवेषणा तथा विवेचनके साथ इस बन्थका निर्माण किया है । हिन्दी भाषा-विज्ञानके अध्ययनके लिए संस्कृतके भाषा-विज्ञानका परिचय ग्रानिवार्य है। ग्रातः भारतीय भाषा-तत्त्वके अनुशीलनके लिए ऐसे एक अन्थकी अत्यन्त आवश्यकता थो । प्रस्तुत प्रन्थमें भारोपीय भाषा-विज्ञानका तुलनात्मक ग्रध्ययन है। इसलिए यह उपर्युक्त त्रावश्यकताकी ऋच्छी तरहसे पूर्ति करता है। डॉ॰ व्यासने पहले भी ऋपनी विद्वत्तापूर्ण रचनाऋाँसे हिन्दी-साहित्यकी श्रीवृद्धि की है; प्रस्तुत ग्रन्थ उसकी समृद्धिको बढ़ानेवाला है। इस सफल रचना पर मैं उनका हार्दिक साधुवाद करता हूँ।

काशी विश्वविद्यालय ११-१२-५६ MARKAMARAM

राजबली पाग्डेय प्राचार्य, भारती महाविद्यालय RARRARARARARA

मेरे मित्र डॉ॰ मोलाशंकर व्यासने थोड़े ही समयमें हिन्दी साहित्यको कई बहुमूल्य पुस्तकें दी हैं। 'संस्कृतका भाषाशास्त्रीय अध्ययन' निस्संदेह उनकी महत्त्वपूर्ण देन है। इसमें आधुनिक भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे संस्कृत भाषाका अध्ययन प्रस्तुत किया है। इससे पुरानी-पद्धतिसे संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेवाले विद्वानोंको नये दंगसे सोचने की प्रेरणा मिलेगी। मैं हृद्यसे उनके इस प्रयासके लिए वधाई देता हूँ।

काशी विश्वविद्यालय २३-१२-५६ हजारीप्रसाद हिवेदी हैं ग्राध्यच, हिन्दो विभाग हैं स्थानस्थानस्थानस्थानस्थान

### पाक्कथन

विश्वके भाषा परिवारोंमें भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार वृहत्तम परिवार है, जिसकी भाषाएँ यूरोपसे लेकर भारत तक व्यवहृत होती हैं। संस्कृत इसी परिवारकी मुख्य भाषा है। इस दृष्टिसे संस्कृतका ग्रीक, लैटिन, भाचीन चर्च स्लाबोनिक जैसी प्राचीन भाषात्रोंसे घनिष्ठ संबन्ध है। पार-सियोंकी धर्मपुस्तक अवेस्ताकी भाषा तथा वैदिक संस्कृतकी प्रकृति तो प्रस्पर इतनी निकट हैं कि उन्हें एक ही भाषाकी दो विभाषाएँ घोषित किया जा सकता है। यूरोपीय जगत्को संस्कृत भाषाका परिचय मिलनेपर १६ वी शतीमें यूरोपमें भाषाविज्ञानके चेत्रमें जो उन्नति हुई, उसने श्रीक, लैटिन, श्रवेस्ता तथा संस्कृतकी प्रकृतियोंका तुलनात्मक श्रध्ययन कर इस विषयका श्रन्वेषरा किया कि इन भाषाश्रोंके बोलनेवालोंके पूर्वज श्रारम्भमें एक सी ही भाषाका व्यवहार करते होंगे। इसीके ब्राधारपर ब्रादिम भारत-यूरोपीय जैसी कल्पित भाषाकी अवतारणा की गई। श्रीक, लैटिन तथा संस्कृतमें निःसन्देह इतनी अधिक ध्वन्यात्मक ग्रौर पदरचनात्मक समानताएँ पाई जाती हैं कि उपर्युक्त निर्णयपर पहुँचना स्वामाविक है। भारत-यूरोपीय भाषाशास्त्रकी दिशामें श्लेगेल, रास्क, ग्रिम, फ्रींज बॉप, श्लेखर, ब्रुगमान, मेये, वाकेरनागेल, ज्यूल ब्लॉख-जैसे यूरोपीय विद्वानोंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस दिशामें अधिकतर कार्य फ्रेंच तथा जर्मन भाषाओं के माध्यमसे हुआ है, तथा ख्रांग्ल भाषामें भी इस विषयमें कुछ पुस्तकें दृष्टिगोचर होती हैं। अब तककी समस्त भाषाशास्त्रीय गवेषणात्रींको ध्यानमें रखकर लिखी गई दो पुरुकों ग्रंगरेज़ीमें पाई जाती हैं, जो खास तौरपर संस्कृत भाषापर लिखी गई हैं; एक डॉ० घोषकी पुस्तक; दूसरी प्रोफेसर बरोकी पुस्तक। प्रोफेसर बरोकी पुस्तक अभी दो-तीन वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हुई है। इस

दृष्टिसे हिन्दीमें ऐसी पुस्तककी कमी खटक रही थी, जो भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत भाषापर लिखी गई हो । डॉ॰ भोलाशंकर व्यासकी पुस्तक "संस्कृतका भाषाशास्त्रीय अध्ययन" ने इस कमोको पूरा कर दिया है । इस पुस्तकमें व्यासने अवतककी समस्त भाषाशास्त्रीय गवेषणाओं और मान्य कृतियोंका उपयोग करते हुए संस्कृतकी भाषाशास्त्रीय स्वरेखा प्रस्तुत की है । साथ ही संस्कृत भाषाका प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के रूपमें किस प्रकार विकास हुआ है, इसे भी अनितम परिच्छेदमें निवद्धकर संचेपमें भारतीय आर्य भाषाओं विकासकी गतिविधि प्रदर्शित कर दी है । आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं विकासकी गतिविधि प्रदर्शित कर दी है । आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं विवायर्थि लिए संस्कृतकी भाषाशास्त्रीय प्रकृति तथा उसकी भावी गति-विधिका सम्यक्षान आवश्यक हो जाता है; अतः यह पुस्तक भारतीय भाषाशास्त्रके अध्यत्रोक लिए बड़ी उपयोगी होगी । साथ ही इसके द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दीके महान् अभावकी पूर्ति भी हो रही है । पुस्तक गवेषणा तथा विद्वत्तापूर्ण है और डॉ॰ भोलाशंकर व्यासका यह प्रयास सर्वथा सराहनाके योग्य है ।

काश्वी विश्वविद्यालय ७, जनवरी १६५७ रमाशङ्कर त्रिपाठी प्रिन्सिपल, सेण्ट्रल हिन्दू कालेज तथा डीन, फैकल्टी ग्राफ ग्राट्रस

# निवेदन

पिछले डेढ् सौ वर्षोंमें यूरोपीय भाषाशास्त्रियोंने भारत-यूरोपीय भाषात्रींके विषयमें कई उद्भावनाएँ की हैं। इन खोजोंने संस्कृत भाषाके महत्त्वको श्रौर वढ़ा दिया है। भारतीय ऋार्य भाषाऋाँके भाषाशास्त्रीय ऋध्ययनके लिए तो संस्कृतका दुहरा महत्त्व है, एक ऋोर यह इन भाषाऋोंकी जन्मदात्री है, वूसरी ग्रोर सैद्धान्तिक भाषाशास्त्रतकके ग्रावश्यक ज्ञानके लिए इसका परिचय अपेक्तित है। इधर कई दिनोंसे हिन्दीमें इस प्रकारके अन्थकी आव-श्यकताका त्रानुभव किया जा रहा था, जो भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृतका परिचय दे सके, जिससे हिन्दी आदि ग्राधुनिक ग्रार्य भाषाग्रोंके ग्रध्येता लाभ उठा सकें । इस विषयपर ग्रिधिकांश ग्रन्थ फ्रेंच तथा जर्मनमें लिखे हुए हैं, तथा त्रांग्ल भाषामें भी गिनी-चुनी ही पुस्तकें उपलब्ध हैं। वैसे डा॰ बटकुष्ण घोषकी ग्रॅंमेज़ी पुस्तक एक दृष्टिसे संस्कृतका भाषाशास्त्रीय परिचय प्रस्तुत करती है, किन्तु ऋँग्रेज़ी भाषा न जाननेवाले उसका लाभ नहीं उठा सकते । यही सोचकर आजसे लगभग छः वर्ष पूर्व मैंने इस पुस्तककी रूपरेखा तैयार कर ली थी । उस समय मैं लन्दन विश्वविद्यालयके स्कूल स्राव् स्रोरियएटल स्टडीजके भाषाविज्ञान-विभागमें काम कर रहा था। मूलरूपमें पुस्तक वहीं लिखी गई थी, यद्यपि बादमें इसमें थोड़ा-बहुत हेर-फेर कर देना पड़ा I उस समय तक प्रो० टी० बरोकी ''संस्कृत लेंग्वेज''का प्रकाशन न हुआ था, किन्तु जिसरूपमें यह पुस्तक छप रही है, उसमें मैंने पो॰ बरोकी पुस्तकसे समुचित लाभ उठाया है। विशेषतः क्रियाओंके परि-च्छेदमें मैंने उनकी पुस्तकका उपयोग किया है। इसके श्रतिरिक्त मैं मेये, <sup>ज्यूल ब्</sup>लॉख, वाकेरनागेल तथा डा॰ घोषका भी ऋग्<mark>री हूँ, जिनसे मुक</mark>्ते सदा पथप्रदर्शन मिलता रहा है। यदि इस पुस्तकसे भारतीय आर्थ भाषात्रोंके श्रध्येताका कुछ भी लाभ हो सका, तो मैं अपना श्रम सार्थक समसूँगा।

गच्छतः स्खलनं कापि भवत्येव प्रमादतः। इसन्ति दुर्जनास्तत्र समाद्धति सजनाः॥

काशी १४, जनवरी १६५७

—भोलाशंकर व्यास

# विषय-सूची

<b>त्रा</b> मुख		3
संस्कृत् भाषाः—उत्पत्ति	• • •	80
संस्कृत तथा ग्रवेस्ता		६६
संस्कृत ध्वनियाँ तथा स्वर		28
संस्कृत पद्रचना		१३६
[संज्ञा, विशोषण एवं सर्वनाम ]		
संस्कृत पद्रचना		380
[ क्रिया तथा क्रियाविशेषगा ]		,
संस्कृत वाक्यरचना		२४६
संस्कृतका परवर्ती विकास		२६ ३
परिशिष्ट [ क ]	* * *	३१३
परिशिष्ट [ ख ]		३२०

# आमुख

#### [羽]

भाषाशास्त्रके ऋष्ययनका विषय जैसा कि स्पष्ट है, भाषा है। भाषासे हमारा तात्पर्य मानवकी उस प्रक्रियासे है, जिसके ऋन्तर्गत वह ऋपने कितप्य ध्विनयन्त्रोंका प्रयोग कर 'उनसे कई प्रकारकी ध्विनयोंका उच्चारण कर उनके द्वारा ऋपने भावों तथा विचारोंका प्रकाशन करता है। इस प्रकार भाषा भाव-विनिमयका ध्वन्यात्मक साधन है। भाषाशास्त्र मानव-भाषाके समस्त क्ष्मों; चाहे वे ऋसभ्य जातियोंके द्वारा व्यवहृत होते हों, या सभ्य जातियोंके द्वारा; का ऋध्ययन करता है। वह एक ऋोर प्राक्-ऐतिहासिक कालकी भाषाका ऋध्ययन करता है; दूसरी द्योर प्राचीन संस्कृत [Classical] भाषाऋों, देशी प्राकृत क्ष्मों, तथा ऋगजकी प्रचलित भाषाऋों एवं विभाषाऋोंका ऋध्ययन करता है। भाषाका यह ऋध्ययन वह भाषाको भावव्यंजनाका साधन मानकर करता है।

भाषाशास्त्र [Linguistics] का ग्रध्ययन करनेकी प्रायः तीन प्रणालियाँ पाई जाती हैं:—१. वर्णनात्मक या विवरणात्मक प्रणाली [Descriptive method], २. ऐतिहासिक प्रणाली [Historical method], ३. तुजनात्मक प्रणाली [Comparative method]। इन
तीनों प्रणालियोंमें भी हम पहली दो प्रणालियोंको विशेष महस्वपूर्ण मानेंगे।
तृतीय प्रणालीमें दो या दोसे ग्रधिक भाषाश्रोको लेकर उनके भाषाशास्त्रीय

<sup>9.</sup> Marcel Cohen. Le Langage (Structure Et Evolution) P. I.

Rerdinand de Saussure. Cours de Linguistique Generale. chapitre II Page 20.

तस्वोंकी तुलना की जाती है, जो विवरणात्मक दृष्टिको भी लेकर हो सकती है, दूसरी ग्रोर ऐतिहासिक दृष्टिको लेकर भी। वैसे जब हम किसी भाषाका ऐतिहासिक ग्रध्ययन करते हैं, तो वहाँ हम विवरणात्मक प्रणालीकी सर्वथा श्र्यवहेलना नहीं करते; जब कि कोरी विवरणात्मक प्रणालीमें भाषाके ऐतिहासिक विकास पर नजर नहीं डाली जाती। तुलनात्मक प्रणालीमें किसी भाषाके विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक दोनों ढंगके ग्रध्ययनको प्रस्तुत करते हुए उससे संबद्ध ग्रन्य भाषाग्रोंसे तुलना करते हुए उसका वैज्ञानिक ग्रध्ययन उपन्थित किया जाता है। प्राचीन संस्कृत [Classical] भाषांग्रों [यथा संस्कृत, ग्रीक, लैतिन] के ग्रध्ययनमें हमें इसी तरहकी तुलनात्मक प्रणालीका प्रयोग करना होता है, जिसमें तुलनाके साथ ही साथ विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धिका समन्वय होता है। प्रस्तुत पुस्तकमें हमने इसी पद्धितपर संस्कृतका भाषाशास्त्रीय ग्रध्ययन प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया है।

इस भागमें वर्णनात्मक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक प्रणालीकी विशेष्वतात्र्योंका परिचय देते हुए, हम भारतयूरोपीय परिवारकी भाषात्र्योंका संचित्र परिचय तथा उनमें संस्कृतके महत्त्वका संकेत करेंगे।

#### १-विवरणात्मक पद्धति

किसी भी भाषाकी एक कालकी स्थितिको लेकर उसके यथास्थित स्वरूपका ग्रध्ययनकर उसके ग्राधारपर कुछ निश्चित नियम बना देना विवरणात्मक हंगका ग्रध्ययन है। एक भाषाको लेकर उसकी ध्वनियों, पदरचना तथा वाक्यरचनाका ग्रध्ययन करते समय इस पद्धतिका प्रयोक्ता उसके पूर्ववर्ती रूपोंको ग्रोर ध्यान नहीं देता, साथ ही न वह उससे संबद्ध संघटना [Structure] वाली ग्रन्य भाषा या भाषाग्रींसे उसकी तुलना ही करता है, जैसा कि ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक पद्धतिमें पाया जाता है। यही कारण है कि सोस्यूरने इस प्रकारके भाषाशास्त्रीय ग्रध्ययनको भाषाशास्त्रका स्थित्यात्मक रूप [Static linguistics] कहा है। इसी पद्धतिको एकप्रणालिक भाषाशास्त्रीय पद्धति [Monosystemic or Synch-

ronic] भी कहा जाता है, क्योंकि इस ढंगके विश्लेषण्में भाषाके निश्चित देश, तथा निश्चित कालवाले रूपका ही अध्ययन किया जाता है। दूसरे ढंगके अध्ययनको द सोस्यूरने विकासशील भाषाशास्त्र [Evolutional Linguistics] माना है। इस गत्यात्मक अध्ययन-पद्धितको बहु-प्रणालिक अध्ययन [Polysystemic or dichronic] भी कहा जाता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत किसी भाषाके अनेक कालोंमें गितशील रूपोंका विश्लेषण् किया जाता है। आंग्ल भाषाशास्त्री इन्हींको क्रमशः विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धित कहते हैं।

विवरणात्मक पद्धतिका हंग भी दो तरहका होता है, एक वह जब कि ं किसी भाषाका विवरणात्मक व्याकरण अन्य भाषामें लिखना है, तथा दूसरा वह जब कि उसी भाषामें उसी भाषाका शास्त्रीय विवरण प्रस्तुत करना होता है। विवरणात्मक पद्धतिका एक हंगका संकेत हमें हिन्दी आदि पर अंगरेज़ी-में लिखी गई पुस्तकोंमें मिल सकता है। उदाहरराके लिए, केलॉगकी 'हिन्दीग्रामर' इसी ढंगकी विवरणात्मक शैलीमें लिखी गई है। दूसरे प्रकारके विवरणात्मक अध्ययनका सक्से ज्वलन्त उदाहरण पाणिनिका व्याकरण लिया जा सकता है। विवरणात्मक ग्रथ्ययनके निर्णयोंको प्रस्तुत करनेके लिए त्राध्येताको एक विशेष प्रकारकी वैज्ञानिक भाषाका प्रयोग करना पड़ता है। वह उसी भाषाका प्रयोग श्रपने सिद्धान्तोंके लिए नहीं कर पाता। फलतः वह एक सूत्रात्मक भाषाका निर्माण करता है। इसी भाषाको भाषावैज्ञानिक "एकमानीय ऋष्ययन" [Metalaguage study] के निर्णयोंको सामने रखनेके लिए ग्रपनाते हैं। पारिभाषिक भाषाका प्रयोग करते हुए वे भाषा-की विवरणात्मक विशेषतात्र्योंको सूच्मातिसूच्म सूत्रों [Formulac] के रूपमें रखते हैं, तथा उनके बारा एक ही भाषाके ध्वन्यात्मक परिवर्तनों, पदरचनात्मक विशेषतात्र्योंको उपन्यस्त करते हैं।

विवरणात्मक पद्धतिका प्रयोक्ता कभी-कभी वैभाषिक रूपोंका भी इसी तरह श्रध्ययन करता है। वह स्त्रियों, बच्चों श्रादिकी विभाषा तथा श्रलग त्रालग फिरकोंके द्वारा बोली जानेवाली "स्ट्रेंग" का भी ग्राध्ययन करता है। विवरणात्मक पद्धतिके ग्रध्ययनका एक संकेत हमें ग्रोत्तो येस्पर्सनके ग्रध्ययन-मैं दिखाई पड़ता है। श्रपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंमें, विशोषतः ''हेंन्विज'', "फिलोसोफी श्राव् प्रामर" तथा "मेनकाइन्ड, नेशन एएड इरिडावडुग्राल" मैं उसने विवरणात्मक ग्रथ्ययनके सिद्धान्तोंको रखते हुए इस ग्रध्ययनकी निश्चित दिशा दी है। किन्तु ग्राज विवरणात्मक पद्धतिसे ग्रध्ययन करनेकी कई दिशाएँ देखी जन्ती हैं। ग्रमेरिकाके भाषाशास्त्रियोंका विवरणात्मक त्राध्ययन कुछ यान्त्रिक प्रकारका देखा जाता है। इसका त्राभास हमें ब्लूम<mark>-</mark> फील्ड की "भाषा" [Language] शीर्षक पुस्तकसे मिल सकता है। ग्रेमे-रिकन भाषाशास्त्री भाषाशास्त्रको एक स्वतन्त्र विज्ञान मानकर चलते हैं, तथा अपने अध्ययनमें मनोविज्ञान आदिसे कोई सहायता लेना ठीक नहीं समभते । जिस प्रकार मनोविज्ञानकी एक शाखा, व्यवहारवादी मनोविज्ञान [Behaviouristic psychology], में यान्त्रिकता पाई जाती है, वैसी हीं यान्त्रिकता इस पद्धतिमें भी पाई जाती है। इसी विशेषताके न्नाधारपर यह प्रगाली यान्त्रिक [ Machinistic ] कहलाती है । ग्रमेरिकन प्रणालीमें प्रमुख दोष यह है कि ये भाषाको प्रमुखतः उच्चरित रूपको दृष्टिसे ही देखते हैं; साथ ही इनमेंसे कई भाषाशास्त्री तो उच्चारण मात्रको ही ऋध्ययनका विषय बनाते देखे जाते हैं। उच्चारण तथा त्रर्थ; शब्द एवं त्रर्थके त्राभिन्न संवन्धको न मानकर ये त्रर्थकी त्रात्मा-को गौण समऋते जान पड़ते हैं, तथा शब्दके कलेवरपर ज़्यादा ज़ोर देखे जाते हैं। साथ ही शब्दका विश्लोषण करते समय वे ध्वनियोंके श्रोतृगत संस्कारपर ध्यान देते नहीं दिखाई देते। वस्तुतः भाषाका श्रध्ययन वक्ता तथा श्रोता दोनोंकी दृष्टिसे करनेकी ज़रूरत है, तथा इस दृष्टिसे शब्दों तथा उनके ऋथोंका श्रोतृगत संस्कार एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

जिस प्रकार दर्शनकी विधिवादी [Positivistic] पद्धति श्रात्मा तथा शारीरको श्रामिन्न मानकर विषयी तथा विषयके तादात्म्यकी श्रोर बढ़ती है,

तथा उसी दृष्टिसे भौतिक पदार्थोंका विश्लेषण करती है, ठीक उसी तरह सोस्यूर भी भाषाशास्त्रके चेत्रमें कुछ विधिवादी ढंग ऋपनाता है। वैसे यान्त्रिक तथा भौतिकवादी पद्धतिके भाषाशास्त्री उसकी पद्धतिको 'श्रादर्श-वादी" [Idealistic] पद्धति मानते हैं। सोस्यूरके मतानुसार भाषाशास्त्रको वैयक्तिक भाषा [Parole] का ऋष्ययन ऋपना प्रमुख लच्य न बनाकर, समस्त एकभाषाभाषी समाजकी वैयक्तिक भाषात्र्यों के त्र्यंतस्में ऋनुस्यूत भाषा [La langue] का त्राध्ययन करना होगा । वैयक्तिक भाषाका मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक दोनों ढंगका रूप है, किंतु सामाजिक भाषाका केवल "मनो-वैज्ञानिक" रूप होता है। यही कारण है, भाषाका विश्लेषण करते समय द सोस्यूरने भाषाके प्रमुख ग्राधार प्रतीक [La sign] तथा प्रतीत्य [La signifie'] माने हैं, तथा उनका श्रोतृगत रूप वासना या संस्कारनिष्ठ माना है। ध्वनियोंको सुननेसे श्रोताके मानसपर श्रान्ताश्चित्र प्रतिविवित हो जाता है, जिसे सोस्यूरने "इमाज ग्राकृस्तीक" कहा है। जन श्रोता पुनः वहीं ध्विन या ध्विनसमूह सुनता है, तो वह ग्रन्तिश्चित्र उसे ग्रर्थ प्रत्यायनमें सहायता वितरित करता है। चूँकि सोस्यूर भी एक तथाकथित "ग्रादर्श" भाषाका-एकभाषाभाषी समाजके श्रानेक व्यक्तियोंकी भाषाके श्राद्शीरूपका त्र्रथ्ययन करता है, स्रतः उसे भो स्त्रपद्धतिवाली पारिभाषिक भाषाका प्रयोग करना ग्रभीष्ट है।

#### २-ऐतिहासिक पद्धति

ऐतिहासिक पद्धित किसी भी भाषाके गत्यात्मक रूपोंका अध्ययन करती है। इसके अन्तर्गत एक ही भाषाके पुरातन रूपोंसे आज तकके रूपोंकी अवहमान गतिका अध्ययन किया जाता है। उदाहर एके लिए आजकी हिन्दी [खड़ी बोली]का अध्ययन करता है, तथा अपभंश कालसे आजतक; बिल्क और अधिक विस्तृत चेत्र चुना जाय, तो संस्कृत कालसे आजकी हिन्दी तक ऐतिहासिक क्रमके आधारपर किस तरहका

ध्वन्यात्मक, पदरचनागत या वाक्यरचनागत परिवर्तन होता रहा है, इसका वैज्ञानिक लेखा-जोखा देनेकी चेष्टा की जाती है, तो यह ऐतिहासिक प्रणाली-का त्राश्रय होगा। लेकिन त्रागर कोई त्रध्येता हिंदी [खड़ी बोली] के यथास्थित रूपको लेकर ही उसकी ध्वनियोंका, या पदरचनाका लेखा-जोखा देना चाहे, तो वह विवरणात्मक पद्धति होगी। ऐतिहासिक प्रणालीके अध्ययनमें संबद्ध भाषाका विवरणात्मक ग्रध्ययन स्वतः समाविष्ट हो जाता है।

#### ३-तुलनात्मक पद्धति

तुलनात्मक पद्धतिके त्र्यन्तर्गत उपर्युक्त दोनों पद्धतियोंका समाहार करते हुए ऐतिहासिक दृष्टिसे या पद्रचनात्मक दृष्टिसे परस्पर संयद्ध दो या श्रियक मापार्थ्योंका तुलनात्मक श्रध्ययन किया जाता है। यही नहीं, विभिन्न प्रकृतिकी मापार्थ्योंका मी तुलनात्मक श्रध्ययन किया जा सकता है। वैसे तुलनात्मक पद्धतिका प्रयोग श्रियकतर एक ही भाषासे निकली हुई भाषाश्रोंकी ध्वनियों, पद्रचना, शब्द-कोष तथा वाक्यरचनाकी समानताश्रों तथा श्रसमानताश्रोंके श्रध्ययनके लिए किया जाता है, जैसे बजभाषा तथा खड़ी वोलीका तुलनात्मक श्रध्ययन किया जाय, या मैथिली श्रीर वंगालीका। इसी तरह संस्कृत, श्रीक श्रीर लैतिनका भी तुलनात्मक श्रध्ययन उदाहरणके रूपमें लिया जा सकता है।

तुलनात्मक पद्धतिके ग्रध्ययनने ही वस्तुतः भाषाशास्त्र को १६ वीं शती में जन्म दिया है। ग्रीक, लैतिन तथा संस्कृतकी ग्रत्यधिक समानताग्रोंने ही भारत-यूरोपीय परिवारके तुलनात्मक व्याकरण [Comparative philology] को जन्म दिया था। इस प्रकारकी तुलनात्मक पद्धतिमें कुछ भी दोष रहे हों, किन्तुं इसका महत्त्व निषिद्ध नहीं किया जा सकता। ग्राजके भाषा-वैज्ञानिकोंके मतानुसार जब हम ग्रानेक भाषान्त्रोंकी तुलना करते समय उनकी समानताग्रोंके ग्राधार पर उनके परस्पर संबद्ध होनेकी बात कहते हैं, तथा उनके परस्पर सम्बन्ध पर ज़ोर देते हैं, तो हम एक

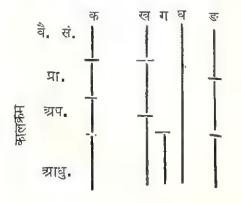
वैज्ञानिक आन्तिको जन्म देते हैं । इन नन्य भाषाशास्त्रियोंके मतानुसार संग्रंध [Relation] भाषात्रोंमें न होकर भाषाश्रोंकी संघटना [System] में पाया जाता है । इसलिए "संग्रंध भाषाश्रोंका नहीं, उनकी संघटनाका है" [Relationship is not of languages, but of systems] यह कहना ज्यादा ठीक होगा । साथ ही, किन्हीं दो भाषाश्रोंमें परस्पर सम्बन्ध है या नहीं, इसकी श्रपेचा श्रधिक संग्रंध है, श्रथवा कम संग्रंध है, इस बातको मानना श्रधिक संगत है । उदाहरणके लिए खड़ी बोली [हिंदी] तथा राजस्थानीकी संघटनामें परस्पर इतना घनिष्ठ संग्रंध है, कि हम यह कह बैठते हैं दोनों एक दूसरेसे घनिष्ठ संग्रंध रखती हैं । इसी तरह राजस्थानी तथा गुजरातीकी संघटना परस्पर श्रधिक संग्रंध है, जब कि राजस्थानी तथा गुजरातीकी संघटना परस्पर श्रधिक संग्रंध है, जब कि राजस्थानी तथा पंजाबोकी संघटना कम संग्रंह है, तथा राजस्थानी श्रोर बंगालीकी संघटना एक दूसरेसे बहुत कम संग्रंह है । श्रतः भाषाविज्ञानमें तुलनात्मक पद्धतिका श्रध्ययन करते समय, इस बातको कभी नहीं भूलना होगा कि संग्रंध मुख्यतः भाषाश्रोंकी संघटनाका होता है ।

तुलनात्मक ग्रध्ययन दो या ग्राधिक भाषात्रोंको लेकर किया जा सकता है। इस तरह का ग्रध्ययन कोरा विवरणात्मक भी हो सकता है। हिंदी तथा ग्रॅग-रेजीकी संघटनाके यथास्थित रूपको लेकर तुलनात्मक दृष्टिसे लिखे गये व्याकरण में इस तरहकी पद्धित पाई जा सकती है। किन्तु तुलनात्मक ग्रध्ययन में प्रायः ऐतिहासिक दृष्टिसे परस्पर संबद्ध भाषात्रोंका तुलनात्मक ग्रध्ययन किया जाता है। यह एक ही भाषाके परवर्ती रूपोंके साथ तुलनात्मक दृष्टिसे किया गया हो, या अनेकोंके साथ। संस्कृत, प्राकृत तथा ग्रपभ्रंशका तुलनात्मक ग्रध्ययन एक दंगका होगा, संस्कृत, प्राकृत तथा त्र्यपभ्रंशका तुलनात्मक ग्रध्ययन एक दंगका होगा, संस्कृत, प्राकृत तथा लेतिनका दूसरे दंग का। ऐतिहासिक क्रमको ध्यानमें रखते हुए एक साथ कई भाषात्रोंकी विकसित दशाका भी तुलनात्मक ग्रध्ययन किया जाता है। जहाँ तक भाषात्रोंके ग्राजके रूपका प्रश्न है, उनका कथ्य [Spoken] रूप ही ग्रपनाना ठीक होगा। पुरातन रूपोंके लिए प्राचीन साहित्यकी शरण लेनी पड़ती

है, यद्यपि पुरातन कथ्य रूपका पृरा पता उससे नहीं चलता ग्रौर कभी कभी तो भ्रान्ति भी होनेकी संभावना होती है। हम एक उदाहरण ले हें, प्राकृत व्याकरण, प्राकृत साहित्य तथा ग्रापमंश साहित्यके ग्रानुसार संस्कृत न परवर्ती काल में ए [ मूर्धन्य या प्रतिवेधित ] हो गया था। स्राज जिन भाषात्रों में -सिन्धां, पंजाबी, गुजराती व राजस्थानी में 'सा' ध्वीन पाई जाती है, वहाँ यह ध्वनि प्रायः स्वरमध्यगतरूपमें पाई जाती है, तथा राजस्थानी कथ्य रूपकी साची पर मैं यह भी कह सकता हूँ कि जहाँ कहीं यह ध्विन पदान्त [ Final ] पाई जाती है, वहाँ भी इसके बाद 'म्र' (Ə) श्रुति उच्चरित होती है। इन भाषात्रोंमं, जहाँ तक मुभे ज्ञात है, रा ध्वनि पदादि [ initial ] रूपमें नहीं पाई जाती । प्रश्न होना संभव है, कि पदादि रा ध्वनि प्राकृत तथा श्रपभ्रंशमें कथ्य [ Spoken ] रूपमें पाई जाती थी, या नहीं ? लिखित रूपमें चाहे वह पटादि ध्वनि सा ही रही हो, पर क्या उसका उचाररा मूर्धन्य था ? जहाँ ग्राज रा ध्वनि पाई जाती है वहाँ पटादिमें यह म्विन नहीं पाई जाती, जब कि पटादिमें वर्स्य न पाया जाता है, जब कि प्राकृत और अपभंशमें ए मिलता है। प्राकृतका एक देशज शब्द है **एवरं [ सं. केवलं** ]; इसका विकसित रूप राजस्थानीकी मेवाड़ी विभाषामं नवरो [ वेकाम, ग्रालसो, ठाला ] है, जहाँ प्रथम ध्वनि मूर्धन्य न होकर वर्ल्य है। ऐसे अनेक उदाहरण दिवे जा सकते हैं। मेरा ऐसा त्रानुमान है कि प्राकृत-त्रपभ्रंशमें संस्कृतका स्वर मध्यगत [Intervocalic] न तो ए हो गया था, किंतु पदादि न का उच्चाररण वर्स्य ही था। लिपि तथा प्राकृत व्याकरणके नियमों में समानता लानेके लिए इसे भी ए ही लिखा जाने लगा हो, तथा इस प्रकार पदादि संस्कृत न भी ए के रूपमें विकसित माना जाने लगा हो । कुछ भी हो, हम केवल श्रनुमान भर कर सकते हैं, प्राचीन उच्चारणोंके बारेमें कुछ निश्चित मत देना, कमी-कमी खतरेसे खाली नहीं।

तो, ग्रानेक भाषात्रोंके क्रमिक विकासका तुलनात्मक ग्राध्ययन करते

समय हम कई तरहकी भाषाएँ पा सकते हैं । कई भाषाएँ ग्रारंभसे ग्रज्जल त्र्यविच्छित्र रूपमें मिलती हैं, कई बीच तक त्राती हैं पर बादमें रुक जाती हैं या लुत हो जाती है, कई भाषात्रींका विकास सर्वथा नवीन है, तथा कई प्राचीन हैं किन्तु उनका साहित्य बहुत बादसे उपलब्ध होता है। तुल-नात्मक ग्राध्ययनमें हमें इन सत्रका समुचित प्रयोग करना पड़ता है । इसे हम एक रेखाचित्रसे स्पष्ट कर हैं। हमें क, ख, ग, घ, ङ, इन पाँच भाषा-त्रोंका तुलनात्मक त्राध्ययन करना है, इन्हें हम क्रमशः हिंदी, राजस्थानी, गुजराती, भोजपुरी ग्रौर वंगला समभ लें। इसमें प्रथमका श्राखण्ड प्रवाह संस्कृतसे शौरसेनी, ग्रपभंश होता हुग्रा ग्राज तक माना जाता है; किन्तु मध्यकालीन साहित्य पर क, ख, ग तीनों भाषात्र्योंका समान ऋधिकार है, साथ ही ग का साहित्य, जहाँ तक उसकी भाषागत निजी विशेषताका प्रश्न है, १६ वीं शती से उपलब्ध है। मापा घ तथा ङ की परम्परा सर्वथा भिन्न है। एक मागधीसे प्रभावित कोसलीकी परवर्ती प्रकृति है, दूसरी मागधीकी प्रतिनिधि । साथ ही घ साहित्यशून्य-सी है, इसके लिखित पुरातन साहित्यका ग्राभाव ही है, जर्जाक ङ का प्राकृतकालीन साहित्य न होने पर भी ग्रापग्रंश कालसे साहित्य उपलब्ध है ग्रौर १४ वीं शतीसे निरंतर साहित्यिक धारा बहती रही है।



ईसासे पूर्वकी स्थिति
ईसवी २०० से ६०० तक
ईसवी ६०० से ११०० तक
ईसवी ११०० से १६०० तक
ईसवी १६०० के बाद
२० वी शती

यहाँ हमने क, ख, त्यादि भाषा वाली रेखाको वीचमें — रेखासे काटा है, जो लिखित साहित्य किस कालका उपलब्ध होता है, इसका संकेत करती है। घ भाषाका लिखित साहित्य नहीं मिलता, इसलिए वह रेखा कहीं नहीं कटी है।

तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें दो तरहकी सरिएयाँ श्रपनाई जाती हैं। प्रथम सरिंग प्राचीन [ संस्कृत ] भाषाद्योंसे नीचेकी द्योर द्याती है। उदा-हरणार्थ, हिंदीका श्रध्ययन करनेके लिए संस्कृतसे हिंदीकी श्रोर बहुना। द्सरी पद्धति यह है कि पहले हिंदीका विवरणात्मक दृष्टिसे वैज्ञानिक ग्राध्ययन कर हैं, तद्नन्तर उसके ऐतिहासिक विकासके लिए संस्कृत, प्राकृत तथा अपभंशके विकासका अध्ययन कर हिंदीकी प्रकृतिको तदनुरूप विवेचनाका विषय वनावें । त्र्याजके भाषावैज्ञानिक इस द्वितीय पद्धतिका उपयोग ही विशोप वैज्ञानिक मानते हैं। यह बात निश्चित है कि इस तरहकी प्रणालीका त्राश्रय हम ग्राज बोली जाने वाली भाषात्रोंके ग्रध्ययनके लिए ही ले सकते हैं । संस्कृत, प्राकृत तथा अपभंशके लिए तो हमें पहली पद्धतिका ही आश्रय लेना होगा। साथ ही दूसरी पद्धति जीवित भाषाके व्यवहृत तथा कथ्य रूपको प्रधानता देगी, प्रथम पद्धतिका एकमात्र द्याधार लिखित साहित्य होता है। लिखित साहित्यके श्राधार पर की गई भाषाशास्त्रीय गवेषसाको इसीलिए नव्यतम भाषाशास्त्री, 'लिंग्विस्टिक्स' कहना टीक नहीं समक्तते। साथ ही वे 'लिग्विस्टिक्स' तथा 'फाइलोलोजी'को परस्पर पर्यायवाची भी नहीं मानते । लिखित साहित्यके त्राधारपर भाषात्रींके तुलनात्मक व्याकरण त्र्यथवा तुलनात्मक पदरचनाशास्त्रको वे 'काइलोलोजी' कहते हैं । उचरित भाषाके स्राधार पर की गई गवेषसाको ''लिंग्विस्टिक्स''। प्रस्तुत पस्तिकामें अव तक अधिकतर विद्वानोंके द्वारा आहत इस मतको ही माना गया है कि 'फाइलोलोज़ी' तथा 'लिंग्विस्टिवस' की पर्यायवाची माननेमें कोई गलती नहीं। भाषा-शास्त्रियोंके बहुमतकी ऐसी ही धारणा है। संस्कृतका अध्ययन यहाँ पर प्रथम पद्धतिका आश्रय लेकर उपस्थित किया गया है।

भाषाशास्त्रके तीन ग्रंग हैं—(१) ध्वनिविज्ञान, (२) पदिवज्ञान, तथा (३) ग्रंथिविज्ञान । किसी भी भाषाका ग्रध्ययन इन तीन ग्रंगोंके ग्राधारपर किया जाता है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार ग्रंथिवज्ञानकी दिशा स्वतन्त्र विज्ञानके रूपमें मानी जानी चाहिए। यही कारण है कि किसी भाषाके विश्लेषणमें ग्रंधिकतर भाषाशास्त्री ध्वनि तथा पदरचनाका ही विचार करते हैं, ग्रंथिवज्ञानको छोड़ देते हैं। वाक्यरचना वैसे पदरचनाका ही ग्रंग है, किन्तु कुछ विद्वान इसे ग्रंलग तन्त्व मानते हैं।

#### १-ध्वनिविज्ञान

ध्वनिविज्ञानके ग्रन्तर्गत तीन भाग माने जाते हैं:--(१) ध्वनि-यन्त्रोंका ग्राध्ययन, (२) ध्वनियोंका ग्राध्ययन (३) ध्वनियोंके परिवर्तन संबंधी नियमोंका ऋध्ययन । ध्वनियन्त्रोंका ऋध्ययन सामान्य भाषाशास्त्र [General linguistics] के अन्तर्गत होता है। ध्वनियोंके उच्चा-रणमें मुखके कौन कौन भाग व्यवहृत होते हैं, तथा उनकी किस किस दशामें कीन कीन ध्वनि उच्चरित होती है, इसका ऋध्ययन होता है। इसीके साथ ध्वनियों के उच्चारएके समय किये गये बाह्य तथा आस्यन्तर प्रयत्नीं तथा ध्वनियोंके स्थान तथा करणका विवेचन होता है। नाद, श्वास, घोष, श्रघोष, महाप्राण तथा अल्पप्राण आदि व्वनियोंका परस्पर भेद व्वनियोंके उद्भावक यन्त्रोंकी तत्तत् स्थितिके कारण ही होता है। दूसरे भागके स्मन्तर्गत किसी निश्चित भाषाकी ध्वनियोंकी विवेचना की जाती है। किसी भाषाके त्रांतर्गत कितनी ध्वनियाँ पाई जाती हैं ? उनमें स्वर तथा व्य<del>ञ्जन तथा अन्य</del> श्रवान्तर भेदोंका विश्लेषणकर उनके स्थान तथा करणको विवेचना की जाती है। जीवित भाषात्रों में ध्वनियोंकी सूचमातिसूचम प्रकृतिको उपन्यस्त करनेके लिए कृत्रिमतालु, कोयमोग्राफ श्रादि यान्त्रिक साधनोंका उपयोग किया जाता है । इसी ऋंगके ऋन्तर्गत व्यस्त ध्वनियों तथा उनके संयुक्त रूपोंका भी श्रध्ययन किया जाता है, तथा श्रमेक (दो या श्रधिक) ध्व<mark>नियाँ समस्त रूपमें</mark>

एक दूसरी ध्वनिको कैसे विकृत कर देती हैं, इसका ऋध्ययनकर तत्तत् भाषाके संबंधमें नियमोंकी ऋवतारसा की जाती है।

ध्वनिविज्ञानका तीसरा ग्रंग ऐतिहासिक दृष्टिसे किसी भाषाकी ध्वनियोंका ग्रध्ययन तथा उसके ग्रनुकूल नियम निवद्ध करना है। इसीके ग्रन्तर्गत हम ध्वनियोंके ग्रनेक प्रकारके परिवर्तनको मोमांसा करते हैं। वर्णागम, वर्णलोप, वर्णविकार, वर्णविपर्यय, समीकरण, विश्वमीकरण जैसे रूपोंका ग्रध्ययन किया जाता है। संस्कृतसे प्राकृतमें, या संस्कृतसे हिंदीमें कीन कीन ध्वनियोंका किस किस प्रकारका परिवर्तन हुग्रा, यह देखकर उसके ग्राधार पर निश्चित ध्वनिनियमोंकी ग्रयवारणा की जा सकती है। वैसे भाषाशास्त्रके ध्वनिनियम ग्रन्य वैज्ञानिक नियमोंकी भाँ ति नितान्त ग्रपवादरहित नहीं होते, यह वात ध्यान देनेकी है।

#### २-पद्रचना

पद्रचनाके य्रान्तर्गत किसी भी भाषाकी पद्संघटनाका ग्राध्ययन किया जाता है। इस विभागके व्यन्तर्गत भाषाके व्याकरणका ग्राध्ययन होता है, पर इतना होनेपर भी परंपरागत व्याकरण, किसी भी भाषामें कौन कौन रूप पाये जाते हैं, य्यमुक शब्दके एकवचन, द्विवचन या बहुवचनके रूप कैसे होते हैं, तथा ग्रमुक धातुके ग्रमुक लकारके रूप कैसे होते हैं, यहीं तक सीमित रहता है। भाषाशास्त्रका पद्विज्ञान प्रमुख महत्त्व इस ग्रोर देता है कि ग्रमुक भाषामें इस तरहके रूप क्यों निष्यन्त होते हैं। यही कारण है, कई ऐसी बातें जिन्हें वैयाकरण ग्राधिक उपादेय समभता है, उसके लिए उपेचित होती हैं, तथा कई ऐसी वातें जिन्हें वैयाकरण उपेचित समभता है, उसके लिए महत्त्वपूर्ण होती हैं। यही पद्धतिमेद व्याकरण तथा पद्रचनाशास्त्रके ग्रध्ययन वनको भिन्न बना देता है। इस पुस्तिकामें संस्कृत माषाका ग्रध्ययन इसी हिंध है। ग्रतः यहाँ संस्कृतकी पद्रचनापर माषाशास्त्रीय ढंगसे ही संकेत विमलेगा। संस्कृत व्याकरणकी दृष्टिसे न लिखी जानेके कारण इस पुस्तिकामें

शब्दों या धातु ग्रों के रूपों की पूरी उद्धरणी न मिलेगी, वह कहीं व्याकरण ग्रन्थसे देखी जा सकती है। संस्कृत पदरचनामें संस्कृत के सुप्, तिङ्, कृदन्त, तथा तिद्धत प्रत्यय, उनके ग्रानेक रूप कहाँ से ग्राये हैं, किस प्रकार इनके समान या समानान्तर रूप ग्रीक, लैतिन तथा ग्रावेस्तामें पाये जाते हैं, इसीका विशद विवेचन पुस्तिकाके ग्रागामी पृष्टों में मिलेगा। ग्रातः संस्कृत व्याकरणकी पद्धतिपर ग्रंथकी रचना ग्रायेन्तित न थी।

प्रस्तुत ग्रन्थमें प्रा॰ मा॰ यू॰ के कल्पित रूपकी विशेषताश्चीका संकेत करते हुए, उस त्यादि स्रोतकी प्रकृति उपन्यस्त की गई है, जो संस्कृत तथा अन्य भारत यूरोपीय भाषाओंकी एकसूत्रता है। तदनन्तर भाषाशास्त्रीय दृष्टिके त्राधार पर ही त्रवेस्ता तथा ऋग्वेदकी भाषात्रोंकी तुलना की गई है। अभी हाल हीमें डॉ. सी. कुन्हन राजाने अवस्ता तथा ऋग्वेदकी तुलना करते हुए उनकी संस्कृतिको समान माननेकी प्रचिलत भ्रान्तिका उल्लेख किया है, तथा ऐसी भ्रान्तिको श्रहितकर बताया है। पर जहाँ तक इन दोनोंके शुद्ध भाषाशास्त्रीय तुलनात्मक ग्रध्ययनका प्रश्न है, वे इसका विरोध नहीं करते । इस पुस्तकमें अवेस्ता तथा अपनेदकी तुंलना भाषाको दृश्यिबन्दु बनाकर ही की गई है, संस्कृतिको नहीं, तथा संस्कृतकी समानता वाली वातें, जिन्हें डॉ. कुन्हन राजा ने भ्रान्त कहा है, यहाँ न आने पाई हैं। वैदिक संस्कृत तथा अवेस्ताकी सम्यता निःसंदेह भिन्न थी, किन्तु उनकी भाषा एक दूसरेके वड़ी नजदीक है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इसी संबंध में डॉ. राजाने ऋग्वेदकी तिथिके प्रश्नको फिरसे उठाया है। ऋग्वेदकी तिथिके विषयमें ग्रानेक मत होनेके कारण निश्चित मत ग्रामी तक स्थिर न हो सका है। यही कारण है, मैंने यहाँ तुलनात्मक भाषाशास्त्रियोंके द्वारा त्राहत मतको ही लिया है। यह मत मेरा त्रापना तो है नहीं, त्रीर न इस मतका संतोषपूर्ण खरडन ही हो सकता है।

संस्कृतकी भागीरथीके त्र्यादिस्रोतसे लेकर त्र्याज तक बहते हुए त्र्यसएड प्रवाहकी रूपरेखा प्रस्तुत करना ही यहाँ लच्य रहा है। उसका विशाल श्रथ्ययन तो कठिन, दुरूह तथा वर्षोंका कार्य है। संस्कृतकी ध्वनि संबंधी तथा पदरचना संबंधी खास खास विशोपताश्रोंका परिचय तथा उनके परवर्ती विकासका परिचय देनेका कारण भारतीय ग्रार्य भाषाश्रोंकी श्रखण्ड परम्परा का संकेत करना है।

ध्वनिविज्ञान तथा पदरचना [पद्विचार] के स्रतिरिक्त कुछ लोग वाक्य-विचारको स्रलगसे विषय भानते हैं, किन्तु स्रधिकतर विद्वान् इसका समावेश पदरचनाके स्रन्तर्गत ही करते हैं तथा इसे पद्विज्ञान [ Morphology ] का ही एक स्रंग समभते हैं। पा. भा. यू. की कल्पित वाक्यरचनाको वैज्ञा-निक मानना भ्रान्ति होगा, फिर भी कुछ समानताएँ ग्रीक, लैतिन तथा संस्कृत वाक्य रचनास्त्रोंमें, उनके कारक प्रयोगोंमें, उपसर्गों, परसमे-पदी या स्रात्मनेपदी प्रयोगोंमें दूँढो जा सकती है, जो वड़ी मनोरंजक हैं। संस्कृतका वाक्यविचार करते समय बड़े संचेपमें कारक तथा पदोंका-विचार तथा इन कथित समानतास्त्रोंका संकेत स्रावश्यक हो जाता है।

### ३-अर्थविज्ञान

भाषाविज्ञानका तीसरा ग्रंग ग्रथंविज्ञान है। ग्रथंविज्ञानके ग्रथ्ययनको कुछ भाषाशास्त्री ग्रलग ग्रथ्ययनका चेत्र मानते हैं, तथा भाषाशास्त्रीय ग्रथ्ययनमें उसे सम्मिलित नहीं करते। जहाँ तक सैद्धान्तिक भाषाशास्त्रका प्रश्न है, ग्रथंविज्ञानका ग्रथ्ययन उन्हें ग्रभीष्ट है, किंतु किसी भाषाके विवरणात्मक, ऐतिहासिक या तुलनात्मक ग्रथ्ययनमें ग्रथं-विचार प्रायः छोड़ दिया जाता है। इसके दो कारण हैं भाषाकी बाह्य संघटना प्रमुखतः ध्वनितथा पदरचनासे ही संबद्ध है, [ यद्यपि ग्रथं भाषाका ग्रात्मतत्त्व है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता ], दूसरे भाषाके ग्रथं विचारमें भाषाशास्त्रीको ग्रपने चेत्रको छोड़कर मनोविज्ञान, इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य ग्रादि ग्रनेक चेत्रोंका ग्राक्षय लेना पड़ता है, तथा ग्र्यंविचार प्रमुखतः समाजविज्ञानका [ तथा मनोविज्ञान ] का रूप ले लेता है। तुलनात्मक भाषाशास्त्रकी ग्रथ्ययन ग्रणालीके कारण इस पुस्तिकामें भी ग्रथंतत्त्वका विचार नहीं है।

श्रर्थविज्ञानके साधारणतः दो श्रंग माने जा सकते हैं:— १. सैद्धान्तिक श्रर्थविज्ञान २. व्यावहारिक श्रर्थविज्ञान । सैद्धान्तिक श्रर्थविज्ञानके श्रन्तर्गत सर्वप्रथम प्रश्न शब्द तथा श्रर्थके संबंध पर उपस्थित होता है, दोनोंमें कोई साद्धात् संबंध है भी या नहीं । कई विद्वान् शब्द तथा श्रर्थमें कोई साद्धात् संबंध नहीं मानते । दूसरे विद्वान् इस संबंधको नित्य मानते हैं । श्रर्थप्र-तींतिका कारण मनोवैज्ञानिक है या सामाजिक, यह प्रश्न भी उपस्थित होता है, तथा भाषाशास्त्री श्रिधकतर इसके सामाजिक एवं प्राकरिणक [Conte-tixual] महत्त्व पर हीं ज़ोर देते हैं । इसके श्रनन्तर श्रर्थविज्ञानका दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय श्रर्थ-प्रकार तथा शब्द-शक्तियोंसे संबद्ध है, तथा इसी संबंधमें श्रर्थ जातिनिष्ठ होता है या व्यक्तिनिष्ठ इसपर भी दो विरोधी मत देखे जाते हैं।

भाषाशास्त्रके दोत्रमें ग्रर्थविज्ञानको प्रतिष्ठापित करनेका श्रेय फेंच भाषा-शास्त्री व्रे ग्राल [Breal] को है। व्रे ग्रालने ग्रर्थविचारके ग्रन्तर्गत भाषाके परवर्ती विकासमें होनेवाले ग्रर्थ-परिवर्तनोंके प्रकारों तथा उनके मनोवैज्ञानिक कारणोंको उपन्यस्त किया है। उसने ग्रपने प्रसिद्ध प्रन्थ "ग्रर्थविज्ञानपर निवन्ध" [Essai sur la Semantique] में लैतिन भाषाके शब्दोंको लेकर ग्राधुनिक रोमान्स भाषाग्रों, फ्रेंच, इतालियन, स्पेनिश ग्रादिनें होनेवाले ग्राधिक परिवर्तनोंका ग्रध्ययन किया। इसके

<sup>✓</sup> १. शब्द तथा अर्थंके संबंधका यह विचार भाषाशास्त्रमें इतना अधिक नहीं पाया जाता, जितना दर्शन, न्याय तथा मनोविज्ञानके प्रन्थोंमें। भारतमें इसका विचार दर्शन, ज्याकरण तथा साहित्यशास्त्रमें हुआ है। इस विषयका विशेष विवेचन लेखकने अपने पी—एच. डी. के लिए स्वीकृत प्रबंध "शब्दशक्ति विवेचन" में किया है, जो नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हुआ है। इसमें पाश्चात्योंके एतत्संबंधी विचारोंका भी विवेचन किया गया है।

त्राधारपर उसने ग्रर्थपरिवर्तनके प्रकारोंका उल्लेख करते हुए, ग्रर्थ-विस्तार, ग्रर्थसंकोच, ग्रर्थविपर्यय, ग्रर्थादेश, ग्रर्थापदेश ग्रादिका संकेत किया है।

#### ध-शब्द-भाण्डार

कुछ विद्वानोंके मतानुसार भाषाशास्त्रका एक ग्रीर ग्रंग है, शब्द-भारडार । पर ग्राधिकतर भाषाशास्त्री तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें इसको भी विशेष महत्त्व नहीं देते । वैसे शब्द-भारडारका वैज्ञानिक ग्राध्ययन किसी भाषाकी ग्रापनी संघटना जाननेमें बड़ा काम देता है । यही नहीं, किस भाषामें कितने विजातीय तत्त्व हैं, इसका संकेत भी प्रमुखतः शब्द-भारडारसे ही लगता है । संस्कृतमें ही कई मुरडा तथा द्राविड शब्द पाये जाते हैं । विद्वानोंने इसका ग्राध्ययनकर उन शब्दोंकी तालिका भी उपन्यस्त की है । संस्कृतके ग्राध्ययनमें ग्रांतिम परिच्छेदमें इन शब्दोंका परिचय दिया गया है । प्रत्येक भाषामें कई कारखोंसे, जिनमें प्रमुख कारखा ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक होते हैं, नये शब्द स्थान पाते जाते हैं । जब वे ग्राम बोल-चालकी भाषाके ग्रंग बन जाते हें, तो भाषावैज्ञानिकके ग्राध्ययनके विषय बन जाते हैं । यहाँ यह संकेत कर देना ग्रानावश्यक न होगा कि किसी भाषाके कोश-भारडारका ग्राध्ययन भाषाशास्त्री उस करमें नहीं करता, जिस रूपमें कोषकार [Lexicographer] उसका ग्राध्ययन करता है ।

# [ 刻 ]

# भारतयूरोपीय परिवारकी भाषात्र्योंका संचिप्त विवरण

समस्त विश्वकी भाषात्रोंको कई परिवारों में विभक्त किया जाता है। एक परिवारकी सभी भाषाएँ एक दूसरेसे इतिहास तथा पदरचना दोनों दृष्टियोंसे घनिष्ठतम सम्बन्ध रखती है। विश्वकी इन भाषात्रों में त्रपनी त्रपनी विशेषताएँ पाई जाती हैं। उदाहरणके लिए चीनी भाषा एकात्त्रर भाषा है, तथा उसमें सभी शब्द ग्रर्थतत्त्वके ही बोधक हैं, सम्बन्धतत्त्वके बोधनके लिए वहाँ शब्दका

वाक्यगत स्थान ही साधन बनता है। चीनी ही नहीं, स्रन्य कई भाषाएँ तिब्बती, स्यामी, बर्मी त्रादि भी इसी परिवारकी भाषाएँ है। इन भाषाश्री-को परिवारकी दृष्टिसे एकाक्तर परिवारकी, तथा पदरचनाकी दृष्टिसे अयो-गात्मक या व्यासप्रधान भाषाएँ [Isolating languages] कहा जाता है। द्सरे ढंगकी भाषाएँ द्राविड़ परिवारकी हैं, जो भारतके दिच्या भागमें बोली जाती हैं, ये भाषाएँ पदरचनाकी दृष्टिसे प्रत्ययप्रधान या ऋश्लिष्ट भाषाएँ [Agglutinating languages] होती हैं। इन भाषाश्रोमें अर्थतत्त्व या शब्द तथा प्रत्यय (संबन्धतस्व) मिलाकर किसी भावकी प्रतिपत्ति कराते हैं। इस प्रकार इन भाषात्रों में पद = शब्द + प्रत्यय। किन्तु शब्द [त्र्रर्थ-तत्त्वो तथा प्रत्यय [सम्बन्धतत्त्व] पद्में स्पष्टतः भिन्न भिन्न परिलाचित होते हैं। तीसरी कोटिकी भाषाएँ प्रश्लिष्ट कोटिकी होती हैं। इन भाषात्रोंमें शब्द एक दूसरेसे इतने शिलष्ट हो जाते हैं कि कभी पूरा वाक्य ही समासान्त पद हो जाता है। इन भाषात्रोंमें समासान्तपद [या वाक्य]=शब्द+शब्द+ शब्द + ....। इन भाषात्र्योंको इसी विशेषताके कारण समासप्रधान भाषाएँ भी कहा जाता है। अमेरिकाके आदि निवासियों रिडइ एडियन्स की भाषाएँ इसी कोटिकी हैं।

इनके अतिरिक्त सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ग विभक्तिप्रधान [Inflexional] भाषात्रोंका है। इन भाषात्रोंमें अर्थतत्त्वके साथ विभक्ति रूप सम्बन्धतत्त्वको जोड़कर 'पद'को निष्पत्ति की जाती है। यह विभक्ति किन्हीं किन्हीं भाषात्रोंमें आम्यन्तर होती है, किन्हींमें बाह्य। जिनमें यह आम्यन्तर होती हैं, वे अन्तर्विभक्तिप्रधान भाषाएँ होती हैं, जैसे सेमेटिक-हेमेटिक परिवारकी भाषाएँ। अरवीमें अन्तर्विभक्तिके कारण अर्थतत्त्वके अंदरके स्वरोंका परिवर्तन करनेसे अलग-अलग सम्बन्धतत्त्वोंका भावबोधन करा दिया जाता है। बहिर्विभक्ति प्रधान भाषात्रोंमें विभक्तियाँ अर्थतत्त्व (शब्द) के बादमें जुड़ती हैं, तब सुबन्त तथा तिङन्त पदोंकी निष्पत्ति होती है। विभक्तिप्रधान भाषात्रोंमें अर्थतत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व एक दूसरेके साथ इतने घुलमिल जाते हैं कि अलग

दिखाई नहीं देते, साथ ही विभक्तिके कारण अर्थतत्त्वमें भी (कभी कभी) विकार हो जाता है। भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाएँ इसी द्वितीयकोटिकी विभक्तिप्रधान भाषाएँ हैं।

अगले परिच्छेदमें हमने इसको स्पष्ट किया है कि भारतयूरोपीय परिवार-की कल्पना क्यों की गई है, तथा इस परिवारमें कौन-कौन सी समानताएँ पाई जाती हैं, जो इन्हें एक ही परिवारके ब्रन्तर्गत रखती हैं। यहाँ हम केवल इस परिवारके वर्गों तथा उन वर्गोंकी प्रमुख भाषात्रींका संकेत दे देना ठीक समभते हैं। भारतयूरोपीय परिवारको कई नाम दिये जाते हैं। पहले इसे भारत-जर्भनी नाम दिया गया था, कुछ लोगोंने इसे 'श्रार्य'-परिवार भी कहा था किन्तु ये नाम संकुचित हैं। ग्राजकल इसे भारत-यूरोपीय [Indo-European] परिवार ही कहा जाता है। हिंदीमें इसका संचित्त रूप भारो-पीय भी चलता है, पर मैं भारत-यूरोपीय शब्दका प्रयोग करना ही विशेष ठीक समभता हूँ। इस परिवारकी भाषाएँ विश्वमें सबसे ग्राधिक संख्याके द्वारा बोली जाती हैं, तथा भौगोलिक विस्तारकी दृष्टिसे इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। इसके साथ ही प्राचीनतम उपलब्ध साहित्यकी दृष्टिसे इस परिवारका श्रत्यधिक महत्त्व है। वैसे इससे भी पुरानी भाषाएँ थीं, जिनके पास साहित्य रहा होगा, पर वे या तो स्वयं जुप्त हो गई हैं, या उनका साहित्य छुप्त हो गया है। संस्कृतकी वैदिक निधि इसीलिए सबसे पुराना साहित्य है, जो इस परिवारकी भाषावैज्ञानिक महत्ताका ग्रान्यतम प्रतिष्ठापक है। इसके साथ ही ऋाज भी विश्वमें इस परिवारकी भाषास्रोंका स्रन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है, तथा वे सभ्य जातियोंकी भाषाएँ मानी जाती हैं। ऋंगरेज़ी, फ्रेंच, रूसी, स्पेनिश तथा हिंदी ग्राज ग्रन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। ग्रॅगरेजी तो जैसे ग्राज भी समस्त विश्वकी उप-भाषा सी बनी हुई है। मध्यएशियामें ठीक यही स्थान फ्रेंचने, दिच्णी श्रमेरिकामें स्पेनिशने तथा उत्तरी एशियामें रूसीने प्राप्त कर रक्खा है। इस दृष्टिसे हिन्दी पिछुड़ी कही जा सकती है। किन्तु हिन्दीकी सांस्कृतिक परम्परा उसके विस्तार तथा विकासमें निश्चय ही योग देगी, तथा वह दिन दूर नहीं, जब हिन्दी अन्त-र्राष्ट्रीय विश्वमें अपना समुचित स्थान प्राप्त कर सकेगी।

भारत-यूरोपीय परिवारकी भाषात्र्योंको निजी निजी विशेषतात्र्योंके त्र्याधारपर दस शाखात्रोंमें विभक्त किया गया है। इनमेंसे दो वर्गोंको छोड़कर वाकी ग्रन्य शाखात्रोंकी भाषाएँ त्राज भी बोली जाती हैं। इनमेंसे कई वर्गोंकी भाषाएँ पुनः उपशाखात्रोंमें विभक्त की जाती हैं। सर्वप्रथम इन समस्त भाषात्र्योंको दो वर्गोंमें बाँटा जाता है: - सतम् वर्ग तथा केन्तुम् वर्ग । भारतयूरोपीय परिवारमें कतिपय शाखात्रोंकी भाषाएँ ऐसी हैं, जिनमें उन स्थानपर 'क' पाया जाता है, जहाँ संस्कृतमें 'श' तथा स्रन्य कई योरोपीय भाषात्र्योंमें 'स' पाया जाता है। प्रा॰ भा॰ यू॰ तालव्य क्य, ग्य श्रादि ध्वनियाँ भारत-ईरानी शाखा, ऋल्वेनियन, बाल्तोस्लाविक ऋादिमें सोष्म स [श], ज़, ज़° का रूप ले लेती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रा० भा० यू० में दो तरहकी विभाषाएँ रही होंगी तथा इस विभाषाके बोलनेवाले न्त्रास-पास रहते थे, तथा इनके ही वंशजोंकी भाषाएँ भारत, ईरान, स्रार्मी-निया, रूस त्रादि स्थानोंपर बोली जाती हैं। किन्तु इस वर्गके दूरकी विभाषात्रों में इन ध्वनियोंका विकास नहीं हुत्रा त्रौर वहाँ वे कएठ्य रूपमें स्पर्श ही बनी रही हैं। उदाहरणके लिए लैतिनमें 'सौ' के लिए प्रयुक्त 'केन्तुम्' [Centum ] शब्दमें 'क' ध्वनि पाई जाती है, जबिक संस्कृत तथा अवेस्तामें यह क्रमशः सोष्म 'श' तथा 'स' हो गई है, तथा वहाँ इसका 'शतम्' तथा 'सतम्' रूप देखा जाता है। इन दोनों वर्गोंकी भाषाएँ निम्न हैं:—

- १. सतम् वर्ग-भारत-ईरानी शाखा, अल्बेनियन शाखा, आर्मेनियन शाखा, हित्ताइत, बाल्तोस्लाविक शाखा।
- २. केन्तुम् वर्ग ग्रीक शाखा, इतालिक शाखा, केल्तिक शाखा, कर्मनिक या ट्यूटोनिक शाखा, तोखारी।

हम इन्हींका संद्यिप्त विवरण यहाँ देंगे।

१. भारत-ईरानी शाखा—इन शाखामें दो उपशाखाएँ हैं—

भारतीय त्र्यार्थ शाखा, तथा ईरानी शाखा। वैसे एक तीसरी शाखाकी भी कल्पना की जाती है,—दरदशाखा।

भारतीय त्रार्य शाखाकी प्राचीनतम भाषा संस्कृत है, जिसके प्राचीन साहित्यके रूपमें वैदिक मन्त्र उपलब्ध हैं, जो इस परिवारकी प्राचीनतम साहित्यक निधि हैं। इस शाखाका साहित्य ईसासे लगभग डेट-दो हजार वर्ष पुराना प्राप्त होता है। भारतीय त्रार्यशाखाकी परवर्ती भाषाएँ प्राकृत तथा अपभ्रंशकी स्थितिसे गुजरती हुई त्राजकी भारतीय त्रार्य भाषात्रोंके रूपमें विकसित हुई हैं, जिनका विस्तृत उल्लेख इस पुस्तिकाके त्रांतिम परिच्छेदमें देखा जा सकता है।

ईरानी उपशाखाके अन्तर्गत प्राचीनतम भाषा अवेस्तामें उपलब्ध होती है। अवेस्तामें वैदिक मन्त्रोंकी तरह ही अनेक कालकी भाषा है, तथा इनमें प्राचीनतम भाषा ईसासे लगभग ८०० वर्ष पूर्वकी कही जा सकती है। प्राचीन ईरानीको दो भागोंमें विभक्त किया जाता है:—एक उसका प्राचीनतम रूप जो अवेस्तामें उपलब्ध होता है, दूसरा उसके पासका रूप जो अवेस्तामें उपलब्ध होता है, दूसरा उसके पासका रूप जो अकेमेनिद राजाओंके क्यूनिफोर्म शिलालेखोंमें प्राप्त होते हैं। इनमेंसे दारिउस प्रथमके शिलालेख ५२१ ई० पू० के माने जाते हैं। ईरानी शाखाकी परवर्ती भाषा पहलवी है। इसके भी सोग्दी, साका, पार्थियन आदि वैभाषिक भेद पाये जाते हैं। यह स्थिति ई० पू० तीसरी सदीसे ईसाकी दसवी सदी तक मानी जा सकती है। पहलवीकी अवेस्ताकी टीकाएँ तथा स्वतन्त्र साहित्यक कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। आजकी भाषाओंमें इस वर्गमें आधुनिक फारसी, कुर्दिश, ओसेतिक, पश्तो तथा बलूची मुख्य हैं। इनमें साहित्यक दृष्टिसे आधुनिक फारसीका प्रमुख स्थान है तथा उसका प्राचीनतम साहित्य ग्यारहवीं सदी तक जाता है, जिसमें फिरदौसीका शाहे-नामा प्रसिद्ध है।

२. ग्रल्बेनियन शाखा—ग्रल्बेनियन माषाका प्राचीनतम साहित्य ईसाकी चौदहवीं शताब्दीका मिलता है। यही कारण है कि ग्रल्बेनियन के प्राचीनकालिक तथा मध्यकालिक रूपोंका कुछ भी पता नहीं चलता।

- 3. ग्रामें नियन शाखा—ग्रामें नियन शाखाका साहित्य भी उतना पुराना नहीं मिलता, जितना ग्रन्य शाखात्रोंका। फिर भी ग्रल्बेनियन शाखाकी ग्रिपेक्ता इसका साहित्य ग्रिपिक पुराना मिलता है। ग्रल्बेनियन भाषाका साहित्य ईसाकी पाँचवीं सदीसे निरंतर उपलब्ध होता है। यही कारण है कि ग्रल्वेनियन भाषाकी ग्रेपेक्ता ग्रामें नियन भाषाकी मध्य-कालीन स्थितिके विषयमें हमलोग बहुत ग्रिपिक जान सकते हैं। इधर कुछ दिनोंसे भाषाशास्त्रियोंका ग्रल्वेनियन तथा ग्रामें नियन भाषात्रोंकी ग्रोर ध्यान ग्राकृष्ट हुग्रा है। वैसे इन भाषाग्रोंकी ग्रोर सबसे पहले के च विद्वान् मेये का ध्यान ग्राकृष्ट हुग्रा था, तथा उसने इन भाषान्रोंका वैज्ञानिक ग्राध्ययन किया था।
- थ. हित्ताइत—सतम् वर्गकी एक भाषा हित्ताइत है, जिसके ईंटोंके लेख तुर्कीके बोगाज़कुई स्थानपर प्राप्त हुए हैं। बोगाजकुई हित्ताइत साम्राज्यकी राजधानी थी, तथा यह साम्राज्य ईसासे १४ वीं शताब्दी पूर्वतक था। इस भाषाके विषयमें विद्वानोंकी यह मान्यता है कि यह आ० मा० यू० भाषाकी बेटी न होकर बहिन थी, तथा इसमें कई ऐसी विशेषताएँ पाई जाती हैं, जो यह सिद्ध करती हैं कि इन दोनोंकी माँ के रूपमें एक आदिम-भारत-हित्ताइत [भारत-हित्ती] भाषाकी कल्पना की जानी चाहिए। स्टेंबन्टने इस आदिम भारत-हित्ताइत भाषाके कल्पना रूपोंका अध्ययन किया है। हित्ताइत भाषाके आधारपर आ० भारत-हित्ताइत भाषामें चार करठनालिक ध्वनियोंकी विवेचना की गई है, जिसका संकेत हम अगले परिच्छेदमें देंगे।
- ४. बाल्तो-स्लाचिक बाल्तो स्लाविक या बाल्तो-स्लाविकि सतम् वर्गकी पाँचवी शाखा है। इसके अन्तर्गत भारत-ईरानी शाखाकी तरह ही युगल उपशाखाओंका अस्तित्व है। एक उपशाखा बाल्तिक है, दूसरी स्लावोनिक। बाल्तिक उपशाखाकी प्राचीनतम प्रकृतिका पता नहीं लगता, किन्तु मध्यकालमें इसकी तीन विशेषताएँ रही हैं:— प्राचीन लिश्च आनियन, प्राचीन लेतिश, तथा प्रशियन। प्राचीन प्रशियनमें

साहित्य उपलब्ध होता है; तथा यह भाषा १७ वीं शताब्दी तक प्रचलित थी, किन्तु बादमें सम्भवतः जर्मनके प्रभावसे इसका लोप हो गया। लिथुम्रानियन तथा लेतिश ग्राज भी बोली जाती है। भाषाशास्त्रोके लिए इनमें लिथुम्रानियन ग्रत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतयूरोपीय वर्गकी म्राजकी भाषात्रों में लिथुम्रानियनने प्राचीन प्रकृतिको ग्रत्यधिक सुरिच्तत रक्ता है। इस दृष्टिसे इसे 'त्रार्ल' प्रकृतिकी भाषा कहा जा सकता है। इसमें म्राज भी द्वियचनके चिह्न सुरिच्त रक्ते हैं, तथा विभक्तियोंका ग्रत्यधिक प्रयोग पाया जाता है। लिथुम्रानियनमें ग्राज भी छः विभक्तियाँ पाई जाती हैं। ध्वनियोंकी दृष्टिसे भी लिथुम्रानियनने ग्रा० भारतयूरोपीय ध्वनियोंको भी ग्रन्य भारतयूरोपीय भाषात्रोंकी ग्रपेचा ग्रधिक सुरिच्त रक्ता है, उदाहररणके लिए इम निम्न शब्दोंको ले लें:—

लिथुग्रा॰ एस्ति [Esti] , ग्रीक एस्ति [Esti], संस्कृत ग्रस्ति , एइमि [Eimi] , ,, एइमि [Eimi] ,, एमि , उग्निस् [Ugnis] , लैतिन इग्निस् [Ignis] ,, ग्रानिः

स्लावोनिक उपशाखाको पुनः तीन भागोंमें विभक्त किया जाता है:—
दिविणी स्लावोनिक; पश्चिमी स्लावोनिक तथा पूर्वी स्लावोनिक। स्लावोनिक उपशाखाकी भाषाएँ वल्गेरिया, जेकोस्लेवािकया, पोलैन्ड, यूगोस्लािवया, यूकेन तथा रूसमें वोलो जाती हैं। इन तीन भागोंमें से मध्यकालीन प्रकृति प्राचीन चर्च स्लावोनिक या "प्राचीन बल्गेरियन" का विशेष महत्त्व है। प्रा० च० स्ला० दिवाणी स्लावोनिकका मध्यकालीन रूप है। इसमें ईसाकी नवीं शतीसे लेकर १२ वीं शती तकका ग्रत्यधिक महत्त्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध होता है। वाल्तोस्लािवक शाखाकी मध्यकालीन प्रकृतिके उदाहरण उपन्यस्त करनेके लिए भाषाशास्त्री इसी साहित्यका ग्राश्रय लेते हैं। इस उपशाखाकी ग्राधुनिक भाषाएँ बल्गेरियन, सर्वोन्कोट, तथा स्लोवेन है। पश्चिमी उपशाखाकी मध्यकालीन भाषा 'पोलेवियन' थी; किन्तु इसका साहित्य उपलब्ध नहीं होता। इस शाखाकी ग्राधुनिक भाषाएँ—जोक,

स्लोवाक, पोलिश तथा सोवियन है। सोवियन पूर्वी जर्मनीमें लगभग दस लाख त्रादमियों के द्वारा बोली जाती है, तथा इस शाखाकी सबसे बड़ी भाषा है। पूर्वी स्लाबोनिककी मध्यकालीन प्रकृतिका पता नहीं चलता। इसकी त्राधुनिक भाषाएँ [बड़ी] रूसी, सफेद रूसी, यूक्रेनियन [या छोटी रूसी] हैं। रूसी रूस देशकी राष्ट्रिय भाषा है। सफेद रूसी पोलैंडके कुछ भागमें बोली जाती है, तथा छोटी रूसी यूक्रेनमें। सोवियटकी स्थापना होनेके बाद रूसकी त्रान्य सभी भाषाएँ जो त्राव तक गिरां पड़ी त्रावस्थामें थीं, साहित्यिक दृष्टिसे समृद्ध होती जा रही हैं।

द. ग्रीक शाखा—वैदिक संस्कृतके बाद इस परिवारकी मात्राश्चोंका प्राचीनतम साहित्य ग्रीकका उपलब्ध होता है। ईसासे लगभग द्रभ्० वर्ष पूर्वके होमर-साहित्यका होना इस भाषाके महत्त्वको बढ़ा देता है। साथ ही तबसे इसका साहित्य श्रानुएएए रूप में प्राप्त होता है। संस्कृत, लैतिन या श्रा० भा० यू० भाषाका विद्यार्थी ग्रीक भाषाकी श्रवहेलना नहीं कर सक्ता। जिस प्रकार भारत यूरोपीय परिवारके श्रध्येताके लिए संस्कृतका श्रध्ययन नितान्त श्रावश्यक है, ठीक उसी प्रकार प्राचीन ग्रीकका भी। ग्रीक शाखाको पूर्वी ग्रीक तथा पश्चिमी ग्रीक दो उपशाखाश्चोंमें विभक्त किया जाता है। पूर्वी ग्रीकमें कई विभाषाएँ रही हैं, पर प्रमुख एतिक या श्रायोनिक विभाषा है, जिसका साहित्य उपलब्ध होता है। होमरकी रचनाएँ श्रायोनिक ग्रीकमें ही हैं। इसी भाषाकी मध्यकालीन प्रकृति 'कोइन' या 'हेलेनिस्टिक' ग्रीकके नामसे प्रसिद्ध है, तथा इसीसे श्राधुनिक ग्रीकका विकास हुन्ना है।

पश्चिमी ग्रीकमें कई विभाषाएँ रही होंगी। इस उपशाखाकी प्रमुख विभाषा 'दोरिक' है। दोरिक से ही 'टसकोनियन बोलियों' का विकास हुग्रा है। ग्रीकका साहित्य अत्यधिक समृद्ध है तथा यूरोपमें लैतिनकी तरह ही ग्रीक भी सभ्य तथा विद्वान् समाजकी भाषा रही है। ग्रा० भा० यू० की स्वर संपत्तिको प्राचीन ग्रीकने अत्यधिक सुरिच्चत रक्खा है। ग्राग्ले परिच्छेदोंमें जब हम ग्रीकके उदाहरण देंगे तथा उसकी ध्वन्यात्मकता तथा पद-

रचनाका संकेत देंगे, तो हमारा तात्पर्य प्राचीन "क्लैसिकल" प्रीकसे ही है, ब्राधुनिक ग्रीक से नहीं।

- इतालिक यूरोपके पश्चिमी भागकी त्राधिनिक भाषात्रों में इतालिक शाखा तथा ट्यूटोनिक [ जर्मन ] शाखाकी भाषाग्रीका ही ग्राधिक विस्तार पाया जाता है। इतालिक शाखाकी प्रमुख भाषा लैतिन रही है, जो यूरोपमें ग्रीकके समान ही त्रादत रही है, त्रापितु मध्यकालमें तो ग्रीकसे भी ग्रिधिक सम्मानित रही है। प्रा० भा० यू० के ग्रध्येताके लिए लैतिनका महत्त्व भी संस्कृत व ग्रीकके समानही है। लैतिनने संस्कृत व ग्रीककी तरह प्रा० भा० यू ॰ पदरचना [Morphlogy] को सुराचित रक्खा है। इतालिक शाखाको दो उपशाखात्रोंमें विभक्त किया जाता है:— [१] लैतिन-फालिस्कन, [२] त्रोस्कन-उम्ब्रियन । इनमें द्वितीय उपशाखाके प्राचीन रूप शिलालेखोंमें मिलते हैं, किन्तु बादमें ये विभाषाएँ लुत हो गई हैं। प्रथम उपशाखामें दो विभाषाएँ थी, लैतिन तथा फालिस्कन। लैतिनका साहित्य ईसासे पहलेका प्राप्त होता है। लैतिनकी परवर्ती स्थित "वल्गर लैतिन" [ भ्रष्ट लैतिन ] के नामसे उसी तरह विख्यात है, जैसे पतञ्जलिने अपाणिनीय प्रयोगों को "ग्रपभंश" कहा था। वस्तुतः "वलार लैतिन" साहित्यिक "क्लै-सिकल" लैतिनकी पाकृत थी। इसी से फ्रेंच, स्पेनिश, पोर्चुगीज, प्रोवॉ-साल, इतालियन, तथा रूमानियन भाषात्र्योंका विकास हुन्र्या है।
- म. केल्तिक केल्तिक शाखामें कुछ ऐसी विशेषताएँ पाई जाती हैं जो लैतिन [ इतेलिक शाखा ] में भी उपलब्ध होती हैं। इसीलिए कुछ विद्वानोंने इतालिक व केल्तिकको एक ही शाखाकी दो उपशाखाएँ माना था। इतालिक तथा केल्तिक दोनोंमें ही दो तरहके भाषावर्ण पाये जाते हैं, एक वर्णमें पा॰ भा॰ यू॰ 'क' परिवर्तित नहीं होता तथा 'क' ही बना रहता है, तथा दूसरे में वह'प' के रूपमें परिवर्तित हो जाता है। इतालिक तथा केल्तिक शाखाओंकी दूसरी समानता यह है कि इन शाखाओंमें कर्मवाच्य रूपोंमें 'र' का प्रयोग प्रया

ज़ाता है। उदाहररणके लिए आयारिश 'बेरी' [Beri] का अर्थ 'ले जाना' [सं॰ भरित] है। इसके कर्मवान्य रूपमें बेरी-र् [Beri-r] [वह ले जाया जाता है], बेरी-र् [Berti-r] [वे ले जाये जाते हैं], रूप वनते हैं। इसी प्रकार लैतिन में भी कर्मवान्य रूपमें 'र्' पाया जाता है। वैसे 'र्' का प्रयोग तोखारिश, हिताइत तथा आर्मीनियनमें भी पाया जाता है।

केल्तिक शाखामें तीन उपशाखाएँ हैं—[१] गेलिक या गोइदेलिक [२] ब्रितेनिक, [३] गॉलिश । इनमें श्रांतिम शाखाकी भाषाके कुछ शिला- लेख प्राप्त होते हैं । इनमें कुछ स्थानों व व्यक्तियोंके नाम तथा लैतिनसे ग्रहीत शब्दोंका प्राचुर्य है । गॉलिश ईसाकी छठी शतीके लगभग छप्त हो गई थी । गेलिक उपशाखाकी ग्राधुनिक भाषाएँ त्रायिरश, स्कॉट, गेलिक, तथा मांख है । ब्रितेनिक उपशाखाकी ग्राधुनिक भाषाग्रोंमें वेल्श तथा ब्रेतन है । ब्रेतन फांसके ब्रितेनी प्रदेशमें बोलो जाती है । साहित्यिक दृष्टिसे इनमें ग्रायिरशका साहित्य ईसाकी गाँचवी शतीसे उपलब्ध होता है, तथा वेल्शका ईसाकी नवीं शतीसे । वाकी भाषाएँ साहित्यक दृष्टिसे समृद्ध नहीं हैं ।

ह. जर्मन या ट्यूटोनिक शाखा—जर्मन या ट्यूटोनिक शाखाकी भाषाएँ जर्मनी, स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, ब्राइसलैंड, हालैग्ड तथा इंगलैग्डमें बोली जाती हैं। जर्मन शाखाको तीन उपशाखाओं में विमक्त किया जाता है—[१] पूर्वी जर्मन, [२] उत्तरी जर्मन तथा [३] पश्चिमी जर्मन। पूर्वी जर्मन शाखाको कोई भी जीवित भाषा विद्यमान नहीं है। प्राचीन साहित्यिक दृष्टिसे इसके अंतर्गत गाँथिक भाषाके लिखित साहित्यका महत्त्व है, जो ईसाकी चौथी शताब्दीके बादसे प्राप्त होता है। भाषाशास्त्रीके लिए भारतयूरोपीय परिवारके तुलनात्मक अध्ययनमें जर्मनशाखाकी विशेषता जाननेके लिए गाँथिक ही प्रमाणस्वरूप है। अन्य उपशाखाओं इतना प्राचीन रूप उपलब्ध नहीं। उत्तरी जर्मनका प्राचीन रूप र्यूनिक शिलालेखों [Runic Inscription] में उपलब्ध होता है। उसका परवर्ती साहित्यिक रूप प्राचीन नोर्स था प्राचीन आइसलैंडिक भाषाके

रूपमें मिलता है। इस उपशाखाकी ग्राधिनक भाषाएँ स्वीडिश, डेनिश, नोर्वेजियन तथा ग्राइसलैंडिक है।

पश्चिमी जर्मन उपशाखाका साहित्य तथा प्रचारकी दृष्टिसे बड़ा महत्त्व है। इस परिवारकी जर्मन भाषा तथा श्रॅगरेजीने साहित्यिक समृद्धिके कारण श्रन्तर्राष्ट्रिय ख्याति प्राप्त कर ली है। पश्चिमी जर्मनको दो भागोंमें विभक्त किया जाता है; [१] हाई जर्मन, [२] लो जर्मन। हाई जर्मनके श्रंतर्गत प्राचीन हाई जर्मन तथा श्राधुनिक जर्मन, डच तथा फ्लैमिश [बेलजियमकी भाषा] श्राती है। दूसरी कोटिके श्रंतर्गत श्रांग्ल-फ्रीजियन भाषा-सुगल श्राता है, जिसमें साहित्यिक दृष्टिसे प्राचीन श्रॅगरेजी या एंग्लो-सैक्सन भाषा-भी महत्त्वपूर्ण है। श्रंगरेजी तथा फ्रीजियन इस उपवर्गकी श्राधुनिक भाषाएँ हैं।

जेकव ग्रिमने श्रपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'जर्मन भाषाके व्याकरण' [Duetsche Grammar] में हाई जर्मन तथा लो जर्मनके ध्वनिपरिवर्तनकी क्लैसिकल कालकी भाषा—ग्रीक तथा लैतिनसे तुलना करते हुए एक नियमको जन्म दिया था, जो भाषाविज्ञानमें "ग्रिमनियम" के नामसे विख्यात है। ग्रिमनियमका संबंध भारतीय श्रार्य भाषाश्रोंसे किंचिन्मात्र भी नहीं है, न संस्कृतने ही। इसका महत्त्व इस दृष्टिसे है कि प्रा० भा० यू० ध्वनियाँ गाँधिक तथा परवर्ती जर्मन भाषाश्रोंमें किस रूपमें परिवर्तित हुई हैं। वैसे ग्रिमके नियमका वर्नरवाला उपनियम एक दृष्टिसे थोड़ा बहुत संस्कृतके लिए उपन्योगी कहा जा सकता है, क्योंकि उसके कारण प्रा० भा० यू० स्वर [accent] का श्रमुमान लगाया जा सकता है।

१०. तोखारी—१६०४ में चीनी तुर्किस्तानमें कुछ इस्तलेख मिले थे, जो भारत-यूरोपीय परिवारकी किसी भाषामें थे। ये इस्तलेख ईसाकी छठी शतीके लगभगसे प्राप्त होते हैं। इस भाषाको 'तुषार' या 'तुखार' जातिके नामपर तोखारी, तोखारिक, तोखारेग, तोखारियन, तोखारिश कई नामोंसे पुकारा जाता है। यह भाषा यद्यपि भौगोलिक दृष्टिसे 'सतम्' वर्गकी भाषात्रोंके द्वारा घिरी है, तथापि केन्तुम् वर्गकी है। इसमें "सौ" के लिए "कान्त" [Kant] शब्द पाया जाता है। तोखारी भाषासे ऋन्य उदाहरण ये दिये जा सकते हैं :—

पातर	सं०	पितृ
मातर	सं०	मातृ
श्रोक	सं०	अष्ट

भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाकी मूल प्रकृति जाननेके लिए संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिनका ग्रत्यधिक महत्त्व है। इन तीनोंने प्रा॰ भारतयूरोपीय भाषाकी पदरचनात्मक विशेषतात्रोंको अधिकाधिक रूपमें सुरिवत स्क्ला है। ध्वनियोंकी दृष्टिसे संस्कृत प्रा॰ भा॰ यू॰ की प्रकृतिको स्राधिक सुरिच्चित रख सकी है, यद्यपि प्रा॰ मा॰ यू॰ स्वरघ्वनियाँ संस्कृतमें त्र्रत्यधिक संकुचित हो गई हैं। संस्कृतने पाँच प्रकारकी प्रा० भा० यू० स्पर्श ध्वनियोंको आज भी किसी न किसी रूपमें सुरचित रक्खा है, जब कि ग्रीक व लैतिनमें वे तीन प्रकारकी कवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग वाली ध्वनियों में ही समाहित हो गई हैं। इसी प्रकार संस्कृतने प्रा॰ भा॰ यू॰ अघोष महाप्राण तथा सघोष महाप्राण दोनों प्रारा ध्वनियोंको सुरचित रक्खा है। इसी प्रकार प्रीक तथा लैतिनमें शब्द रूपोंकी विभक्तियाँ भी कम हो गई हैं, जब कि संस्कृतने प्रा० भा० यू० की आठों विभक्तियोंको अन्तुएण बनाये रखा है। यही नहीं, वैदिक संस्कृतने प्रा॰ मा॰ यू॰ स्वर [Accent] को भी ऋधिकांश तक सुरित्त्त रक्ला है। इन सब कारणोंसे प्रा० मा० यू० के ऋध्येता ही नहीं, ऋषित मा० यू० परिवारको किसी भी शाखाके प्राचीनतम रूपके ग्रध्येताके लिए, चाहे वह ग्रीक हो, या लैतिन या गाँथिक या प्राचीन चर्च स्लॉविक या प्राचीन फारसी, संस्कृतकी त्रावश्यक प्रकृतिका ज्ञान नितान्त त्र्रपेचित है। भारतीय ब्रार्य भाषाके विद्यार्थीके लिए तो संस्कृत मूल उत्समूमि है, इस उद्गम स्रोतकी प्रकृतिको जाने बिना उसके लिए एक पैर भी आगे बढ़ना कठिन होगा। इतना ही नहीं, भाषाशास्त्रके सामान्य नियमोंके ज्ञानके लिए भी

संस्कृतका थोड़ा बहुत परिचय ग्रावश्यक हो जाता है। १८ वी शतीके ग्रंत-से लेकर ग्राज तक भापाशास्त्रके विकासका इतिहास संस्कृतके ग्रध्ययनसे त्रमुस्यूत रहा है, तथा भापाशास्त्रके इतिहासको समभ्रतेके लिए संस्कृतका ज्ञान ग्रावश्यक हो जाता है। जब हम भाषाशास्त्र तथा संस्कृत भापाके घनिष्ठ संबन्धकी बात करते हैं, तो हमारा ग्रर्थं यह है कि भाषाशास्त्रको जन्म देनेमें प्रमुख हाथ संस्कृतका ही रहा है। एकमात्र संस्कृतके परिचयने ही यूरोपमें भाषाविज्ञानको जन्म दिया यह कहना ग्रातिश्रयोक्ति न होगा, चाहे त्र्योत्तो येस्पर्धन इसे ग्रातिश्रयोक्ति माने। फिर भी येस्पर्धन संस्कृतके महत्त्वका तथा भाषाविज्ञानमें उसकी प्रवल प्रेरणाका निषेध नहीं करते।

तो माषाशास्त्रके जन्ममें निःसंदेह संस्कृतका प्रमुख हाथ रहा है। जब हम भाषाशास्त्रके जन्मकी बात करते हैं, तो हमारा तात्पर्य १६ वीं शातीके द्यारंभमें यूरोपमें विकसित तुलनात्मक व्याकरण [Comparative Grammar, Philology] की प्रणालीसे है। जैसा कि यूरोपमें संस्कृतके परिचयके सम्बन्धमें विख्यात है, यूरोपीय विद्वानोंने इसे पाकर, जैसे भाषा सम्बन्धी पुराने यूरोपीय विद्वानोंमें एक ब्रामूलचूल परिवर्तन कर दिया। पुराने यूरोपीय विद्वान् समस्त विश्वकी भाषात्रोंको [यूरोप तथा एशियाकी भाषात्रोंको ] हिब्र्से उत्पन्न मानते थे, तथा कुछ विद्वानोंने हिब्र्को ब्राधार मानकर यूरोपीय भाषात्रोंका ब्रध्ययन भी उपस्थित किया था, जिसमें वे ब्रास्पल ही हुए थे। जबसे यूरोपीय विद्वानोंको संस्कृतका पता लगा, तबसे वे इस भ्रान्त धारणाको छोड़कर भाषाशास्त्रकी वैज्ञानिक दिशाकी ब्रोर वहने लगे।

यूरोपीय जगत्को संस्कृतका परिचय देनेका श्रेय सर विलियम जॉन्सको है। वैसे सर जॉन्सके पूर्व भी कोदों [Coeurdoux] नामक फ्रेंच पादरी ने सन् १७६७ में फ्रेंच इन्स्टिट्यूटके पास भारतसे एक लेख मेजा था, जिसमें

<sup>3.</sup> Otto Jespersen. Language P. 33.

उसने संस्कृत तथा लैतिनकी समानतात्रोंकी स्रोर ध्यान स्राकृष्ट किया था। उसने संस्कृत स्रस् धातुके वर्तमानके रूपोंको उदाहृत करते हुए लैतिनके रूपोंसे इनकी तुलना की थी। किन्तु कोदोंको संस्कृतके परिचय देनेका श्रेय न मिल सका, उसका लेख भी लगभग चालीस वर्ष बाद प्रकाशित हुन्ना तथा उससे पहले ही अनेक विद्वानोंने इस समानताकी स्रोर यूरोपीय जगत्का ध्यान स्राकृष्ट करा दिया था। सर जाँन्सने सन् १७६६ में संस्कृतके विषयमें जो शब्द कहे थे, वे स्राज भी तुलनात्मक भाषाशास्त्रके उदयके बीक माने जाते हैं:—

"संस्कृत भाषाकी पदरचना ग्रत्यधिक ग्रद्भुत है चाहे उसका मूल उद्गम कुछ भी रहा हो। यह भाषा ग्रीक्से भी ग्राधिक पूर्ण, लैतिनसे ग्राधिक समृद्ध तथा दोनोंसे ग्राधिक परिष्कृत है, इतना होते हुए भी यह उन दोनोंसे कियाग्रोंके मूलरूपों [ धातुत्रों ] तथा व्याकरणके रूपोंकी दृष्टिसे ग्रितिष्ठतया सम्बद्ध है। यह ग्राकिस्मिक नहीं हो सकता। यह सम्बन्ध इतना दृढ़ है कि कोई भी भाषाशास्त्री उन तीनोंका ग्रध्ययन यह माने विना नहीं करेगा कि वे सब किसी एक ही स्रोतसे उत्पन्न हुई हैं, जो ग्रव नहीं पाया जाता। ऐसे ही कारणके ग्राधार पर—यद्यपि यह कारण इतना दृढ़ नहीं है—यह भी कहा जा सकता है कि गाँथिक तथा केल्तिक भी, संस्कृतकी समान-स्रोत हैं, तथा प्राचीन फारसीको भी इसी परिवारसे जोड़ा जा सकता है।"

१६ वी शतीके आरंभमें भारत-यूरोपीय तुलनात्मक व्याकरणको अप्रे सर करनेवाली सर्वप्रथम पुस्तक श्लेगेलकी 'उबेर दी स्प्राख उन्द वीशेन दर इन्देर" [ भारतकी भाषा तथा ज्ञान-संपत्ति पर ] १८०८ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तकके अंतर्गत श्लेगेलका प्रमुख ध्येय संस्कृत साहित्यक संपत्तिकी ओर संकेत करना था, किन्तु संस्कृत भाषा पर भी उसने अपने विचार प्रकट किये हैं। यह दूसरी बात है कि कई भाषाशास्त्रीय अनुमानोंमें वह आत दिशाका आश्रय लेता है, उदाहरणके लिए फारसी

तथा जर्मनको ग्रत्यधिक घनिष्ठ माननेकी उसकी धारणा भ्रांत है। संस्कृतको ही ग्राधार बनाकर श्लेगेलने समस्त विश्वकी भाषाग्रोंको दो भागोंमें विभक्त किया था, [१] संस्कृतसे सम्बद्ध भाषाएँ, तथा [२] ग्रन्य भाषाएँ।

श्लेगेलके बाद यद्यपि रास्क तथा ब्रिमने भारत यूरोपीय परिवारकी यूरोपीय भाषात्रोंका तुलनात्मक ग्रध्ययन किया; किन्तु संस्कृतकी परंपराका उत्थान करने वाला फाँज बाँप था। उसने १८१६ में ग्रपने महत्त्वपूर्ण निबन्ध "संस्कृत भाषाकी पदरचना तथा ग्रीक, लैतिन, फारसी ग्रौर जर्मन भाषाकी पदरचनाके साथ उसकी तुलना पर" [ उबेर देश कोंजुगाशान्स-सिस्तैम देर संस्कृत स्प्राख इन वग्लेंखुंग मित येनेम देर ग्रीसिस्खेन, लेतिनिस्खेन, पेरिशिस्खेन, उन्द जेर्मानिस्खेन स्प्राख ] को प्रकाशित कराया, जो ग्राज भी भारत-यूरोपीय पदरचनाशास्त्र [ Philology ] का दीपस्तम्भ माना जाता है।

संस्कृतकी दृष्टिसे वॉपकी परम्पराको वढ़ानेवाला श्लेख्र था। प्राचीन भारत यूरोपीय भाषाके काल्पनिक रूपकी अवतारणा करनेका श्रेय श्लेख्रको ही दिया जा सकता है। श्लेख्रने तो इस भाषामें "एक भेड़ और घोड़ेको कहानी" भी लिखी थी, जिससे एक वाक्य इस पुस्तकके सप्तम अध्यायमें उद्धृत किया गया है। काल्पनिक प्रा॰ भा॰ यू॰ के पुनर्निर्माण [ Reconstruction ]के अतिरिक्त श्लेख्रका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य पदरचनाकी दृष्टिसे भाषाओंका आकृतिमूलक वर्गीकरण है। श्लेखरने ही सर्वप्रथम तीन तरह की भाषाएँ मानी हैं:—

- १. व्यास प्रधान भाषाएँ [Isolating languages]
- २. प्रत्यय प्रधान भाषाएँ [Agglutinating languages] ३. विभक्तिप्रधान भाषाएँ [Inflexional languages]
- ३. विभक्तिप्रधान भाषाएँ [Inflexional languages] श्लेखरके परवर्ती कालमें, जिसे नव्य वेयाकरणों [न्यू ग्रे मेरियन्स] का काल कहा जाता है, भारतयूरोपीय तुलनात्मक व्याकरणाका अत्यधिक अध्ययन होने लगा। ब्रुगमान, मैक्समूलर, ह्विटनी, सोस्यूर आदि कई

विद्वानीने प्रा॰ भा॰ यू॰ के कई ऋपवादरूपोंको वैज्ञानिक सिद्ध किया। प्रा॰ भा॰ यू॰ के परवर्ती अध्येताओं में ए. मेये, वाकेरनागेल, ज्यूल व्लॉख तथा स्टर्टेवेंट प्रमुख हैं। मेरे ने ही सर्वप्रथम यह घोषणा की कि प्रा॰ भा॰ यू॰ कल्पित रूपोंको वस्तुतः किसी बोली जानेवाली प्राचीन भाषाका रूप मानना भ्रांत है, तथा वे केवल सूत्र रूप हैं, जो ग्रीक, लैतिन, संस्कृत त्र्यादि भाषात्र्योंके परस्पर सम्बन्धके संकेत या प्रतीक हैं। वाकेरनागेलने 'ग्राह्तिन्दिश्के ग्रामतीक' नामसे संस्कृत 'भाषाका तुलनात्मक व्याकरण उपस्थित किया, जिसे कोई भी संस्कृत भाषाका अध्येता अपनी गवेषणा करते समय नहीं छोड़ सकता। प्रस्तुत, पुस्तिकाके लिखनेमें वाकेरनागेलका यह महार्घ प्रनथ सदा पथप्रदर्शक रहा है। इसके त्र्रातिरिक्त ज्यूल व्लॉखकी "लाँदो आर्याँ" [ L' Indo Aryen ] भी संस्कृतके तुलनात्मक ग्राध्ययनमें नया कदम है। वाकेरनागेलका ग्रन्थ जहाँ संस्कृतका तुलनात्मक ग्रप्ययन उपस्थित करता है, वहाँ ब्लॉखका ग्रन्थ वैदिक संस्कृत तथा ग्रवेस्तासे लेकर ग्राधुनिक भारतीय त्रार्य भाषात्रों तक वड़ा सुंदर तथा महत्त्वपूर्ण परिचयात्मक अध्ययन है। इन तीनों प्रन्थोंको बीसवीं शतीके महत्त्वपूर्ण भाषाशास्त्रीय प्रन्थ कहना श्रनुचित न होगा। भारतीय श्रार्थ भाषात्रींके अध्ययनके लिए डॉ॰ चाटुर्ज्याका विश्व प्रसिद्ध प्रन्थ ''वंगाली भाषाका उद्भव व विकास" एक दीपस्तम्भ है, जिसने : अनेकों विद्वानोंको निश्चित दिशा प्रदान की है।

यहाँ हमारा लच्य भाषाशास्त्रीय गवेषणात्रोंकी उद्धरणी देना न होकर भाषाशास्त्रके विकासमें संस्कृतके योगका संकेत भर करना था। संस्कृतके भाषाशास्त्रीय महत्त्वका सबसे बड़ा प्रभाण तो यही है कि यूरोपके विश्वविद्यालयोंमें भाषाशास्त्रीय अध्ययनमें प्रवृत्त गवेषकके लिए कमसे कम संस्कृतका सामान्य परिचय तो आवश्यक हो ही जाता है। इस पुस्तकमें संस्कृतके सामान्य परिचयको ही लच्य बनाया गया है। संस्कृत भाषाका सर्वोगीण [भाषा-शास्त्रीय] अध्ययन तो इतनेसे स्नेत्रमें संभव नहीं।

## संस्कृत भाषा-उत्पत्ति [ आदिम भारतयूरोपीय ]

संस्कृत भाषा भारत-यूरोपीय ग्रथवा भारत-जर्मनीय परिवारकी प्रमुख भाषात्रोंमें है। इस परिवारको त्रार्थ-परिवारके नामसे भी त्राभिहित किया जाता है। किन्तु यह नाम प्रायः समस्त परिवारके लिए प्रयुक्त न किया जाकर, इस परिवारकी एक विशेष शाखा, भारतेरानी [हिन्द-ईरानी], के लिए प्रयुक्त होता है। यह परिवार त्राठ या त्र्राधिक [दस] शाखात्र्योंमें विभाजित है। इनमेंसे प्रत्येक शाखा पुनः उपशाखाद्यों में विभाजित है, यह हम आमुखके ग्रन्तर्गत देख चुके हैं। ये शाखाएँ हैं:—[१] भारतेरानी शाखा, जिसके अन्तर्गत वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत तथा इससे उद्भूत हिंदी, बंगाली, गुजराती, मराठी श्रादि श्रार्य भारतीय भाषाएँ तथा पाचीन ईरानी भाषा, जिसका रूप हमें पारिसयोंकी धर्मपुस्तक अवेस्तामें मिलता है, तथा उससे उत्पन्न नव्य फारसी, पश्तो त्र्यादि हैं; [२] बाल्तों-स्लाविक शाखा, जिसके ग्रंतर्गत प्राचीन रूसी, पोलिश, बोहेभियन, लिथुत्र्गानियन <mark>त्रादि भाषाएँ हैं</mark>; [२] ग्रार्मेनियन शाखा; [४] ग्रल्वेनियन शाखा ; [५] ग्रीक शाखा, इसके अन्तर्गत प्राचीन यूनानकी प्रसिद्ध साहित्यिक भाषा ग्रीक तथा उससे उत्पन्न ग्राजकी ग्रीक है, [६] इतेलियन शाखा, जिसमें प्राचीन स्रोस्कन तथा उम्ब्रियन भाषाएँ, लैतिन तथा स्राजकी रोमांस भाषाएँ-फ्रेंच, इतेलियन, स्पेनिश त्रादि हैं; [७] केल्तिक शाखा, जिसका प्रचार एक समय सारे पाश्चात्य यूरोपमें था, किन्तु स्राज इससे उद्भूत स्रायरिश

आर्मेनियन तथा अल्बेनियन दो भिन्न शाखाएँ हैं, जो एशिया-माइनरमें पाई जाती हैं।

तथा वेल्शके वोलनेवाले वहुत थोड़े हैं ; [ट] जर्मनीय शाखा, जिसमें श्रॅगरेज़ी, डच, जर्मन, स्केप्डिनेवियन श्रादि भाषाएँ हैं। श्रम्वेषकोंने कुछ ऐसी भी भारतयूरोपीय भाषायोंका पता लगाया है, जो एक समय बोली जाती थीं, किन्तु श्राज सर्वथा जुत हो गई हैं। इन भाषाश्रोंमें कुछ ऐसी निजी विशेष्ताएँ हैं, जिनके कारण इन्हें भिन्न शाखाएँ स्वीकार किया गया है। ये तोखारी तथा हिताइत वर्ग हैं, जिन्हें हम भारतयूरोपीय परिवारकी नवीं तथा दसवीं शाखा मान सकते हैं।

इन समस्त शाखात्रों में कुछ ऐसी निकट समानताएँ हैं, जिनके कारण इन्हें एक परिवारमें सम्मिलित किया गया है। उदाहरणके लिए संस्कृत 'पितृ' [पितर्] शब्दको ले लीजिये। यह शब्द ग्रीक शब्द 'पतेर' [pater], लैतिन 'पतेर' [pater], जर्मन 'वातेर' [vater] तथा ऋँगरेजी 'फादर' [father] से मिलता है। इन सभी शब्दों में एक सी पदान्तता पाई जाती है। ग्रीक तथा लैतिनमें तो व्यञ्जन ध्वनियाँ भी संस्कृतके समान ही हैं। जर्मन तथा ऋँगरेजीमें व्यञ्जन ध्वनियाँ परिवर्तित हो गई हैं, किन्तु ये परिवर्तन ध्वनि-नियमों के ऋषार पर हुए हैं। संस्कृतकी ऋषोष ऋल्पप्राण ध्वनि, ऋँगरेजीमें महाप्राण तथा जर्मनमें सघोष ऋल्पप्राण पाई जाती है। यद्यपि ये भाषाएँ ऋपनी ऋपनी निजी विशेषताऋोंसे युक्त हैं, फिर भी इन सब समानान्तर रूपोंमें हम एक समान सूत्रकी कल्पना कर सकते हैं, जिसे हम ''\*प्अतेर [\*poter] रूप देते हैं। यह तुलनात्मक रूप भारत-यूरो-पीय परिवारकी काल्पनिक ऋादिम भाषा [Ursprach] का माना गया है। ऋादिम भारत-यूरोणीय जैसी भाषा थी भी या नहीं, इस पर हम ऋगो

१. फ्रांसके बितेनी प्रदेशकी बेतन [Breton] भी इसी शाखाकी भाषा है।

२. भाषाशास्त्रमें यह नियम "ग्रिमके नियम" (Grimm's Law) के नामसे प्रसिद्ध है।

प्रकाश डालेंगे। संस्कृतसे एक दूसरे श्रीर उदाहरणको ले लीजिये। संस्कृत 'भरामि' के समानान्तर श्रीक 'फेरो' [phero], लैतिन 'फेरो' [fero], श्रूँगरेजी 'बीयर' [bear], प्राचीन चर्च स्लावोनिक 'बेरन' [beran] को देखिये। इन सभीका श्रर्थ ''मैं ले जाता हूँ'' है। इन सभीमें हम समान सूत्र ''मेर्-'' [\*bher-] की कल्पना कर सकते हैं। विश्वके श्रन्य भाषा-परिवारोंमें यह समानता नहीं मिलती-।

इस परिवारकी भाषात्र्योंका विशेष अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इनमें व्याकरणात्मक संबंधोंको विभक्तियोंके द्वारा व्यक्त किया जाता है। एक पदमें प्रायः तीन तत्त्व होते हैं; मूल रूप [शब्द या धातु], प्रत्यय, तथा विभक्तिचिह्न। उदाहरराके लिए संस्कृत पद "गच्छुता" को हम क्रमशः "गम्" [ अगच्छ् ], ''शतृङ्'' [ अत् < अग्रन्त ] तथा "टा" [ आ ] में विभक्त कर सकते हैं। इसी तरह संस्कृत के "दातिर" तथा ग्रीक "दोत्रि" [ dotri ] में क्रमशः "दा", "तर्" [तृ ] तथा "इं" ि हि ] एवं 'दो' [ do ], "तोर" [ tor ], तथा 'इ' [ i ] इन तीन -तत्त्वोंको मान सकते हैं । तुर्की तथा द्रविड्-परिवारकी प्रत्यय-प्रधान भाषात्र्यों की भाँ ति यहाँ इन तीन तन्वोंमें से किसी भी तत्त्वको अलग नहीं किया जा सकता । प्रत्यय प्रधान भाषात्रों में प्रत्यय ग्रपना निश्चित रूप तथा ग्रर्थ रखते हैं, किन्तु यह वात भारत-यू रोपीय भाषात्रोंके विषयमें नहीं। यहापि क्रियासे बने नाम-शब्दोंमें [ क़दन्त ] प्रत्यय किसी विशेष भावका बोध ग्रवश्य कराते हैं, जैसे ऊपर का "तर्" [तोर्] प्रत्यय, तथापि यहाँ भी वह "दातर्" [दातृ] या ग्रीक "दोतार्" का ग्राविभाज्य ग्रंग ही है। नव्य भारोपीय भाषात्रोंमें, अधिकतर भाषात्रोंमें, ये विभक्तियाँ न्यून होती गई हैं। संस्कृतमें जहाँ ब्राट विभक्तियाँ हैं, वहाँ हिंदी व नव्य भारतीय. भाषात्रों में दो ही विभक्तियाँ हैं, जिन्हें क्रमशः ग्रविकारी तथा विकारी कह सकते हैं। ठीक यही वात क्रियात्र्योंके निषयमें कही जा सकती है। संस्कृतके दस [ ऋथवा ग्यारह, यदि लेट्को भी माना जाय तो ] लकार ऋाज संकु-

चित होकर किसी भाषामें तीन तथा किसीमें चार रह गये हैं। ठीक यही बात यूरोपमें ग्रीक तथा छैतिनकी छः विभक्तियों के विषयमें कही जा सकती है, जो फ्रेंच, ग्रॅंगरेज़ी ग्रादिमें केवल एक ही विभक्तिके रूपमें देखी जाती हैं।

उपर्युक्त इन सभी शालात्र्योंमें व्याकरणात्मक संबंध विमक्तियों से व्यक्त किये जाते थे, जिनके रूप प्रायः एक-से होते थे। त्र्यादिम भारोपीय भाषामें त्र्याट विभक्तियाँ थीं। इनमेंसे कई भाषावर्गोंमें ऋधिकतर छः ही विभक्तियाँ पाई जाती हैं। इन भापात्रोंके विभक्तिरूपोंकी समानताके लिए "वृक" शब्दके द्वितीया बहुवचनको ले लीजिये। सं० 'बृकान्', ग्रीक 'लुकोउस' [ प्राचीनरूप -जुकोन्स ] [lukous→luk-ons] गोथिक 'बुल्फोन्स' [wulfons], हैतिन 'जुपोस' [lup-os], ये सब समान सूत्र 'र्वे ब्लूक्' [ \*wlk-] की ग्रोर संकेत करेंगे, जिसमें द्वितीया बहुवचनका विभक्ति चिह्न '\*श्रोन्स' [-\*ons] लगा हुश्रा है। पूरा प्राचीन रूप \* ल्हकोन्स [ \*wlk-ons] होगा । इस समस्त परिवारकी भाषात्रोंमें "अका-रान्त'', ''ग्रा-कारान्त'', ग्रन्य स्वरान्त तथा व्यञ्जनान्त [ हलन्त ] शब्द पाये जाते हैं। इन भाषात्रोंके तिङन्त [किया] रूप भी इसी प्रकार समानान्तर हैं। क्रियात्रों के संबंधमें इस परिवारमें एक ऐसी विशेषता है, जो श्रन्य भाषा-परिवारों में नहीं । यह विशेषता संस्कृत तथा ग्रीक दोनों में स्पष्ट है। कई गर्णोमें तथा प्रायः परोक्तभूते लिट्में, हम देखते हैं, कि धातुमें द्वित्व हो जाता है। संस्कृत√धा-दधाति, दधौ, संस्कृत√ मन्-मम्नाते,√दा-ददौ। इन्हीं के समानान्तर ग्रीकरूप 'तथेतइ' [tethetai], ममोन [ memona ], 'देदोतह' [ dedotai ] को देखिये।

मिलाइये, श्रॅगरेजी 'बुल्फ' [wolf]. २. श्रीकमें सघोष महाशाण ध्वितयां नहीं हैं। संस्कृतकी सघोष महाशाण ध्वित वहाँ अघोष महा-शाण हो जाती है।

भारत यूरोपीय परिवारकी दूसरी प्रमुख विशेषता "ग्रपश्रुति" है, जो त्र्राधिकतर जर्मन पारिभाषिक संज्ञा "अव्लाउत" [ Ablaut ] के रूपमें प्रसिद्ध है। एक ही मूल रूप, कई भाषात्रों में कभी एक स्वरसे युक्त तथा कभी दूसरे स्वरसे युक्त पाया जाता है । इस प्रकारकी ग्रपश्रुतिको "गुणात्मक अपश्रुति" कहते हैं। कभी कभी मूल रूप विभिन्न मात्रावाले [ शून्य, हस्य तथा दीर्घ रूप ] एक ही स्वर से युक्त रूपों में पाया जाता है, जिसे "मात्रिक अपश्रुति" कहा जाता है । जैसा कि हम आगे बतायँगे, संस्कृतमें गुणात्मक श्रपश्रुति नहीं पाई जाती । संस्कृतसे मात्रिक श्रपश्रुतिके ये उदाहरण दिये जा सकते हैं:-भारः, भरामि, स्रतिः, अश्रोषीत्, श्रोता [श्रोतृ], श्रुतम् जिनमें एक ही स्वरका क्रमशः दीर्घ, साधारण [ हस्व ] तथा शून्य रूप पाया जाता है। इन्हींको संस्कृत व्याकरणकी परिमाणामें वृद्धिरूप, गुरारूप, तथा मूल रूप कह सकते हैं। जैसा कि हम ग्रागे बतायँगे संस्कृत व्याकरणका गुण्रूकप ही तुलनात्मक भाषाशास्त्रीका मूल स्वर है, तथा उनका मूल रूप तुलनात्मक भाषाशास्त्रीका शून्य रूप [ स्वराभावरूप ] है। ग्रीर ग्राधिक स्पष्टीकरगाके लिए, हम यह कह सकते हैं कि प्रथम त्रिवर्गके उदाहरगों में मूल रूप "भर्" [ \*भर् ] है, जिसमें संस्कृत स्वर "श्र" [ श्रा०भा०यू० \*ए ] है। यहीं 'श्र' दीर्घ रूपमें 'भारः' में पाया जाता है, 'मृतिः' में यह 'म्र' लुप्त हो गया है, अर्थात् इस स्वरका शूत्य रूप [ zero-vowel ] वहाँ पाया जाता है।

इन भाषात्रों की इस प्रकारकी समानताएँ इस परिणामकी छोर ले जाती हैं कि ये भाषाएँ किसी एक ही प्राचीन भाषासे उत्पन्न हुई हैं। यद्यपि इस प्रकारकी कोई भी भाषा विद्यमान नहीं, जिसे इन सब भारोपीय भाषात्रोंकी जननी कहा जा सके, तथापि भारोपीय परिवारकी विद्यमान विभिन्न प्राचीन भाषात्रोंके पारस्परिक संबंधके छाधारपर इस भाषाकी कल्पना की गई है। कल्पित रूप होनेके कारण इस भाषाके शब्दोंको तारकि चिह्नित [Star-formed] रूप में लिखा जाता है। इस छादिम भाषाके किएत रूपने कई विद्वानोंमें यह धारणा उत्पन्न कर दी थी कि ऐसी

माघा अवश्य रही होगी, जो ग्रीक, लैतिन, वैदिक संस्कृत आदि की जननी थी, किन्तु इस भाषाकी वास्तविक सत्ता मानना निर्मान्त नहीं। यही कारण है कि कई विद्वान तो आदिम भारोपीय भाषाके अस्तित्वपर जोर देनेवाले पुराने खेवेके जर्मन भाषाशास्त्रियोंको, जो ग्राभिनव वैयाकरण [Neo-grammarians] के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, शुद्ध भाषाशास्त्री न मानकर केवल "तुलनात्मक पदरचनाविद्" मानते हैं। फिर भी एक दृष्टि से इन कल्पित रूपोंका महत्त्व तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें श्रवश्य है। ये रूप एक प्रकारसे स्त्ररूप [Formulae] हैं, जो विभिन्न संबद्ध भाषात्रोंके समान रूपोंका संकेत करते हैं, चाहे वे सब रूप इसी सूत्र रूपसे उद्भूत न हुए हों । श्रीक तथा संस्कृतमें पाई जानेवाली विशेषताएँ इनमें त्रारंभले ही हैं। यदि दोनों भाषाभाषी जातियोंका उद्भव एक ही स्थानपर मान भी लिया जाय, तो ये दो विभाषाएँ थीं, जिनमें ऋपनी ऋपनी निजी विशेषताएँ पाई जाती थीं। प्रसिद्ध फ्रेंच भाषाशास्त्री मेये [Meillet] ने इसीलिए इन तारकचिह्नित भारतयूरोपीय रूपोंको सूत्र रूप माना है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार त्रादिम भारतयूरोपीय रूप भाषात्रोंके विकासमें बादकी सीढी हैं। स्टर्टेवन्टके मतानुसार बोगाजकुईके लेखोंमें स्रान्वष्ट हिताइत भाषा त्रादिम भारतयूरोपीयकी पुत्री न होकर भगिनी है, त्रीर इस प्रकार वह प्राचीन भारत-हित्ताइत भाषाकी कल्पना करता है, जो काल्पनिक भारोपीय तथा हित्ताइत दोनोंकी जननी रही होगी।

प्रसिद्ध रूसी भाषाशास्त्री मारके मतानुसार भारत-यूरोपीय परिवार ग्रालगसे परिवार न होकर कार्केशियन भाषात्र्योंसे संबद्ध है। इनके तुलनात्मक ग्राधार पर उसने ग्रापनी त्रालगसे सिद्धान्तसरिए स्थापित की थी। यह काल्पनिक भाषा-परिवार "जफेतिक" के नामसे प्रसिद्ध है। मारके मतानुसार

देखिये Sturtevant : Indo-Hittite Laryngeals. Ch. I. साथ ही Sturtevant : Indo-Hittite. ['Language' 1926. Vol. II. P. 30.]

जफेतिक परिवारकी भाषाएँ यूरोपके पिरेनीज़ पहाड़ोंसे लेकर मध्य-एशियामें पामीर तक बोली जाती थीं । उसने सारी ऋार्य तथा काकेशियन भाषाऋोंको एक चतुःसूत्री जफेतिक भाषाकी बोतलमें भरनेकी चेष्टा की है । उसके ये चार सूत्र हैं:—सळ् [Sal], बेर् [Ber], योन [Yon] तथा रोश् [Ros]। पर मारकी सरिण त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो चुकी है । स्वयं उसके शिष्य ही उसकी त्रुटियोंको स्वीकार करने लग गये हैं।

इन भाषात्रोंकी समानता देखकर अनुमान होता है कि आरंभमें इनके बोलनेवाले एक ही स्थान पर रहते होंगे । यद्यपि उस समय विभिन्न वर्गोंकी विभाषात्रोंमें परस्पर कुछ ध्वन्यात्मक विभेद रहा होगा, तथापि वे विभाषाएँ प्रायः एक-सी ही थीं । ये त्र्यादिम भारोपीय भाषाका व्यवहार करनेवाले लोग, जिन्हें भाषा-शास्त्रियोंने 'वीरोस्' [wiros] नाम दिया है, ग्रारंभमें कहाँ रहते थे, इस विषयमें विद्वानोंमें वड़ा मतभेद है। स्व० वाल गंगाधर तिलकके मतानुसार वे उत्तरी धुवसे मध्य एशियामें ग्रावे थे। मध्यएशियासे ही यह त्रार्य-जाति दो प्रमुख वर्गोंमें विभाजित हो गई थी। एक वर्ग यूरोपकी त्रोर चल पड़ा, एक ईरान एवं भारतकी त्रोर । मैक्समूलर त्रादि विद्वान् मध्य एशियाको ही त्रायोंकी त्रादिम जन्म-भू समभते हैं। श्रोएद्रके मतानुसार त्र्यायोंकी त्र्यादिम जन्मभ्मि बोल्गा नदीके त्र्यासपास थी। वहींसे इनके विभिन्न वर्ग विभिन्न दिशात्रोंकी स्रोर चल पड़े । इन वर्गोंके पृथक् होनेके पूर्व ही त्र्यार्यजाति सम्यताको दृष्टिसे विकसित हो चुकी थी। पशुचाररण तथा कृषि इनका मुख्य व्यापार था। ये लोग ग्राम वसा कर रहना सीख गये थे; किन्तु ये ग्राम फिर भी स्थिर न होकर यायावर थे। भेड़, घोड़ा, कुत्ता, गाय जैसे पालतू जानवर तथा रीछ एवं भेड़िये जैसे जंगली पशुत्रोंसे

<sup>9.</sup> देखिये न्यूयार्क से प्रकाशित Soviet Controversy in Linguistics. नामक पुस्तक। साथ ही W. K. Mathews का विस्तृत लेख. Soviet Contribution to Linguistics [Archivum Linguisticum vol 2. P. I-II; PP. 1-23; 97-121.]

ये लोग परिचित थे, क्योंकि इनके लिए इस परिवारकी प्रायः सभी भाषात्रोंमें एकसे शब्द पाये जाते हैं। यथा,

१. सं॰ ग्रविः —ग्रीक श्रोउइस् [ ouis ], रूसी ओउका कोरोना [ ouka Korona ] प्रा॰ मा॰ यू॰ \*श्रोविस् [ \*owis ]

२. सं॰ अश्वः -- ग्रीक हप्पास् [ heppos ], लिथुग्रानियन अश्व, [ as va ] प्रा॰ भा॰ यू॰ अपनवास् [ \*ek os. ]

३. सं० स्वा ( स्वन् )-ग्रीक कुओन् [ kuon ], लिथु० शुत्रो [ s'uo ] प्रा० भा० यू० \*कुनोस् [ \*kunos ].

४. सं॰ गौ:—ग्रीक बोडस् [bous], लै॰ बोस [bos], फ्रोंच बीफ [bœuf], रूसी गोव्यादिना [govyadina]; प्रा॰ भा॰ यू॰ \*ग्वोव्स् [\*g"ous]

इन शब्दोंके त्रातिरिक्त कई त्रान्य वस्तुएँ भी समान नामसे त्राभि-हित की जाती हैं, जैसे धूम, शहद [मधु], रुधिर, मांस त्रादि। माता, पिता, भ्राता, भगिनी, दुहिता, देवर, जामाता, पित, श्वशुर, श्वश्र त्रादिके नाम भी इनमेंसे कई भाषात्रों में समान हैं। जैसाकि हम त्रागे देखेंगें, विभिन्न क्रियात्रों तथा उपसर्गोंके रूप भी एक ही प्रकारके पाये जाते हैं।

भारत यूरोपीय भाषात्रोंका अध्ययन करने पर ऐसा पता चलता है कि ये भाषाएँ दो वर्गोंमें बाँटी जा सकती हैं, जो भिन्न भिन्न त्रायोंकी विभाषाएँ रही होंगी। इसके पूर्व कि हम इन दो वर्गोंको लें, हमें यह देखना है कि तुलनात्मक भाषाशास्त्रके आधार पर आदिम भारत योरोपीय भाषाका काल्पनिक रूप कैसा माना जाता है।

१. भाषाशास्त्रियों के मतानुसार \*ग्वोव्स् शुद्ध भा० यू० न होकर सुमेरी [ त्र्यनार्य ] भाषाके ''गू'' शब्दसे लिया गया है, जिसका ऋर्थ गाय है।

किसी भी भाषाके अध्ययनको तीन अंगोंमें विभाजित किया जा सकता है, प्रथम उसकी ध्वनियोंका अध्ययन, दूसरे उसकी पदरचनाका, तीसरे वाक्य-रचनाका। इसके अतिरिक्त एक चौथा भाषाशास्त्रीय तत्त्व और है जिसके अन्तर्गत भाषाके शब्द-कोष तथा अर्थ-प्रक्रिया पर विचार किया जाता है, जो 'अर्थ-विज्ञान' कहलाता है। आदिम भारतयूरोपीय भाषाकी वाक्यरचनाके वारेमें कुछ कहा नहीं जा सकता। शब्दकोष का विचार हम कल्पित रूपोंके अन्तर्गत कर ही लेते हैं।

श्रादिम भारत यूरोपीय ध्वनियाँ:—भारत यूरोपीय परिवारकी विभिन्न शाखात्रों के श्राव्ययनसे भाषाशाक्त्रियों ने कल्पना की है कि श्रादिम भा० यू० भाषामें शुद्ध स्वर सात थे:—श्र, श्रा, ए, ए, श्रा, श्रो, तथा 'अ' [ग्र]। श्र, ए तथा श्रो हस्व स्वर थे, एवं अ एक प्रकारका दुर्वल स्वर था। श्रा, ए, ओ कमशाः हस्व श्र, ए, श्रो के दीर्घ रूप थे। जैसा कि हम श्रागे देखेंगे संस्कृतमें भा० यू० स्वर संकुचित हो गये हैं। श्रीकमें ये स्वर इसी रूपमें पाये जाते हैं, हाँ दुर्वल स्वर वहाँ नहीं पाया जाता। श्रीकमें हस्य श्र, ए, श्रो तथा दीर्घ श्रा, ए, ओ दोनों प्रकारके वर्गके सम्पूर्ण छः स्वर हैं किन्तु संस्कृतमें श्राकर श्र तथा उसका दीर्घ रूप श्रा ही शुद्ध भारोपीय स्वरके रूपमें पाये हैं। संस्कृतमें श्राकर श्रादिम भा० यू० हस्य ए, श्रा ने श्र का रूप तथा दीर्घ ए, श्रो ने श्रा का रूप धारण कर लिया है। उदाहरण के लिए देखिये:—

संस्कृत भरामि, ग्रीक फरो [phero] प्रा॰ मा॰ यू॰ \*भर् [ \*bher]
सं॰ अष्ट, ग्रीक आक्ता [octo] प्रा॰ मा॰ यू॰ \*ग्राक्ता [\*octo]
सं॰ अधात्, ग्रीक ए-थे-के [etheke] प्रा॰ मा॰ यू॰ \*ए-धे- [\*e-dhe]
सं॰ इमतः, ग्रीक ग्नोतास् (gnotos) प्रा॰ मा॰ यू॰ ग्नतास् [\*gn-tos]
संस्कृत ए, ओ तथा ऐ, श्रौ शुद्ध मारोपीय स्वर न होकर ध्वनियुग्मोंसे
जिनत हैं इसे हम ग्रागे बतायँगे। दुर्जल स्वर अ ( Θ ),—जिसे 'श्वा'

( Schwa ) कहा जाता है—की कल्पना इसिलए आ०मा०यू०में की गई है कि जहाँ ग्रीक तथा ग्रन्थ मारोपीय माषाओं में श्र स्वर पाया जाता है, वहाँ कई समानान्तर शब्दों में भारतेरानी शास्त्रामें इ हो जाता है। यदि आ० मा०यू०में श्र ही माना जाय, तो भारतेरानी शास्त्रामें श्र अवश्य होना चाहिए था। उदाहरणके लिए ग्रीक शब्द "पतेर् [ pater ] का समानान्तर संस्कृत शब्द पितृ [ पितर् ] है, यह हम देख चुके हैं। यदि मूल मा० यू० भाषामें श्र स्वर होता, तो संस्कृतमें \*पतृ [ पतर् ] रूप होना चाहिए था, वह नहीं पाया जाता। ग्रतः स्पष्ट है कि इस शब्दमें मूल मा० यू० स्वर श्र [ क] नहीं था। इसीलिए उसे अ [ Ә ] माना गया है। इस शब्दका भा० यू मूलरूप \*पअतेर [ pəter ] रहा होगा।

इन शुद्ध स्वरोंके त्रातिरिक्त उस भाषामें छु: त्रुन्तः खोंकी कल्पना की गई है। अन्तःस्थ वे ध्वनियाँ हैं, जो वस्तुतः व्यञ्जन होते हुए भी कभी कभी स्वरका भी काम करती हैं। हम देखते हैं कि स्वर ग्राचर [सिलेबिल ] की संघटनामें प्रमुख कार्य करते हैं। इन्हें व्यक्षनकी ऋावश्यकता नहीं होती, किंतु इनकी सहायताके विना व्यञ्जनका उचारण स्वतन्त्र श्रक्रके रूपमें नहीं किया जा सकता। ग्रान्तःस्य वे ग्रापवादपूर्ण व्यञ्जन हैं, जो कभी कभी श्राच्य संघटना [Syllabic function] में स्वरका कार्य करते हैं। ब्रादिम भा०यू० भाषामें य्, व्, र्, ल्, न्, म्, ये छः अन्तःस्य माने गये हैं। इन्हींका ग्रचर संघटनाकारी स्वर रूप इ, उ, ऋ, चू, (अ-) न् , (ग्र-) म् पाया जाता है। मात्राकी दृष्टिसे इनके रूप हस्व, दीर्घ तथा शूत्य तीनों प्रकारके पाये जाते हैं। व्यञ्जन रूप तथा स्वर रूपके अतिरिक्त ये अन्तः स्थ एक ऐसा भी रूप रखते थे जो स्वर तथा समान व्यञ्जनका युग्म था, इसे हम इय, उव, ऋर् , रुल् , (अ-) नृन् , (अ-) मृम् मानते हैं । ये अन्तः स्थ शुद्ध स्वरोंके साथ युक्त होकर ग्रा॰भा॰यू॰ ध्वनियुग्मोंके रूपमें भी पाये जाते थे, यथा अय्, ऐय्, ओय्, ध्राय्, एय्, ओय् ग्रादि । इसी तरह व्,र्, ह्, न्, म् वाले रूप भी पाये जाते होंगे। हस्व मूल स्वरवाले ध्वनियुग्म संस्कृतमें

स्राकर ए, ओ तथा दीर्घ मूल स्वर वाले ध्वनियुग्म ऐ, स्रो हो गये हैं। उदाहरणके लिए देखिये:— सं० वेद, श्री० [वा] आइद [ (n) oida ], गाँ० वहत, जर्मन वेइस

प्रा॰भा॰यू॰ \*वाय्द [ \*Woyda ] सं॰ रोचते, प्री॰ लंडकास् (leukos), प्रा॰भा॰यू॰ लंब्क् [\*lewk-etay]

सं अरेजम् ग्री , एतेइप्स [eleipsa,] प्राञ्मा व्यू क्षेत्र्य [\*leyk"-sm] सं व्योः, ग्रीक जंडस् [ प्राचीन रूप, जेडस् ] [ zeus < zeus ] ग्रांगरेजी ट्यूस [Tues; Tues-day] प्राञ्मा व्यू क्षेत्रस् [\*dyew-s] सं व्याः, ग्रीक नाउस् [ naus ], लेतिन नाविस् [ navis ], ग्रांगरेजी नेवी [ navy ], प्राञ्मा व्यू क्षेत्र क्षे

व्यञ्जनोंकी दृष्टिसे सबसे बड़ी विशेषता, जिसकी कल्पना आ०भा०यू० में की गई है, तीन प्रकारकी कवर्ग ध्वनियोंका ग्रस्तित्व है। यह तो सभी विभाषाओं में देखा जाता है कि परवर्ती स्वरसे युक्त करण्ड्य [कोमल-तालु-जन्य velar] ध्वनि प्रायः उस स्वरसे प्रभावित हो जाती है। उदाहररणके लिए 'क' ग्रन्तर की 'क्' 'ध्वनि कि तथा कु ग्रन्तरकी क् ध्वनि से कुछ भिन्न-सी है। 'इ'के योगसे वह कुछ तालव्य सी तथा उ के योगमें कुछ करण्डोब्ध्य सी पाई जाती है। इनका उच्चारण करते समय जिह्ना तत्तत् दशामें ग्रन्तमु खके तत्तत् भागका स्पर्श करती है। 'कं-वर्गकी

१. शुद्ध ध्वनिशास्त्री दृष्टिसे 'क' वर्गको कएट्य मानना ठीक नहीं; इसके उच्चारणमें जीभका स्पर्श कोमलतालुसे होता है; ग्रतः इसे कोमल-तालुजन्य कहना वैज्ञानिक है। पर कएट्य चल पड़ नेके कारण हमने दोनों का प्रयोग किया है।

शुद्ध, तालव्य तथा कएठोष्ठ्य ध्वनियोंको हम क् $\left[ \left. \mathrm{k} \, \right]$  क्य् $\left[ \left. \mathrm{k} \, \right]$  $\mathbf{a}$ व्  $[\mathbf{k}^w]$  से व्यक्त कर सकते हैं। सुविधाकी दृष्टि से इस क्रमको न लेकर क्य, क्, क्व् क्रमको लेंगे। जब हम ग्रा०मा०यू०के ग्रन्तर्गत तीन कवर्गोंको मानते हैं, तो हमारा तात्पर्य यह है कि किसी वर्गके साथ किसी भी स्वरका उच्चारण वहाँ पाया जा सकता था। तालव्य 'क्य्' पश्चस्वर ( उ, श्रो…) से युक्त, तथा करठोष्ठ्य 'क्व्' ग्रयस्वर [ इ, ए…] से युक्त भी पाया जा सकता था। यद्यपि भा०यू० परिवारकी किसी भी भाषामें ये तीन प्रकारकी कवर्ग ध्वनियाँ नहीं पाई जातीं, तथापि इस परिवारकी भाषात्रीं में दो वर्गोंकी स्थितिके कारण यह कल्पना की गई है। ग्रुद्ध करछ्य ध्वनियाँ जहाँ एक वर्गमें तालव्योंमें समाहितं हो गई हैं, वहाँ दूसरे वर्गमें कराठोण्ड्य में। भा ॰ यू ॰ तालव्य ध्वनियाँ [ क्य् ग्रादि ] इन दोनों वर्गोंमें भिन्न रूपसे विकस्तित हुई हैं। एक वर्गमें ये कएठ्य रही हैं, किन्तु द्वितीय वर्गमें ये ऊष्म वन गई हैं। उदाहरराके लिए आ॰ मा॰ यू॰ क्ष्वय्**मतोम्** [ kmtom ] एक वर्गके अन्तर्गत श्रीक, [हे] क्तान् [he-kton], हैतिन, केन्तुम [ centum ], तोखारी, कंत [ kant ] के रूप में विकसित हुआ है, जब कि दूसरे वर्गमें संस्कृत, शतम् , श्रवेस्ता, सत्अम् [ satəm ], प्रा॰ चर्च स्लॉबोनिक, सूतो ( suto ), रूसी, स्तो ( sto ) के रूपमें । इसी त्राधार पर प्रथम वर्गको हम केन्तुम् वर्ग तथा द्वितीयको शतम् [सतम्] वर्ग कहते हैं। यह नाम "सौ" के लिए विभिन्न भाषात्रोंमें प्रयुक्त शब्दोंके त्राधार पर बनाया गया है। जहाँ तक शुद्ध कोमलतालुजन्य [कएठ्य] ध्वनियोंका प्रश्न है, जब तक उसका प्रतिरूप शब्द दोनों वर्गोंमें नहीं मिल जाता है, हम उस शब्दका आश्माश्यू रूप क्या था इसकी कल्पना नहीं कर सकते । उदाहरणके लिए संस्कृत 'कृष्णः' का समानान्तर 'सतं' वर्गकी भा॰ चर्च स्लॉवोनिकमें श्रिनु [s rinu] रूप मिलता है, किन्तु केन्तुम् वर्ग का कोई समानान्तर रूप न मिलनेसे हम नहीं बता सकते 'कि 'कृष्ण'

शब्द मूल भा॰ यू० है या नहीं, साथ ही इसकी पद।दिध्वनि, यदि मूल भा॰ यू॰ है, तो शुद्ध कएड्य थी या कएठोव्डय । यदि दोनों भाषात्रोंमें समानान्तर शब्द मिल जाते हैं, तथा वह दोनों वगोंमें 'क' ही है, तो हम बता सकते हैं कि इसका मूल रूप शुद्ध कएड्य रहा होगा। उदाहररएके लिए सं० कविः [कविस्], श्रीकं, केअस् [kreas], छै॰ क्रुओर् [kruor] के त्र्याधार पर हम \*केव्अस् [ \*krewə-s ] की कल्पना कर सकते हैं । जैसा कि हम त्रागे देखेंगे, संस्कृतमें त्रा० मा० यू० गुद्ध 'क' तथा कएडोब्ड्य 'क्व्' दोनों का विकास एक सा रहा है। ये दोनों ही ऐ, ए, इ, ई, य्[सं. श्र, श्रा, इ, ई, य्] के पूर्व 'च' तथा अ आ, श्रा, ओ [सं. श्र, श्रा] के पूर्व 'क' रूप में विकसित हुए हैं। सतम् वर्गमें शुद्ध कएट्य 'क' ही रहा है, तथा ग्रा॰ भा॰ यू॰ करोटोप्ट्य लैतिन तथा जर्मन शास्तामें 'क्व' ही बना रहा है, जो ब्रोटों को गोलाकार वनाकर उच्चरित किया जाता है। ग्रॅंगरेज़िकी 'क्वीन' [ Queen, ] क्विक [ Qnick ] ग्रादिमें यही 'क्व' ध्विन है, पर वहाँ यह सदा 'उ' स्वर के साथ पाई जाती है। लैतिन तथा जर्मन समानान्तर शब्दोंकी संस्कृत त्रादि सतम् वर्गकी भाषात्रोंके शब्दोंसे तुलना करने पर हम श्रा० भा० यू० ध्वनिकी प्रकृति बता सकते हैं। ग्रीकमें यह कएडोच्ठ्य 'क' ग्रामस्वरके पूर्व 'त' तथा पश्च स्वरके पूर्व 'प' हो गया है। उदाहरण के लिए-

सं॰ कः,क्व, चित्, ग्रीक, ता-थेन (सं. कस्मात्) [tothen,] ग्रीक, तिस् [tis], छै॰ क्वो, क्वि [quo, qui], ग्रॅंगरेजी, हू [who] वहाट [what], →प्रा॰ भा॰ यू॰ \*क्वो-, \*क्वि- [\* kणo-, \*kणi]। ध्यान दीजिये संस्कृतका 'क' ग्रॅंगरेजी 'व्ह' हो गया है। [ग्रिम-नियमके ग्रमुसार क्लैसिकल ग्रघोष् ग्रस्पप्राण 'क' लोजर्मन [ग्रंगरेजी ग्रादि] में महाप्राण [ह] बन जाता है।]

ग्रादिम भारत यूरोपीय भाषामें इन तीन प्रकारके कएड्यवर्गोंके त्रातिरिक्त

दो श्रीर वर्ग थे-दन्त्य तथा श्रोध्ड्य । प्रत्येक वर्गमें दो प्रकारकी ध्वनियाँ थी. एक ऋघोष [यथा क, त, प], दूसरी सघोष [ ग, द, व]। इनके महाप्राण रूप भी पाये जाते थे। किन्तु महाप्राण रूप केवल सघोष ध्वनियोंके ही पाये जाते थे या दोनोंके, इस विषयमें विद्वानोंमें मतमेद है। ऋधिकतर विद्वान् त्र्या॰ भा॰ यू॰ में त्रघोष त्रस्पप्राण, सघोष त्रल्पप्राण तथा सघोष महाप्राण ये तीन ही ध्वनिरूप मानते हैं। प्रो॰ प्रोकोस्व तथा हरमन कॉलिजने एक नई सिद्धान्तसरिए प्रकट की है, उनके मतानुसार श्रा॰ मा॰ यू० में सघोष महाप्रारा ध्वनियाँ सर्वथा नहीं थीं किन्तु अघोष महाप्रारा त्र्यवस्य थीं । हित्ताइतकी खोजने इन महाप्रा<del>ग्र ध्वनियोंकी समस्या</del> को थोड़ा बहुत सुलक्ता दिया है। इसीके त्राधार पर स्टर्टेंबन्टने आर भा॰ यू॰ में दोनों प्रकारको महाप्रारा ध्वनियाँ मानी हैं, जो वस्तुतः त्र्यत्पप्रारण ध्वनियों का, प्राचीन भारत-हित्ताइत भाषामें <mark>पायी जानेवाली</mark> त्र्रघोष कएटनालिक [ Non voiced laryngeals ]—[', x] तथा सघोष कएटनालिक [ Voiced-laryngeals ] ( ,, अ ) के सम्पर्कसे जनित विकसित रूप है। त्रातः त्रा०मा० यू० माषामें चार प्रकारकी ध्वनियाँ प्रत्येक वर्गमें रही होंगी।

	अघोष ग्रहपत्रा०	अ०महा०	स॰अल्प॰	स॰ महा॰
करट्य	<b>क</b> [k]	ख [ kh ]	ग [g]	घ [gh]
तालब्य	क्य [k]	<b>ख्य</b> [ kh ]	ग्य [ हू ]	ध्य [ gh ]
क्रयठोष्ठव	क्व [ k <sup>w</sup> ]	ख्व $[\mathrm{kh}^w]$		ध्व [ghw]
दुन्त्य	त [ t ]	थ [ th ]		ध [dh]
ओष्ट्रय	<b>ч</b> [р]	<b>ጥ</b> [ ph ]		ਸ [ bh ]

<sup>3.</sup> Language. (American linguistic Journal). 1926, Vol. II. P. 178.

<sup>7.</sup> Sturtevant: Indo-Hittite Laryngeals. ch. V. pp. 66 and following.

श्रादिम भारत यूरोपीय भाषाकी दोनों प्रकारकी महाप्राण स्वावियों के संस्कृतने श्राचुरण वनाये रक्खा है। श्रोकमें जाकर महाप्राण सवीव ध्वनियाँ केवल श्रवीष महाप्राण ख, थ, फ, [kh, th, ph] रह गई हैं। ईरानी, जर्मन तथा वाल्तोस्लाविकमें सबीप महाप्राण ध्वनियाँ, सबीप श्रल्पप्राण ग, द, ब हो गई हैं। लैतिन तथा केल्तिकमें इनमेंसे कुछ, सोष्म रूप हो गई हैं। जैसा कि हम श्रगले परिच्छेदमें देखेंगे श्रा०भा०यू० ख थ फ ध्वनियाँ ईरानीमें भी सोध्म ख, थ, फ हो गई हैं। श्रा०भा०यू० में एक ही पदमें एक साथ दो महाप्राण ध्वनियाँ पाई जाती थीं, किन्तु श्रोक तथा संस्कृत श्रादिमें श्राकर प्रथम ध्वनियाँ पाई जाती थीं, किन्तु श्रोक तथा संस्कृत श्रादिमें श्राकर प्रथम ध्वनिकी शाणता छुत हो जाती है। संस्कृतसे दधार, बभ्व, ब्रभोज, चलाद, जधान, श्रादि कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ ग्रोकमें श्रा० भा० यू० की प्रायः सभी स्वर ध्वनियाँ विद्यमान हैं, वहाँ व्यञ्जन ध्वनियोंकी दृष्टिसे संस्कृत, श्रा० भा० यू० भाषाका सच्चा प्रतिनिधित्व करती है।

इन ध्वनियोंके ग्रितिस्त ग्रा॰ भा॰ यू॰में एक सोष्म ध्वनि स भी थी। यह ध्वनि उस भाषामें परिक्षित्वनुक्ल ग्रघोष तथा सद्योष [ज़] दोनों रूपोंमें पाई जाती थी। ग, द, ब ग्रादि सघोष ध्वनियोंके पूर्व होने पर यह सद्योष ज़ के रूपमें उच्चरित होती थी। ज़ का यह रूप ग्रवेस्तामें मिलता है, जब कि ग्रघोष स ध्वनि वहाँ ह हो गई। संस्कृतमें स का ग्रघोष रूप ही पाया जाता है। ग्रीकमें पदादि ध्वनि स, ह हो गई है, किन्तु पदमध्य या पदान्तमें वह 'स' ही रही है। लैतिनमें पदमध्य स ध्वनि 'रेफ' [र] हो गई है। इस सिद्धान्तके विभिन्नभाषीय उदाहरण यथावसर संस्कृत ध्वनियोंका विवेचन करते समय दिये जायँगे। ग्रा॰ भा॰ यू॰में दो प्रकारकी शुद्ध प्राण्ध्वनि —एक ग्रघोष 'ह' ध्वनि तथा दूसरी सघोष 'ह' ध्वनि—रही होंगी। स्वयं

१. यही सिद्धान्त "प्रासमानके उपनियम" [ Grasmann's Corollary ] के नामसे भाषाशास्त्रमें प्रसिद्ध है।

संस्कृतमें ही दोनों प्रकारकी प्राणध्वनि मिलती है— अघोष शुद्ध प्राणध्वनि "विसर्ग" [:] के रूपमें, सघोष प्राणध्वनि ह के रूपमें।

हिन्द-हित्ताइत ध्विनयाँ:—स्टरेंबन्ट तथा श्रीर भी दूसरे विद्वान् श्रा० भा० यू० भाषाके पहले भी श्रादिम भारत-हित्ताइत या श्रादिम हिन्द-हित्ताइत [Proto Indo-hittite] भाषाकी कल्पना करते हैं। ईसा पूर्व १४ थीं शताब्दीके हिताइत साम्राज्यके इष्टिकालेख जो तुर्कीके बोगाज़-कुई स्थानसे प्राप्त हुए हैं, एक श्रीर श्रार्य भाषाका संकेत करते हैं, जिसे हिताइत नाम दिया गया है। यह भाषा, किल्पत श्रा० भा० यू० की बहिन मानी जाती है, श्रीर इस तरह एक दितारकि चिह्नत [Double-starred] भाषाकी कल्पना करनी पड़ती है। यहाँ संदोपमें इस किल्पत हिन्द हिता-इत भाषाकी ध्विनयोंका संकेत कर देना श्रनावश्यक न होगा।

स्वर:—ए [e], ए [e], आ [o], ओ [o], तथा [a] [यह स्बर हीन [ unaccented ] ए [e] का रूप था]।

[विद्वानोंके मतानुसार इन पाँचों स्वरध्वनियोंका मूल ए [6] ध्वनि

अन्तःस्थ--य [y], व [w], र [r], ल [l], न [n], म [m] कराउनासीय ध्वनि----, , , x, y.

[प्राग्रध्वित—अघोष ह [h h] तथा सघोष ह [h]-ये दोनों अलग से ध्विनयाँ न होकर क्रमशः X तथा ४ के रूप थीं।]

स्पशंब्यक्षन—क [k], त [t], प [p], ग [g], द [d], ग [b], घ [gh], घ [dh], म [bh]

सोष्म—स [s] .

इन ध्वनियों में चार करड़नालीय ध्वनियों का विशेष महत्त्व है । इनमें द्वितीय तृतीय अघोष करड़नालीय ध्वनियाँ है, इतर दो सघोष कर्डनालीय। प्रथम दो का वास्तविक ग्रास्तित्व नहीं है, केवल कल्पनाके ग्राघारपर उनकी सत्ता सिद्ध है।

१. , करठनालीय ध्वनिकी सत्ता निषेधात्मक है। कई स्थान पर आ॰ मा॰ हि॰ ए-श्र के रूपमें परिवर्तित नहीं होते। इसके कारण स्वरूप वहाँ इस स्वोष करठनालीय ध्वनिका ग्रानुमान किया गया है। जैसे—

हि॰ एप्प [epp-] [ले जाना], सं॰ आप्नोति, आ॰ भा॰ यू॰ 
\*'एप्' [\*ep-]—आ॰ भा॰ हि॰ \*\* '॰' р [१ए१प]

हि॰ एस [बैठना], सं॰ आस्ते, ग्रीक हेस्ताइ [hestai], आ॰ भा॰

यू॰ <sup>÷</sup>एस्<sup>÷</sup> [es−]; आ॰ सा॰ हि॰ <sup>≠‡</sup>'e's [१ए१स्]

रे., करठनालीय व्विन भी निषेधात्मक है। यह व्यिन भी लुप्त हो गई होगी। कई स्थलोंमें हिताइत ऋ लैतिन, ग्रीक तथा केल्तिकमें ऋ ही पाया जाता है। इसके ऋाधारपर स्विस भाषाशास्त्री फर्दिनॉद द सोस्यूर [Ferdinand de Saussure] ने यह ऋनुमान किया कि ऋादिम भाषाभें कोई 'अन्रंजित' [a-coloured] करठनालिक व्यिन रही होगी। यह व्यिन ए को ऋ बना देती होगी। जैसे, 'हित्ता॰ मेम-इ' [mema-i] [कहना], संस्कृत. मन्यते [याद करना]।

३. x-यह ध्विन ग्रिघोष थी तथा ए को आ के रूपमें परिवर्तित कर देती होगी। हित्ताइतमें इसका रूप h [ h ] पाया जाता है जैसे हि॰ nehhi [ नेहि] [ मैं ले जाता हूं ], भा॰ हि॰ \*\* ne'ixa. सं. नयामि

इस ध्वनिका पता कुरिलोवित्स ने चलाया था।

४. ४ यह सघोष कएठनालिक ध्वनि थी, इसका ग्रस्तित्व हित्ताइतमें स्पष्ट है। हिताइतमें इसका h रूप पाया जाता है। यह स्वयं हित्ताइत भाषामें ए के बाद अव्यवहित रूपमें प्रयुक्त होती है। ४ इस प्रकार x का सघोष रूप है। यथा, हि॰ मेहुर् [ mehur ] [ समय ], सं॰ मितः, मिमाति, मात्रं, मितः; श्रीक मेतिस् [ metis ] [ बुद्धि ] मेत्रोन् [ metron ] [ माप ] छै॰ मेतिश्रोर [ metior ] [ माप ], गॉ थिक मेल [ mel ) [समय] भा॰ हि॰ \* मेर् [ \*\*mer—].

इन चार क्राउनालिक र्घ्यानयोंके ग्रन्वेषणका महत्त्व इसलिए है कि इसने एक ग्रोर ग्रा० भा० यू० भाषाकी स्वर-ध्विनयोंकी समस्याको, दूसरी ग्रोर उसकी महाप्राण ध्विनयोंकी समस्याको सुलभाया है।

आदिम भारत यूरोपीय पद-रचना—भाषाशास्त्रके दूसरे तत्त्व पद-रचनाको लेते हुए हम देखते हैं कि संस्कृत ग्रा॰ मा॰ यू॰ रूपोंका पूर्णः रूपसे प्रतिनिधित्व करती है। ग्रा॰ मा॰ यू॰ सुप् विभक्तियाँ प्रथम या तो किसी द्रव्य तथा क्रिया ग्रथवा द्रव्य तथा द्रव्य [ यथा पष्ठी, रामस्य पुत्रः, मंं ] के पारस्परिक संबंधको तथा दूसरे, द्रव्यके वचनको व्यक्त करती थीं। इस प्रकार ये विभक्तियाँ क्रमशः कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, संबंध, ब्राधिकरण एवं सम्बोधन कारकको व्यक्त करती हैं, जिन्हें हम संस्कृतके ढंग पर चाहें तो प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी तथा संबोधन कह सकते हैं। वचनकी दृष्टिसे ये विभक्तियाँ एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचनमें विभक्त थीं। इस परिवारकी समस्त भाषात्रों में ये ग्राठ विभक्तियाँ तथा तीन वचन केवल संस्कृत भाषामें ही उपलब्ध हैं। इसमें भी ध्यान देने पर पता चलेगा कि यद्यपि संस्कृतमें द्विवचन पाया जाता है, तथापि यहाँ स्त्राठीं विमक्तियोंके द्विवचनमें तीन ही रूप पाये जाते हैं, यथा, रामौ कर्ता, कर्म, संबोधन द्वि-व०], रामाभ्याम् [ करण, सम्प्रदान, श्रपादान द्विव० ] रामयोः [ संबंध, अधिकरण द्विव ]। इससे स्पष्ट है कि संस्कृतमें भी द्विवचन विशेष संकु-चित रूपमें पाया जाता है। अन्य भाषात्रों में प्राचीन ग्रीकमें यह पाया जाता हैं, किन्तु लैतिनमें लुप्त हो गया है। प्राचीन चर्च स्लावोनिक एवं लिथुत्रा-

देखिये परिशिष्ट अ में संस्कृत, श्रीक व लैतिन शब्दोंके रूप।

नियनमें यह ग्रवश्य पाया जाता है, किन्तु ग्रत्यधिक संकुचित रूपमें। जर्मनीय वर्गकी प्राचीन भाषा गाँथिकमें दिवचन केवल सर्वनामके रूपोंमें पाया जाता है। विभक्तियोंकी संख्या भी संस्कृतमें ग्राट है, ग्रीक तथा चर्च स्लावोनिकमें छः, गाँथिकमें केवल चार ही।

सुप् विभक्तियों के चिह्नोंकी ग्रोर ग्राते हुए हम देखते हैं कि इन कई भाषाग्रों में ये चिह्न एक-से हैं। उदाहरणके लिए प्रथमा विभक्ति एक वचनका चिह्न \*'स्' [संस्कृत सुप्], द्वितीया एकवचनका \*'म्' [सं॰, ग्रम], तथा पष्टी बहुवचनका \*ग्रोम् [जो संस्कृतमें ध्विनियमसे 'ग्राम' हो गया है, जैसे रामाणाममें] ले छें। इनमें संस्कृत दृक शब्दके कमशः वृकः, वृकम्, तथा वृकाणाम् रूप होंगे, जिनके ग्रा॰ मा॰ यू॰ रूप \*ब्लुकास् [wlkos], \*ब्लुकम् [wlkm], तथा \*ब्लुकोम् [wlkom] रहे होंगे। इसी प्रकार संस्कृतके 'भ' व्यञ्जन ध्विनवाले विभक्तिचिह्न भ्याम, भिस्, भ्यस् भी ग्रा॰ भा॰ यू॰ से ही जिनत हैं। यह 'भ' संस्कृत, लैतिन तथा ग्रामीनियनमें पाया जाता है, किन्तु जर्मन तथा बाल्तो—स्लाविकमें यह 'म' हो गया है।

सं॰ भ्यस् [भ्यः], लैतिन, बुस् [bus], गॉथिक, म् [m] [सम्प्रदान बहुव॰, [Dative plural], लिथुश्रा॰ मुस् [mus] श्रा॰ भा॰ यू॰- \*भ्यस् [\*bhyas]। ग्रीकमें ग्राकर यह \*भ, फ हो गया है, किन्तु ग्रीकमें संस्कृत भिस्-भ्यस् के समानान्तर रूप केवल होमरकी भाषामें ही पाये जाते हैं, वादकी साहित्यिक ग्रीकमें नहीं। होमरमें हमें "नाउफि" [nauphi] रूप मिलता है, जो संस्कृतके नौभिः के समानान्तर है। इतना होते हुए भी एक श्रोर कुछ भाषाश्रोंमें भ तथा दूसरी भाषाश्रोंमें म पाये जानेले यह भ-मकी समस्या पूरी नहीं सुलभती। यही कारण है कि करण, सम्प्रदान तथा श्रपादानमें कई विद्वानोंने श्रा॰ भा॰ यू॰ में \*म-वाले तथा \*भ-वाले दो

तरहके द्विवचन, बहुवचन रूप माने हैं। इस प्रकारकी कल्पना की गई है कि इन दोनों में ग्रा० भा० यू० — म चिह्न संज्ञात्रों में (विशेषणों में भी) पाया नाता था, तथा— म चिह्न सर्वनामों के रूपों में । किन्तु वादमें जाकर सादृश्यके ग्राधारपर कुछ भाषात्रों में सभी रूप म— वाले हो गये, तो कुछमें सभी भ—वाले । संस्कृतके तृतीया, चतुर्थी तथा पंचमीके द्विवचन तथा बहुवचनमें यह भि [— भ्याम्, — भिस्, — भ्यस्] है।

वेदमें प्रथमा विभक्तिके बहुवचनके रूप "-श्रासस्" से भा बनते हैं, यथा "देवासः"। मेथेके मतानुसार जिन शब्दोंके मूल रूपोंमें रूए, रश्ना स्वर पाये जाते थे, उनके प्रथमा बहुवचनको श्रन्य मूल रूपोवाले शब्दोंके समान श्रच्त्संख्यावाले बनानेके लिए, वैदिकमें "श्रास्" को "आसस्" बना दिया गया था। उदाहरणके लिए संस्कृत द्वयच्तर [disyllabic] शब्द "देव" के बहुवचन "देवाः" को, जो द्वयच्तर है, "श्रिह" जैसे इकारान्त या "विष्णु" जैसे उकारान्त शब्दोंके प्रथमा बहुवचन श्रह्यः या विष्णुवः के साहश्यके ग्राधारपर व्यच्तर [Trisyllabic] शब्द बनाकर "देवासः" रूप दे दिया गया। इस मतने एक बातकी ग्रीर पृष्टि की कि संस्कृतके कई इकारान्त तथा उकारान्त शब्द भी ग्रा० मा० यू० जिनत माने जा सकते हैं।

सुप् विभक्तियोंकी भाँति संस्कृतकी तिङ् विभक्तियाँ भी ग्रा० भा० यू० भाषाकी तिङ् विभक्तियोंका रूप देनेमें पूर्णतः समर्थ हैं। इसके लिए पहले हमें यह समक्ष लेना होगा कि ग्रा० भा० यू० कियात्रोंके रूपोंका साद्मात् संबंध व्यापार-विशेषके कालसे न होकर उस व्यापार-विशेषके प्रकारसे था। भूतकालकी द्योतित करनेवाले ग्रा० भा० यू० पेए के सिवाय, जो ग्रीक, संस्कृत तथा ग्रवेस्तामें पाया जाता है, ग्रान्य कोई भी चिह्न ऐसा नहीं

Neillet: Introduction et L'etude Comparative de Langues Indo-europeennes. pp. 259-60. also. Wackernagel: Altindische Grammatik Vol. 3. P. 13. § 4 [h].

है, जो ग्रा॰ भा॰ यू॰ क्रिया रूपोंको किसी काल विशेषसे सीमित करता हो । उदाहरणार्थ, संस्कृतके '[परोच्चभृते] लिट्'को ले लीजिये, जो परोच्चरूपमें त्रपूर्णं व्यापारके लिए प्रयुक्त होता है, वेदमें यह भृतकालके लिए प्रयुक्त न होकर क्रियाके प्रकार-विशोषका ही बोध कराता है, जैसे "स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हिवपा विधेम" इस ऋचर्धमें "दाधार" का ग्रर्थ "श्र<mark>धारयत्'' न होकर "धारयति''</mark> है। वैदिक संस्कृतकी भाँति इसके समानान्तर रूपोंका प्रयोग होमरकी श्रीकमें कालसीमित न होकर प्रकार-बोधक ही है। किन्तु बादमें जाकर ये कियारूप वहाँ भी साहित्यिक [लोकिक] संस्कृतकी भाँति कालसीमित हो गये हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि आर भा॰ यू॰ भाषा बोलनेवाले ''वीरोस्'' त्रार्य भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्<mark>के</mark> कालमेदसे पूर्णंतः परिचित न थे। सभ्यताके विकासके कारण धीरे-धीरे वे इनके भेदसे परिचित हो गये, किन्तु इनके ग्राभिव्यंजनके लिए वे उन्हीं क्रिया रूपोंका प्रयोग करते थे, जिनका व्यापार मूलरूपमें भिन्न था। इस प्रकार हम देखते हैं कि मौलिक रूपमें आर भार यूर क्रियाओंकी पद्धति लौकिक संस्कृतकी क्रियापद्धतिसे सर्वथा भिन्न है, किन्तु यह भेद उनकी अर्थ-संबंधिनी [सिमेंटिक] विशेषतासे संबद्ध है।

सर्वप्रथम हम ग्रा॰ भा॰ यू॰ किया रूपोंको निर्देशात्मक [Indicative] हेत्वात्मक [संस्कृत हेतुहेतुमत्], [Conditional or subjunctive] विध्यात्मक [Optative] तथा ग्राज्ञात्मक [Imperative] इन कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं। निर्देशात्मक कोटिमें दो काल माने जा सकते हैं भृत तथा वर्तमान। भृतकालका द्योतक [पुरः सर्ग] \*ए [सं॰ भ्रा, ग्रीक ए [e]] कियाके मूल रूपके पहले जोड़ दिया जाता था। संस्कृत ग्रादिशत् तथा ग्रीक एदेको में इसे देखा जा सकता है। वर्तमानके संस्कृत 'लट्' तथा [परोच्चभृते] लिट् दोनोंमें समानान्तर रूपोंका प्रयोग किया जाता था। हेत्वात्मक तथा विध्यात्मकमें धातु तथा तिङ् विभक्तिके बीचमें \*ए-,

\*,-श्रो, तथा -'\*यू ए'-,\*इ-को जोड़ दिया जाता था। श्राज्ञा रूपोंके लिए कोई विशेष प्रकारका चिह्न नहीं था। कभी कभी कोरा धातु रूप ही त्राज्ञात्मक रूपमें प्रयुक्त होता था, इसका संकेत हम संस्कृत लोट्के मध्यम पुरुष एकवचनके रूप 'भर', 'पठ' त्रादिसे पा सकते हैं। त्रा० भा० यू० भाषामें संस्कृतकी भाँति कर्नु वाच्य तथा कर्मवाच्य दो रूप रहे होंगे। कर्नु-वाच्य पुनः संस्कृतकी भाँति ही परस्मैपदी तथा त्र्यात्मनेपदी इन दो रूपोंमें पाया जाता होगा। ब्रीकमें भी परस्मैपदी [एक्टिव वॉयस], ब्राह्मनेपदी [मिडिल वॉयस] तथा कर्मवाच्य पिसिव वॉयस) ये तीन रूप पाये जाते हैं। इनमें परस्मै तथा त्रात्मने दोनों प्रकारके पदोंके भिन्न प्रकारके तिङ् विभक्ति-चिह्न थे। उन्हींसे वादके विभक्ति चिह्न विकसित हुए हैं। ये विभक्तिचिह्न पुनः दो प्रकारके माने जा सकते हैं: - मुख्य तथा गौरा। मुख्य चिह्नींका प्रयोग वर्तमान [निर्देशात्मक] तथा हेतुहेतुमत्के साथ होता था। जब कि गौण तिङ् विभक्तिचिह्न ग्रपूर्ण भूत, लिट् [जो ऋा० भा० यू० में वर्तमानमें प्रयुक्त होता था], तथा विध्यात्मक रूपों में जोड़े जाते थे। संस्कृतके कई तिङ् विभक्तिचिह्नोंको हम त्रा० भा० यू० का ही विकसित रूप पाते हैं, यथा-सं०−मि,−ए प्रा॰ भा॰ यू॰ \*मि [mi], \*श्रइ [ai]

सिं० भरामि, ददेी ,,−सि,−से \* सि [si], \*सइ [sai] 23 [सं० भरसि, दत्से] ,,-ति,-ते \*ति [ti] \*तइ [tai], श्रह [ai] 23 भिरति, दसी \*मस् \*मास् [\*mes,\*mos], ,,-सः,-महे 33 \*मध्अ [\*medhe-] [भरामः, दबहे] ,,-थ,-ध्वे ,,-ग्रन्ति,-न्ते \*ते [te] \* × [भरथ, दध्वे] ,, \*एन्ति [-न्ति] \*[enti,-nti] \*न्तइ [\*-ntai] [भरन्ति, भाषन्ते] इसे ग्रौर स्पष्ट करनेके लिए हम यहाँ नीचेके चतुरस्रमें ग्रा॰ भा॰ यू॰, ग्रीक व संस्कृतके वर्तमान निर्देशात्मक रूपोंको सोदाहरण स्पष्ट कर देते हैं---

तिङ् चिह्न, वर्तमानः कर्तृवाच्य, परस्मैपदी

अरा० सा० यू० तिङ्चिह		
	संस्कृत रूप	ग्रीक रूप
*भर् [bher-] एकवचन उ० पु०	मृ-[ भर् ]	फरो [phero]-[ले जाना]
*मि [*mi], श्रो [o]	भरामि	फरो [phero]
*सि [*si] ऋ० पु०	भरसि	फरइस् [phereis]
*ति [*ti] बहुवचन	भरति	फरइ [pherei]
ड॰ पु॰  *सस्, मास् [mes,  mos]  म॰ पु॰	भरामः	फरामस् [pheromes]
<b>∻a [</b> te]	भरथ	फरत [pherete]
अ॰ पु॰ प्रेन्ति, आन्ति,—न्ति [enti, onti,—nti]	भरन्ति	फरा-न्ति [pheronti]

त्रादिम भारत-यूरोपीय भाषामें भविष्यत् सर्वथा नहीं था। इसकी व्यंजना निर्देशात्मक वर्तमानके द्वारा ही कराई जाती थी; जैसे "में जाऊँगा" के लिए "में जाता हूँ" का प्रयोग। कभी कभी हेतुहेतुमत्के द्वारा भी भविष्यत्की व्यंजना कराई जाती थी। इसके रूप होमरकी भाषामें पाये जाते हैं। भविष्यत्की व्यंजनामें एक तीसरे प्रकारका प्रयोग भी मिलता है, जहाँ धातु तथा वर्तमानके तिङ् चिह्नोंके बीच कभी कभी 'स्' जोड़ दिया जाता था। प्रीक तथा संस्कृतके भविष्यत् रूप वर्तमानमें इसी 'स्' [स्य] को जोड़ कर बनाये जाते हैं। यथा सं भरामि-भरिष्यामि [\* भरिस्यामि], प्रांक करो [ phero; I bear ]; फरसो [pherso; I shall bear], जो प्राचीन भारतयूरोपीय रूप भर्-स्-िम [श्रो] [\*bher-s-mi (-0)] की श्रोर संकेत करते हैं। लौकिक संस्कृतमें ग्राकर ये चार विधियाँ [moods] तथा दो काल [tenses] ही तीन काल तथा दस लकारोंके रूपमें विकसित हो गये हैं।

भाषाशास्त्रियोंने तुलनात्मक ग्रध्ययनके ग्राधारपर इस काल्पनिक भाषा-की ध्वनियाँ, तथा पदरचनाका तो पता लगा लिया है, किन्तु वाक्यरचनाके ग्रानुमानिक रूपकी पुनःसृष्टि [ Reconstruction ] करनेमें वे समर्थ नहीं हुए हैं । यह सफलता तभी हो सकती है जबिक इस परिवारकी विभिन्न भाषात्र्यांकी वाक्यरचनाके तुलनात्मक ग्रध्ययनके ग्राधारपर तारक-चिह्नित शब्दोंसे निर्मित काल्पनिक वाक्योंकी रचना की जाय । वैसे कुछ विशेषताग्रोंका पता भाषाशास्त्रियोंने लगाया ग्रवश्य है । ये विशेषताएँ ऋग्वेदके मंत्रोंकी पदरचनामें पाई जाती हैं । ऋग्वेदके मंत्रोंमें प्रायः सर्वनाम-वाक्यमें द्वितीय स्थानपर प्रयुक्त होते थे, यद्यपि कभी कभी इस प्रकारका प्रयोग संदिग्धता भी पैदा कर सकता है । जैसे "ने न मेऽनिचेंश्वानरो मुखान्निष्पद्याते" जिसमें "मे" का ग्रन्वय अनिः के साथ होनेका संदेह होता है, यद्यपि उसका संबंध मुखात् से है । इसका ग्रर्थ यों है:—"ग्रतः ग्राग्न वैश्वानर मेरे मुखसे बाहर न गिरे ।" इस विशेषताका सन्तोषजनक कारण तो पता नहीं, किन्तु जर्मन विद्वान् वाकेरनागेलके मतानुसार यह विशेषता ग्रीक तथा ग्रन्य भा॰ यू॰ भाषात्रों में भी पाई जाती है। संभव है, यह ग्रा॰ भा॰ यू॰ भाषाकी वाक्यरचनात्मक विशेषतात्रों मेंसे एक रही हो।

जहाँ तक इस परिवारकी भाषात्रोंके त्रादिम शब्दकोषका प्रश्न है, सम्यता के उपःकालमें प्रयुक्त शब्द प्रायः इन सभी भाषात्रोंमें एक-से पाये जाते हैं। पिता, माता, भ्राता, भगिनी, दुहिता, जामाता, उदक, त्रापः, त्राग्नि, जिनता, दमा त्रादिके समानान्तर शब्द त्रान्य भा० यू० भाषात्रोंमें भी मिल जाते हैं। सबसे बड़ी विशेषता, जिसका त्रानुमान त्रा० भा० यू० भाषाकी संज्ञान्नोंके लिंगके विषयमें किया जा सकता है, यह है कि वहाँ पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंगका विभाजन पुरुष, स्त्री या त्राचेतन पदार्थसे संबद्ध नहीं था, त्रापितु लिंग तक्तद्धावका बोधक था, जो किसी भी व्यक्ति या वस्तुकी किसी विशेषतासे संबद्ध था। हम देखते हैं कि संस्कृत 'दार' शब्द पुलिंग है, साथ ही बहुवचन भी, इसी तरह कलत्र तथा मित्र नपुंसक हैं।

इस प्रकार हमने वैदिक संस्कृत तथा ग्रीक जैसी भारत यूरोपीय परि वारको समस्त भाषाग्रोंकी किल्पत जननीके भाषाशास्त्रीय रूपका संन्धित ग्रध्ययन किया। यद्यपि भाषाग्रोंके पारस्परिक संबंधको व्यक्त करनेके लिए माता, पुत्री, पौत्री, भिगनी, मातृष्यसा ग्रादि ग्रोपचारिक शब्दोंका प्रयोग किया जाता है, तथापि शुद्ध भाषाशास्त्रीय ग्रध्ययनकी दृष्टिसे इस प्रकारके ग्रोपचारिक शब्दोंसे बचना ही श्रेयस्कर है। वैसे हम स्वयं भी परम्परागत रूपमें इस प्रकारकी ग्रोपचारिक पदावलीका प्रयोग इसी परिच्छेदमें कर चुके हैं। शास्त्रीय दृष्टिसे भाषाग्रोंका जीवन 'विकासवाद' से ग्रत्यिक प्रभावित है। जिस प्रकार प्राणिशास्त्रके मतानुसार प्राणी [जन्तुविशेष] विकसित होकर विभिन्न स्थितियोंसे गुजरता है, ठीक उसी प्रकार भाषा भी उत्पन्न न होकर विकसित होती है। प्राकृत, वैदिक संस्कृतकी पुत्री न होकर वस्तुतः किन्हीं परिस्थितियोंके कारण उसका ही परिवर्तित या विकसित रूप है। कुछ विद्वान इस 'विकास' को 'हास' संज्ञा देते हैं। किन्तु भाषाका हास न होकर विकास ही होता है। इस विकासके नियामक तत्त्व भौगोलिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियाँ हैं, जो किसी भाषाकी ध्विन, पदरचना,
वाक्यरचना तथा शब्दकोषमें परिवर्तन करती हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं
कि वह भाषा उस पूर्व रूपसे सर्वथा भिन्न है। वस्तुतः वह उसीका विकसित
रूप है। भाषाके वास्तिवक मूल तत्त्व उसमें भी ठीक उसी रूपमें विद्यमान
हैं। हम यों कह सकते हैं कि भाषाके विकसित रूपोंके संबंधमें सांख्य
दर्शनका परिणामवाद या सत्कार्यवाद वाला सिद्धान्त मानना अनुचित नहीं
होगा। प्राचीन संस्कृत विद्वान् भाषामें विकास न मानकर हास मानते हैं।
प्राकृत तथा अपभंशकों वे संस्कृतका 'पितत' रूप मानते हैं। इसीलिए
कान्यकुक्षेत्रवर गोविंदचंद्रके राजपिडत दामोदर भट्टने अपने समयकी
अपभंश [प्राचीन कोसली अवधी के द्वारा राजकुमारोंको संस्कृत सिखानेके
लिए बनाये गये अन्थ "उक्तिव्यक्तिप्रकरणम्" में लिखा है "हम थोड़े
से परिवर्तनोंसे ही अपभंश [देशभाषा] को संस्कृत बनाते हैं। यह [देशभाषा] ठीक उसी प्रकार संस्कृत वन जावगी जैसे कि पतित ब्राह्मणी प्रायश्चित्त करनेपर पुनः ब्राह्मणी वन जाती है।"

पर फिर भी शुद्ध भाषा वैज्ञानिक दृष्टिसे किसी भाषाको भ्रष्ट, पतित या ह्यासोन्मुख कहना त्र्यवैज्ञानिक ही माना जायगा ।

१. डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदीका मत है कि यह 'कोसली श्रक्धी' न होकर प्राचीन भोजपुरी है। किन्तु डॉ॰ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याने, जो इस ग्रंथके सम्पादक हैं, श्रपनी विस्तृत भूमिकामें इसे प्राचीन कोसली श्रवधी ही कहा है।

२. पतिता बाह्यणी कृतप्रायश्चित्ता बाह्यणीत्विमिति चेति । —-- उक्तिन्यक्तिप्रकरणस् पृ० ३

## संस्कृत तथा अवेस्ता [ भारत-ईरानी शाखा ]

<mark>श्रार्योंका एक दल मध्य-एशियासे चल कर ईरानकी श्रोर बढा । यह</mark> दल सर्वप्रथम खीवाके शाद्वलमें ग्राकर रुका । इस समय तक यह दल अविभाजित था। यहींसे यह दल दो वर्गों में विभक्त हो गया। एक दल पश्चिमकी श्रोर बढ़ा, दूसरा दिवण-पूर्वकी श्रोर । प्रथम वर्ग ईरानमें स्थित हो गया, दूसरा दल गांधार देशको पार कर खै बर तथा बोलानके दराँके द्वारा सप्तसिन्धु प्रदेशमें प्रविष्ट हुन्था। यद्यपि खीवाके शाद्वल तक इन दोनों दलोंकी भाषाका एक ही रूप था, तथापि वादमें भौगोलिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक कारणोंसे दोनों वर्गोंका विकास अपने अपने रूपमें हुआ। फिर भी थोड़े ध्वनिपरिवर्तनोंके श्रातिरिक्त, श्रारंभमें ये भाषाएँ एक-सी ही थीं। श्रारंभमें तो ईर्राानयों तथा वैदिक ग्रायोंके पितामह एक-सी ही भाषा बोलते थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह सिद्ध हो चुका है कि ईरानियों तथा वैदिक ब्रायोंके पितामह चिरकाल तक एक ही समाजके व्यक्तिके रूपमें साथ साथ रहे थे; उनकी सामाजिक रीति-नीति एक सी ही थी, जो ऋग्वेद तथा श्रवेस्ताके तुलनात्मक श्रध्ययनसे स्पष्ट है। वेद तथा श्रवेस्ताकी भापा तो परस्पर इतनी निकट है कि प्रायः ऐसा कहा जाता है कि ग्रावेस्ताकी भाषा कालिदासकी संस्कृतकी ग्रंपेचा वैदिक संस्कृतके विशेष निकट **त्र्यवेस्ता तथा** वेदोंकी भाषात्रोंभें उससे कहीं त्र्राधिक भेट नहीं है, जितना कि ग्रीक भाषाके प्राचीन शिलालेखोंमें उपलब्ध विभाषात्रोंमें पाया जाता है। दोनों भाषात्र्योंकी संघटना इतनी समान है कि अवेस्ताकी गाथाकी भाषाको कतिपय व्वनिनियम संबंधी परिवर्तनोंके त्र्याधारपर वैदिक संस्कृतके रूपमें परिवर्तित किया जा सकता है। उदाहर एके लिए अवेस्ताके दशम यस्नकी ऋष्टम गाथाको लीजिये। गाथाका मूल रूप यों है:---

यो यथा पुत्र अम् तउरुन्अम् हन्त्राम्अम् वन्द्रपता मश्यो । [ yo yaba pubrom taurunom haomom wandaeta mas yo.]

फ़ श्राब्यो तनुब्यो हश्रामो वीसइते वएशजाइ ॥ [pra abyo tanubyo haomo wisaite baes azai] इस गाथाको हम वैदिक संस्कृतमें इस प्रकार परिवर्तित कर सकते हैं:—

यो यथा पुत्रं तरुणं सोमं वन्देत मर्त्यः। प्र श्राभ्यः तनुभ्यः सोमो विशते भेषजाय॥

यहाँ हम देखते हैं कि दोनोंमें वास्तविक भेद ध्वन्यात्मक ही है। ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे भारतेरानी [ Indo-Iranian ] शाखाकी इन दोनों भाषात्रोंमें प्राचीन भारत-यूरोपीय \* ए, \*आ, \*आ, का भेद नहीं रहा है। यहाँ त्याकर ये सभी ऋ तथा इनके दीर्घ रूप ऋग हो गये हैं। ग्रीक भाषामें इनका भेद बना रहा है। अतः यह स्पष्ट है कि यह परिवर्तन वैदिक ग्रार्य तथा ईरानियोंके पूर्वजींके द्वारा वोली जानेवाली प्राचीन भारत-ईरानी विभाषामें ही हो गया था। इस प्रकार ग्रीक एपि पततइ [epi petetai ] संस्कृतमें तथा अवेस्तामें कमशः [सं०] अपि पतितः [अवे०] श्रह्पि श्र-पत-त् [aipi a-pata-t] मिलेगा। प्रा० भा० यू० \*श्र इस शाखामें भी ऋ ही बना रहा है, यथा ग्रीक श्रक्मान [akmon], सं• अश्मन् , अवे॰ अस्मन् । अ की इस प्रकारकी बहुलताके कारण पहले ऐसा सोचा जाता था कि संस्कृत तथा ग्रवेस्ताने प्रा० मा० यू० रूपोंको ग्रप-रिवर्तित रूपमें सुरिच्चित रक्खा है, तथा ग्रीकमें यही 'श्रु' बाद्में जाकर त्रिरूप [अ, ए, आ ] हो गया है, किन्तु जैसा कि हम प्रा० भा० यू० के तीन क्एड्योंके विकासमें देखते हैं, इन त्रिरूप स्वरोंका बड़ा हाथ है। अप्रतः उस मतको छोड़ देना पड़ा तथा प्रा० भा० यू० में तीनों हस्व स्वरों—\*ग्र, \*ए, \*श्रो की सत्ता माननी पड़ी । जहाँ भी ग्रीक तथा लैतिनमें क्एड्य ध्वनिके

बाद 'ए' पाया जाता है, वहाँ 'सतं' वर्गकी भाषाश्रोंमें तालव्य रूप [ श, छु श्रादि ] मिलता है। यह तालव्यीभाव हिन्द-ईरानी शाखामें इ [ य् ] के पूर्व ही पाया जाता है; जैसे सं • ओजीयस् ; किन्तु सं • उग्र;अवेस्ता द्रओजिरत, किन्तु द्रओग—[सं • द्राधिष्ट ] । श्रतः यह कल्पना की गई कि वास्तविक रूपमें तालव्यीभावकारी भारत-ईरानी श्र, इ-रंजित [i-coloured] था, श्रर्थात् प्रा • भा • यू • रूपमें यह \*ए था । इसी श्राधारपर यह मत स्थापित किया गया कि प्रा • भा • यू • स्वरोंको ग्रीकने सुरच्चित रक्खा है, जब कि संस्कृत तथा श्रवेस्तामें ये सभी स्वरस्वनियाँ नहीं पाई जाती ।

यद्यपि भारत-ईरानी श्र प्रा० भा० यू० क्ष्, क्ष्या क्ष्य तीनोंसे निकला है, तथापि इसका एक ग्रपवाद पाया जाता है। प्रायः प्रा० भा० यू० क्ष, श्रा, क्ष्य संस्कृत तथा ग्रवेस्तामें श्र हो जाते हैं, किन्तु वे हस्य त्रिस्वर, जो ग्रीकमें इनके दीर्घ स्वर ए, श्रो, श्रा के ग्रपश्रुतिजनित रूप हैं, भारत-ईरानी वर्गमें श्र न होकर इ होते हैं। उदाहरणार्थ, ग्रीक शब्द ए, त-थेन' [etethen] को लीजिये जो भृतकालका रूप है। यहाँ ते में हस्य ए दीर्घ ए का ही ग्रपश्रुतिजनित रूप है, जो इसके वर्तमान कालके रूप तिथेमि में पाया जाता है। इसमें वास्तविक धातु थे [the] [\*धे, क्ष्यिमे में पाया जाता है। इसमें वास्तविक धातु थे [the] [क्ष्ये, क्ष्यिमे विकां ]। किन्तु संस्कृतमें यह क्ष्यत [क्ष्ति ] न होकर हित' [√धा+क] होता है। ग्रर्थात् ग्रीकमें जहाँ प्रा० भा० यू० दीर्घ क्ष्य हस्व रूप ए [व] पाया जाता है, वहाँ संस्कृत [भारत ईरानी शाखा] में 'इ' हो गया है। एक दूसरा उदाहरण ग्रीर लीजिये। प्रा० भा० यू०

१. यहाँ 'ओजीयस्, द्रओजिश्त, या द्राधिष्टकी 'ज' तथा 'घ' व्वनियाँ कएट्य 'ग' 'घ' का विकास है, उप्रमें वह 'ग' ही रही है, इ के कारण अन्यत्र 'ज' हो गई है, देखिये 'ग', 'ज' का विकास [प्रगले परिच्छेद में]।
२. दधातेहिं: ।

\*दो [\*do] धातु में 'ऋों' दीर्घ स्वर है, इसका वर्तमान रूप सवल रिथितिमें ग्रीकमें 'दिदोमि' [ didomi ] है। दुर्जलरूपमें ग्रीकमें यह भूतकालमें ए-दा-थेन् [ edothen ] हो जाता है, जो संस्कृतके 'ग्रदाम्' के समानान्तर है। लैतिनमें यह दुर्वल रूपमें ग्र होता है, यथा दत्तस् [datus] । किन्तु संस्कृतमें दुर्वल रूपमें इ पाया जाता है, जैसे सं० न्न्रदिथाः । इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ भारत-ईरानीमें 'इ' ध्वनि है, तथा ग्रन्यत्र [ ग्रीकके त्रातिरिक्त भाषात्रों में, क्योंकि ग्रीकमें तीनों ही स्वरोंका दीर्घ रूप दुर्वलस्थितिमें हस्य हो जाता है ] ऋ ध्विन है, वहाँ वास्तविक [मूल] रूपमें इन तीनों दीर्घ स्वरोंका वह दुर्वल रूप रहा होगा, जिसका कारण श्रप-श्रुति [Ablaut] है। इन दुर्वल रूपोंमें, वे धातु जिनमें स्वर हस्व था, उस स्वरको सर्वथा खो देते थे; किन्तु दीर्घ स्वरवाले घातुत्रोंमें इनका अवशोष एक त्र्यत्यधिक दुर्वेल स्थरके रूपमें त्र्यवश्य रह जाता था । यही दुर्वेल स्वर भाषा-शास्त्रमें 'श्वा [schwa] के नामसे प्रसिद्ध है, तथा इसके चिह्नके लिए रोमन उलटे ई [3] का प्रयोग किया जाता है। हम इसके लिए देवनागरीमें अ का प्रयोग कर रहे हैं। यही अ भारत-ईरानीमें इ हो गया है, ग्रीकके ग्राति-रिक्त श्रन्य भाषात्रोंमें यह श्र पाया जाता है, ग्रीकमें कभी तो यह भारत-ईरानी इ, अ रूपमें पाया जाता है, कभी नहीं पाया जाता ; यथा सं॰ पिता, त्रवेस्ता [फ़ारसी ] पिता, ग्रीक पतेर [pater], सं० स्थितः, ग्रीक स्ततास् [statos], सं िहतः ,ग्री व्यतास् [thetos]।

भारत-ईरानी शाखाकी दूसरी विशेषता य तथा व अन्तःस्य ध्वनियोंका विशेष प्रकारका प्रयोग है जो अन्य भारोपीय भाषाओं में नहीं पाया जाता। वेद तथा अवेस्ता दोनोंकी भाषासे ऐसा जान पड़ता है कि इ के पूर्व होनेपर य ध्विन तथा उ के पूर्व होनेपर व ध्विन लुत हो जाती

<sup>3.</sup> Wackernagel. Altindische Grammatik Vol. I. P. 16., § 15.

थी । उदाहरएके लिए संस्कृत श्रेष्ट को लीजिये, ग्रवेस्तामें इसके समानान्तर स्राप्त [spacs ta] शब्द मिलता है। यहाँ एक वात ध्यान देनेकी है कि ऋग्वेदमें श्रेष्ट शब्द पायः व्यक्तर [trisyllabic] माना गया है । त्रातः स्पष्ट है कि इसका मूल रूप 'श्रय्' है। श्रेष्ठ तथा श्रीर में ठीक वही संबंध है, जो सविष्ठ तथा शूर में, एवं दविष्ठ तथा दूर में है। अतः यह मानना त्रानुचित न होगा कि श्रेष्ट का वास्तविक संस्कृत रूप \*श्रविष्ट ग्रवश्य रहा होगा, तभी यह त्र्यक्र माना जा सकता है। यह \*श्रविष्ठ सर्वप्रथम \*श्रइष्ठ हुत्र्या होगा, बादमें श्रेष्ठ । इसी प्रकार ऋग्वेदके 'रेवत्' 'रविवत्' रूपोंको लिया जा सकता है जो दोनों ही रूपमें ऋग्वेदमें पाये जाते हैं। ग्रावेस्ताका रएवत् [raevat] भारत-ईरानी प्राचीन रूप रियवत् से \*रइवत् के द्वारा विकसित हुन्ना है। इसी त्राधारपर संस्कृतमें वे धातुरूप जो प्रायः प्राचीन रूपमें यि वाले थे, पदादि में केवल इ ध्वनिसे युक्त पाये जाते हैं। यथा √ यज् धातुके सन्नत रूप इयक्षा को ले लीजिये, जो ऋग्वेदमें पाया जाता है । <mark>लौकिक संस्कृतमें श्राकर सादृश्य</mark>के श्राधार पर इसमें फिरसे 'य्' जो<mark>ड़</mark> कर यियत्ता रूप बना दिया गया है। इस प्रकार ब्राह्मण ब्रन्थोंमें 'य्' वाला रूप पाया जाता है, यथा  $\sqrt{ यम् से 'वियंस—,' <math>\sqrt{ यम्'}$ से 'विवप्स-' । कुछ रूपों में लौकिक संस्कृतमें भी प्राचीन इ-वाला रूप ही वचा रह गया, जैसे 'थज्' धातुके परोच्चभृते लिट्के रूप 'इयाज' में । किन्तु इस संबंधमें व् ध्वनिके ऐसे विकासका उल्लेख नहीं किया जा सकता। अवेस्तामें इसके कोई उदाहरण नहीं मिलते, जहाँ उ के पूर्व होनेपर व् का इस प्रकारका लोप पाया जाता हो । साथ ही 'व्' 'उ' जैसी ध्वनियोंका संयोग प्राचीन भारत-यूरोपीयमें न्यून था। संस्कृतमें यदि कहीं भा० यू० व् का उ रूप पाया जाता है तो 'र्' [रेफ] के स्वरीभृत रूप [ऋ] के कारण । यथा सं० उरा, अर्मि को कमशः पा० भा० यू० \*वरेन् [wrren] [देखिये भ्रोक वरेन [ waren] तथा \*वृम [wrma] [ प्रा॰ हाई जर्मन वल्म [walm] से विकसित माना जा सकता है। यह विशेषता केवल संस्कृतमें ही पाई जाती है। ग्रावेस्तामें यह 'व' 'व' ही बना रहता है, सं॰ उरः, श्रावेस्ता वरो [waro], सं॰ उर्गा, श्रावे॰ वर्अन [warən] संस्कृत कियाके परोत्तम्ते लिट्में यह व पदादिमें उ हो जाता है, यथा संस्कृत √ वच् तथा √ वस् धातुसे क्रमशः उवाच एवं उवास रूप बनते हैं। किन्तु इनमें वास्तविक प्रथमात्त्तर प्राचीन भारत यूरोपीय \*व-था, \*वु-नहीं था। ग्रावेस्तामें यह व ही बना रहता है, तथा वहाँ ववश [wawas क्रिक्न प्रथमात्त्र हो हो लिए श्रावेस्तामें संस्कृतके पदादि चर्डे-वाले परोत्तम्त रूप जैसे रूप नहीं मिलते।

संस्कृत तथा श्रवेस्ता दोनोंमें ही प्रा॰ भा॰ यू॰ \*स् ध्विन इ, उ, र् तथा कएट्य ध्विनयोंमें परे होनेपर परिवर्तित हो जाती है। इस स्थितिमें प्रा॰ भा॰ यू॰ \*स् भारत-ईरानी वर्गमें श [s] हो जाता है। संस्कृतमें यह श वदल कर प हो गया है, जब कि श्रवेस्ता में श ही रहा है। यह परिवर्तन श्र या श्रा ध्विनते परे होनेपर नहीं पाया जाता। उदाहरएके लिए संस्कृतके सप्तमी बहुवचनके सुप्प्रत्यय 'सु' को लीजिये, जिसका प्रा॰ भा॰ यू॰ रूप भी \*सु [\*su] है। यह इ, उ [साथ ही ए, श्रो भी] से परे होनेपर संस्कृतमें पु हो जाता है कविषु, भानुषु। श्रवेस्ता में यह श्रु [s'u] होता है; अवे॰ बूमिश्र [bunnis'u] [सं॰ भूमिषु], गोउरुश्र [gourus'u] [सं॰ गुरुषु]। इसी प्रकार 'र' तथा कएट्य व्विनके कारण भी यह संस्कृत में 'प' तथा श्रवेस्ता में 'श' हो जाता है ।

सं॰ तृष्णा, अवे॰ तश्नों [tars'no], गोथिक, थोर्स्यन् [gorsyan] सं॰ उक्षितं, अवे॰ उद्धशेइति [uxs'eiti], श्रीक अउखनो [auk-

hano]

<sup>ा.</sup> सं० क्ष = क्+ प [कपसंयोगे क्षः]

संस्कृत तथा अवेस्ताकी यह विशेषता वाल्तोस्लाविक जैसी 'सतं' वर्गकी अन्य भाषामें पाई जाती है। वहाँ भी ऐसी परिस्थितयों में 'स' 'श' हो जाता है। जहाँ प्रा० भा० यू० में 'श्वा' [अ (२)] था, वहाँ भारते-रानीमें इ रूप के कारण \*स् व्यक्ति श हो जाती है, किन्तु यह विशेषता वाल्तोस्लाविकमें नहीं पाई जाती, क्योंकि वहाँ प्रा० भा० यू० 'श्वा' 'इ' न होकर लैतिनकी भाँति 'अ' होता है।

सं॰ कविष् [मांस], अवे॰ खविश्यन्त [xrawisyanta] [रक्त-पिपासु] ग्रीक कश्चस् [kreas] ग्रा॰ स्ला॰ कुन्यस् [kruvas]; ग्रा॰ भा॰ यू॰ \*कव्अस् [krewəs]

पदरचनाकी दृष्टिसे संस्कृत तथा ऋवेस्ता दोनोंकी सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इनमें भारत यूरोपीय 'इ' तथा 'ए' स्वर जो क्रमशः वर्तमान तथा परोच्च मृतके द्वित्व [reduplicated] रूपोंमें पाये जाते थे भिन्न भिन्न रूपमें नहीं हैं। यहाँ दोनों ही रूपोंमें 'इ' स्वर वाला ही द्वित्व रूप पाया जाता है, यथा—

सं० तिष्ठति, अने० हिरत्अन्ति [his tənti]; ग्रीक, हिस्तेमि [histemi] सं० शिषक्ति, अने० हिशक्ति [his axti].

सं॰ इयति , श्रवे॰ [ उज्] यरात [(uz)-yarat]

इतना होनेपर भी प्रा॰ भा॰ यू॰ ए के भी अवशिष्ट चिह्न भारत— ईरानीमें पाये जाते हैं। सं॰ ददाति, अवे॰ ददइति [dadaiti] को लीजिये, ये वर्तमानके रूप हैं, अतः ध्यान रिखये प्रा॰ भा॰ यू॰ रूप \*दिदोति [\*didoti] होगा, \*देदोति [\*dedoti] नहीं। श्रीकमें यह प्रा॰ भा॰ यू॰ 'इ' दिदोसि [didosi] में स्पष्ट है। यद्यपि यहाँ प्रा॰ भा॰ यू॰ 'ए' नहीं था, तथापि उसीके मिध्यासाहश्यके ग्राधारपर यह प्रा॰ भा॰ यू॰ 'इ' संस्कृत व अवेस्तामें इन शब्दोंमें 'अ' हो गया है, जो भाषा-

शास्त्रीय दृष्टिसे ऋपवाद है। यह मिध्या-सादृश्य किसी परोत्त्तमृतके रूपके ही ब्राधारपर हुन्ना होगा, जैसे सं० बभूव [प्रा० भा० यू० \*भभूव \*bhebhuwe] ब्रादिके ब्राधारपर । इसी प्रकार परोत्त्तभूतमें भी मिथ्या-सादृश्य या उपमानके ग्राधारपर 'इ' पाया जाता है, जो भापाशास्त्रीय दृष्टिसे 'म्र' होना चाहिए, यथा सं दिदेश पा० भा० यू० कदेवेनय \*ledeke]। इस साहस्यके श्राधारपर सर्वप्रथम उन धातुत्रोंके वर्तमानमें, जिनमें 'इ' पाया जाता था, द्वित्व रूपमें 'इ' हो गया। यह 'इ' संस्कृत तथा स्रवेस्ता दोनोंमें है। यह इ-ध्वनि वर्तमान रूपोंके स्राधारपर परोच्चभूतके द्वित्वरूपोंमें भी पाई जाने लगी, जैसे सं० 🗸 द्विष् से वने दिहेष तथा अवे दिहएश [ didwaes i ] में । धीरे धीरे यह 'इ' उन धातुस्रोंने रूपोंमें भी पाया जाने लगा, जहाँ वस्तुतः धातुके मूलरूपमें 'इ' नहीं था, यथा संस्कृत  $\sqrt{ वस् से विवस्तान्। इसी प्रकार त्रावेस्तामें$ मी दा [da] [ सं०√ धा, प्रा० भा० यू० \*धो [\* dho ] धातुके दिदार [didara] ददार [dadara] दोनों रूप पाये जाते हैं, जो संस्कृत 'दधार' पा॰ वैदिक रूप दाधार ] के समानान्तर हैं। इस 'इ' के उपमानके आधार पर संस्कृत 'उ' वाले धातुत्रों में 'उ' स्वरका भी द्वित्व पाया जाने लगा। सं० √ दिश् से बने दिदेश के सादृश्यपर √ जुष् से जुजोष बना, यद्यपि त्रवेस्तामें इसके द्वित्व रूपमें 'इ' ही पाया जाता है, जो त्र्यवेस्ता शब्द ज़िज़्श्ते [zizus [ में स्पष्ट है । किन्तु यह सादृश्यजनित 'उ' किन्हीं किन्हीं रूपोंमें त्रवेस्तामें भी मिल जाता है, यथा संस्कृत, शुश्रूषित; श्रवेस्ता, सुस्तूश्त्रमनो [susrus əmno]। वर्तमानके सादृश्यके आधारपर यह 'उ' परोच्च भूतमें पाया जाने लगा तथा स्रोध, पुपोष जैसे रूप वने । संस्कृतमें दीर्घ ऊकारान्त धातुत्रों में केवल 'मू' तथा 'सू' इन धातुत्रों के परोत्तम्तमें ही द्वित्व रूपमें प्रथम स्वर श्र [\*ए\*e] पाया जाता है, जो क्रमशः बभूव तथा ससूव [ दूसरा रूप सुषुवे भी है ] से स्पष्ट है।

धातुके कर्मवाच्य रूपके सामान्यभ्तमें संस्कृत तथा ग्रवेस्ता दोनोंमें इ पाया जाता है, जो ग्रन्य किसी भारोपीय भाषामें नहीं पाया जाता, यथा सं० अवाचि [अवे० अवाशि [awas i] | संस्कृतमें इसका प्रयोग कर्मवाच्यमें ग्रन्य पुरुषके चिह्नके रूपमें पाया जाता है | ठीक इसी रूपमें इसका प्रयोग ग्रवेश ग्रवेस्तामें होता है | किन्तु इस पदरचनात्मक विशेषताकी उत्पत्ति स्पष्ट नहीं है | किर भी यह तो निश्चित है कि यह भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है |

इसी प्रकार इन दोनों भाषात्रोंके त्राज्ञात्मक [लोट्] रूपोंके त्रान्य
पुरुष एकवचन तथा बहुवचनके रूपोंमें भी ऐसी ही समानता पाई जाती है,
संस्कृत भरत, भरन्तु, श्रवेस्ता वरतु [baratu], वर्भन्तु [barantu]
इसके श्रांतिरिक्त उत्तम पुरुपके एक वचनमें भी दोनों में त्रा, तथा आनि
दोनों प्रकारके वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं, संस्कृत, भवा, भवानि । लौकिक
संस्कृतमें श्राकर भवा वाला रूप जुत हो गया है । यह आनि प्रा० भा०
यू० विध्यात्मक [optative] तिङ् विभक्ति \*श्रान से विकसित हुग्रा है ।
संस्कृतके ग्राज्ञात्मक [imperative] रूपोंमें ग्रत्यधिक पाये जानेवाले
"-तात्" वाले रूप [ यथा सं० भवतात्, भरतात् ] प्रा० भा० यू० में
तो रहे होंगे, किन्तु श्रवेस्तामें इनका सर्वथा ग्रभाव है ।

सुप् विभक्तियोंकी दृष्टिसे भी संस्कृत तथा श्रवेस्तामें कई समानताएँ पाई जाती हैं। सर्वप्रथम हम पष्टी बहुवचनकी विभक्ति-नाम को लेते हैं, जो दोनोंमें पाई जाती है। प्रा० भा० यू० में यह संबंधवोधक बहुवचन केवल \*श्रोम [om] था। यह हलन्त तथा श्रदन्त [ श्रजन्त ] दोनों प्रकारके शब्दोंमें प्रयुक्त होता था। यह \*श्रोम संस्कृतमें श्राकर श्राम हो गया है। हलन्त शब्दोंमें तो संस्कृतमें यह श्राम ही प्रयुक्त होता है; सं० गच्छताम [ गच्छत्त +श्राम ], जगताम , पथाम । किन्तु श्रदन्त शब्दोंमें यह प्रायः नाम हो गया है। सं० देवानाम [ देव + न +श्राम ], भानूनाम,

हरी साम् । वेदमें केवल एक स्थानपर देवां जन्म में अदन्त शब्दमें आम् का प्रयोग मिलता है, लौकिक संस्कृतमें यह देवानां जन्मके रूपमें प्रयुक्त होगा। नाम सुप् विभक्तिचिह्न सर्वथा नया न होकर प्रा० भा० यू० विभक्ति चिद्ध \*नोम् से विकसित हुन्ना है। किन्तु यह प्रा० भा० यू० सुप विभक्ति चिह्न केवल आ्रा-कारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें ही था। संभव है, इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें भी प्रयुक्त होता हो। इसके चिह्न पुरानी हाई जर्भनके स्त्रीलिंग रूपोंमें पाये जाते हैं (उदा०-पु० हा० ज० 'गेवोनो' ( प्रातिपादिक गेंग्रा )-' दानोंका ) फिर भी यह बात ध्यान देनेकी है कि त्र-कारान्त शब्दोंमें त्रवेस्ता तथा संस्कृतमें पाया जाने वाला [आ] नाम् [दे देवानाम ] भारत-ईरानी विशेषता ही है। यह बात अवश्य है कि यह चिह्न अवेस्तामें केवल एक ही स्थानपर पाया जाता है; सं मर्त्यानाम , अवे॰ मरयानम् [mas yanam]; बाक्ती सब स्थानों यह अनम् ही है। त्रकारान्त शब्दोंके पष्टी बहुवचनान्त रूपोंके साहश्य पर इकारान्त, उकारान्त शब्दोंमें भी 'नाम्' पाया जाने लगा; सं० गिरीणाम्, अवे० गइरिनम् [gairinam], सं० वसूनाम,अवे०वोहुनम् [wohunam]। कभी कभी संस्कृत-में तो यह 'नाम्' पाया जाता है, पर अवेस्तामें प्राचीन 'आम्' ही पाया जाता है, सं॰ सखीनाम, पश्रनाम; अवे॰ हशम् [has'am] पश्वम् [pas wam]। संस्कृतमें अधिकतर श्रदन्त शब्दोंमें यह 'नाम' पाया जाने लगा ।ै.

स्त्रीलिंग शब्दोंके स्त्राकारान्त रूपोंमें संस्कृत तथा स्रवेस्तामें परस्पर वड़ी समानता है। इस प्रकारके शब्दोंके तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, पृष्ठी, सतमी तथा सम्बोधनके एकवचनके रूप एक से ही हैं। यह समानता स्नन्य भारत

१. ध्यान दीजिए, 'नाम्' के पहले का हस्व अ, इ, उ दीर्घ हो जाता है। देव + नाम्, हिर + नाम्, भानु + नाम्के रूप देवानाम्, हरीणाम्, भानूनाम् होते हैं।

२. ऐकारान्त, ओकारान्त एवं औकारान्त शब्दोंके रूपोंमें 'नाम् न होकर 'त्राम्' ही होता है; जैसे रायाम्, गवाम् आदि रूपोंमें ।

यूरोपीय भाषात्रोंमें नहीं पाई जाती। तृतीया एकवचनमें प्रा॰ भा॰ यू॰ <del>\*आ का ही प्रयोग होता था, यथा सं० सुकृत्या अवीरता में जहाँ ये</del> तृतीयान्त हैं । [ऋ] या का प्रयोग सर्वनाम स्त्रीलिंगोंमें होता था, धीरे धीरे तया, यया, कया के सादश्यपर यह संज्ञात्रों में भी प्रयुक्त होने लगा, सं॰ रमया, खतया। चतुर्थी, षष्ठी [पश्चमी] तथा सप्तमीके एकवचनोंमें संस्कृतमें द्वयद्धर [ disyllabic] विभक्तयन्त पाये जाते हैं । इन सभीमें आय् रूप समान पाया जाता है। इस प्रकार संस्कृतमें ये क्रमशः -श्राये,-श्रायाः,-<mark>श्रायाम् [ सं० लतायै, लतायाः, लतायाम् ]</mark> हैं। 'ग्रन्य भा० यू० भाषाग्रींमें इनके समानान्तर विभक्तिचिह्न द्वयन्तर न होकर एकान्तर हैं। वस्तुतः ग्रा०भा० यू ० में \* आयू नहीं पाया जाता था श्रौर यह भारत-ईरानी वर्गमें ही श्राकर त्राकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें प्रयुक्त होने लगा था। किन्तु ऋवेस्तामें संस्कृतके समानान्तर रूप देखे जा सक्ते हैं,-श्रयाइ, [ayai ], -श्रया, -श्रया [aya] जिनमें 'ग्रु' का हस्य रूप तृतीया एकवचनके चिह्न 'ग्रया' के सादश्य पर माना जा सकता है। प्रा॰ भा॰ यू॰ में \*ग्राय् वाला रूप नहीं था, भारत-ईरानीमें श्राकर यह इकारान्त या -या श्रन्तवाले शब्दोंके साद्देशके श्राधारपर चल पड़ा होगा। इस ग्राधारपर श्रायै, श्रायाः, श्रायां को रूच्ये, रुच्याः, रुच्या**स या देन्ये, देन्याः, देन्याम्** जैसे रूपोंके ग्राधार पर माना जा सकता है। प्रा॰ मा॰ यू॰ भाषामें चतुर्थी तथा सतमी दोनोंकी विभक्ति \*-इ, थी, इस प्रकार त्राकारान्त शब्दोंमें दोनों विभक्तियोंमें 🏞 - आइ त्रान्त वाले रूप वनते थे। धीरे धीरे सतम्यन्तको चतुर्ध्यन्तसे भिन्न वतानेके लिए 'श्राइ' के बादमें भारत-ईरानीमें 'श्रा' जोड़ दिया गया इस प्रकार \*श्राया रूप बना । संस्कृतमें आकर इसमें अम् जोड़ दिया गया [ आयां = \*आ + #इ+आ+अस्]। इसी 'आयाम्' के साहर्य पर चतुर्थी तथा पञ्चमी-षष्ठीमें भी दोनों भाषात्रोंमें 'त्राकारान्त' रूपोंमें 'त्राय्'का समावेश हो गया। .

Wackernagel: Altindische Grammatik Vol. iii P. 43;
 §16 (e).

संबोधनके एकवचनमें संस्कृत तथा श्रवेस्ता दोनोंमें ही श्राकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें 'ए' पाया जाता है [सं॰ रमे, जते]। यह विशेषता श्रन्य मा० यू० माषाश्रोंमें नहीं पाई जाती। श्रवेस्तामें इसके श्रा एवं ए दोनों प्रकारके रूप मिलते हैं। श्रवेस्ता, रिज़रते [razis te] [संस्कृत \*रिज़र्छ], अवेस्ता, पोडक्रिशरता [poururus is ta] [संस्कृत \*पुरुक्षिष्टे] । संबोधनके इस ए विभक्तिचिह्नका विकास श्रस्पष्ट है। श्रन्य मा० यू० माषाश्रोंमें श्राकारान्त शब्दोंका संबोधन एकवचन रूप श्र से युक्त होता है। यथा श्रीक माषाके नुस्फे [numphe] [श्रा० रूप नुस्फा], [सिलाइये; श्रवरेज़ी [nymph] जिसका श्रर्थ 'श्रप्सरा' है ] संबोधनमें नुस्फ [numpha] रूप होता है।

संस्कृत तथा श्रवेस्तामें इकारान्त शब्दोंके सप्तमी एकवचनमें 'श्रों' विमक्त्यन्त पाया जाता है, यथा सं॰ कवा, हरों। यह भी वस्तुतः ऊकारान्त शब्दोंके भानों, गुरों श्रादि रूपोंके साहश्यपर पाया जाता है। मूल भारतयूरोपीय विभक्तिचिन्ह \*शाइ था। वेदमें भी यह विभक्त्यन्त श्रग्ना-धी के रूपमें पाया जाता है। किन्तु इस उदाहरणके श्रातिरिक्त इकारान्तके सप्तम्यैकवचनान्त रूप उकारान्त शब्दोंके श्रों के साहश्यपर हो संस्कृत तथा
श्रवेस्ता दोनोंमें पाये जाते हैं। श्रवेस्तामें यह भी न होकर भा [क्रों हो गया
है। संस्कृतमें तृतीया एकवचनके इकारान्त शब्दोंके रूपोंमें प्रायः '[इ] या',
भा तथा 'इना' विभक्त्यन्त पाये जाते हैं, यथा मत्या, जगता, कविना में।
किन्तु कभी कभी इन रूपोंमें केवल ई ही पाया जाता है, यथा वैदिक
सं० अचित्ती [लीं॰ सं० अचित्या]। यह विशेषता वैदिक संस्कृतमें
ही पाई जाती है। श्रवेस्तामें तो 'हजा' [has को [सं० संस्कृतमें
ही पाई जाती है। श्रवेस्तामें तो 'हजा' [has को [सं० संस्कृतमें

१. संस्कृतमें रिजिष्टे या पुरुरुचिष्टे जैसे पद नहीं मिलते, इसिलिए ये पद तारकचिह्नित किये गये हैं। अवेस्ताके आधार पर यदि संस्कृतमें कोई रूप मिलता, तो ऐसा होता।

धकार उकारान्त शब्दोंके इस विमक्तिके रूपोंमें अवेस्तामें खध्वा [XIA8wa], [मि॰ सं॰ कत्वा; जो संस्कृत कतु शब्दका तृतीया एकवन्वन है; वैदिक संस्कृतमें यह कत्वा रूप मिलता है; लौकिक संस्कृतमें यह रूप नहीं मिलता, यहाँ वह कतुना हो गया है।], को छोड़ कर प्रायः 'ऊ' वाले रूप ही पाये जाते हैं; यथा अवेस्ता महन्यू [mainyu] [सं॰ मन्युना]।

यहाँ तक हमने संस्कृत तथा ग्रावेस्ताकी समानताग्रोंपर ध्यान दिया। ग्राव थोड़ा उन ध्वन्यात्मक भेदों पर दृष्टिपात कर लें, जो संस्कृत तथा ग्रावेस्तामें पाये जाते हैं। इन ध्वन्यात्मक विशेषताग्रोंमें विशेष महत्त्व व्यञ्जनध्वनियोंके पारस्परिक भेदका है। ग्रातः यहाँ हम उन्हींका संचित्त संकेत करेंगे।

समस्त भारत यूरोपीय भाषात्रोंमें केवल संस्कृत तथा तजन्य भारतीय भाषात्रोंने ही प्रा० भा० यू० स्पर्श ध्विनयोंके चारों रूपोंकी रचा की है। इनमें अघोष अल्पप्राण, अघोष महाप्राण, सघोष अल्पप्राण तथा सघोष महाप्राण चारों प्रकारके रूप पाये जाते हैं, जिनके उदाहरण क्रमशः क, ख, ग, घ हैं। अवेस्ता तथा फारसी वर्गकी भाषात्रोंमें यह बात नहीं पाई जाती, वहाँ महाप्राण रूपोंमें परिवर्तन हो गया है। अघोष महाप्राण ख, थ, फ वहाँ सोध्य ख, थ, फ हो गये हैं। सघोष महाप्राण च, ध, भका महाप्राणल वहाँ सर्वथा छप्त हो गया है; इनके स्थान पर ग, द, ब रूप पाये जाते हैं। यथा,

संस्कृत	अवेस्ता			
<b>শু</b> দ	सफ [safa]			
यथा	यथा [yaθa]			
सवा	हरत [haxa]			
भूमि	बुमि [bumi]			

<sup>?.</sup> Bloch: L' I ndo-Aryen pp. 50-51.

 धेनु
 दएनु [daenu]

 घर्म
 गर्म [garm]

 हन्ति
 ज़इन्ति [zainti]

संस्कृत पदादि स ग्रवेस्तामें ह पाया जाता है। संस्कृत पदादि श ग्रवेस्ता में स होता है। संस्कृत प ग्रवेस्तामें श पाया जाता है। संस्कृत पदादि ह वहाँ ज़ हो जाता है।

> संस्कृत ग्रवेस्ता सप्त, सिन्धु हम [hapta], हिन्दु [hindu]

शरत् [ -द् ] सर्अद [sarəda] जोप-जोष्ट ज़ओश [zaos a] हस्त ज़स्त [zasta]

श्रा० फा० दस्त ]

ये समस्त भाषाशास्त्रीय तथ्य इस बातकी पुष्टि करते हैं कि संस्कृत तथा श्रावेश्ता वस्तुतः भारत-यूरोपीय परिवारमें एक ऐसा युगल है, जिसे हम भारत-ईरानी वर्गके नामसे एक ही शाखा मान सकते हैं। इस संबंधमें सबसे बड़ी वात ध्यानमें रखनेकी यह है कि संस्कृत या श्रावेस्ता शब्दसे हमारा तात्पर्य इन भाषाश्रोंके एक ही रूपसे नहीं है। जब हम संस्कृत या श्रावेस्ता शब्दका प्रयोग करते हैं, तो हमारा तात्पर्य उन समस्त विभाषाश्रों या बोलियोंसे है जो संस्कृत या श्रावेस्ता कालमें भारत तथा ईरानके विभिन्न उपवर्गोंके द्वारा बोली जाती थीं। यह प्रयोग ठीक उसी तरहसे किया जा रहा है, जिस प्रकार केवल 'प्राकृत' शब्दसे हमारा तात्पर्य प्राकृतके एक रूपसे न होकर पैशाची, श्रारेसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधी सभी भेदोंसे है, श्राथवा जिस प्रकार 'हिन्दी' शब्दके प्रयोगमें खड़ीबोली, त्रज, बांगङ्क, कन्नौजी, बुन्देली [ यहाँ तक कि राजस्थानी, श्रावधी, भोजपुरी श्रादि भी ] श्रादिका भी समावेश हो जाता है। वैदिक कालमें इस संस्कृत भाषाके बोलनेवाले भी कई वगोंमें विभक्त थे तथा इन विभिन्न वगोंमें कुछ निजी ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक विशेषताएँ

रही होंगी, यद्यपि ये विशेषताएँ ब्रात्यधिक नगएय थीं। पर इन विशेष-तार्ख्योंका पता ऋग्वेदके मन्त्रभाग तथा ग्रन्य वैदिक साहित्यमें प्रयुक्त वैकल्पिक रूपोंसे लगता है। याद रिखये, वेद किसी एक मानवकी कृति न हो<mark>कर</mark> विभिन्न वर्गोंके ब्राह्मणवर्ग [ऋषिवर्ग ] की रचनाएँ हैं । यदि 'रचना' शब्द जरा बुरा लगे, तो में कहूँगा कि ये मन्त्र विभिन्न वर्गोंके ऋषियोंके द्वारा प्रत्यक्त किये गये हैं । ग्रातः तत्तत् वर्गकी विभाषाकी ध्वन्यात्मक तथा पद्रचना-त्मक विशेषताएँ इनमें ग्रा गई हैं। साथ ही कई मन्त्र भाग सीमान्त प्रदेशमें <mark>रचे गये हैं, तो कई कुरुपाञ्चालमें, तो कई</mark> ग्रन्तर्वेदमें । इसी तरह मंत्रीं<mark>में</mark> कालभेद भी पाया जाता है। ठीक यही वात श्रवेस्ताकी गाथाश्रोंके विषयमें कहीं जा सकती है, जिनमें भी विभिन्न वैभाषिक विशेषताएँ स्पष्ट हैं। त्रवेस्ताकी गाथाएँ एक हो कालकी नहीं हैं, ठीक उसी तरह जैसे वैदिक मंत्र भी एक ही कालकी रचना नहीं हैं। इस संबंधमें यह ध्यान देना अप्रावश्यक हैं कि प्राचीनतम त्र्यवेस्ता भाषा प्राचीनतम संस्कृतसे भी त्र्याधक 'त्र्यार्ध' [archaic] है। अवेस्ताकी प्राचीन गाथाओं में वर्तमानकालके उत्तम पुरुष एकवचनमें आ [a] तिङ् विभक्ति पाई जाती है, जो प्रा० मा० यू० वर्तमान उत्तमपुरुष ए० व० विमक्ति \*श्रो से विकसित है । जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रा॰ मा॰ यू॰ में वर्तमानके उत्तमपुरुष एकवचनके चिह्न \*श्रो तथा \*मि दोनों थे। संस्कृतमें केवल मि ही पाया जाता है। ग्रीकमें त्रो तथा मि दोनों पाये जाते हैं। त्रावेस्तामें भी [संस्कृतकी माँति] वादकी गाथार्थ्रोमें केवल मि रूप ही पाया जाने लगा है।

सं॰ द्धामि, अवेस्ता ददामि [dadami] ग्री॰ तिथेमि [tithemi] सं॰ भरामि, अवे॰ बरमि [barami] ग्री॰ फरो [fero]

इस 'श्रार्ष' प्रयोगके श्रुतिरिक्त गाथाकी विभाषामें एक श्रीर 'श्रार्ष'' [archaic] प्रयोग पाया जाता है, जो प्राचीनतम संस्कृतमें इतना श्रुधिक नहीं पाया जाता । भारत—ईरानी वर्गमें 'सधोष महाप्राण् — श्रुधोष' संयुक्त व्वनियाँ सधोष — सधोष महाप्राण पाई जाती हैं। यह नियम जर्मन विद्वान्

बार्थोलोमेके नामपर "वार्थोलोमेका नियम" कहलाता है। बार्थोलोमेने ग्रवेस्ताकी भाषापर महान् कार्य किया है। वार्थोलोमेके इस नियमके त्रानु-सार गाथाकी विभाषामें अत्यधिक आर्ष प्रयोग पाये जाते हैं, जबकि संस्कृतमें त्र्यार्ष [प्राचोन] तथा बादके दोनों प्रकारके रूप नहीं पाये जाते हैं। त्र्यादिम भारतयूरोपीय भाषामें शब्दोंके मूल रूपोंमें आदि तथा अन्तकी ध्वनियाँ महाप्राण पाई जा सकती है, किन्तु संस्कृतमें दोनों स्थानोंपर प्रायः महाप्राण ध्वनियाँ नहीं पाई जातीं। ऐसी दशामें संस्कृतमें ग्रन्तकी ध्वनिकी महा-प्राणता प्रायः लुत हो जाती है। यह लोप ऋधिकतर 'स' ध्वनिके योगमें पाया जाता है। किन्तु इस विषयके संस्कृतमें कई अपनाद भी पाये जाते हैं। यथा संस्कृतके √ दृह् [\*√ धघ्य् \*dhaghy-] के सामान्य भूतमें दक्ष-[\*धच नहीं] रूप पाया जाता है। इसी प्रकार संस्कृत √ दुह प्रा॰ भा॰ यू॰ \*√ धुःय् [\*dhughy-] के सामान्य भूतमें "दुक्ष-[धुक्ष-नहीं] रूप पाया जाता है। यह प्राराताका लोप एक प्रकारकी समस्या-सा है । इसीलिए पद्पाठमें, ऐसी दशामें 'द' के स्थानपर 'घ' का प्रयोग पाया जाता है इसी प्रकार 🗸 भस् तथा 🗸 घस् से न्युत्पन्न "बण्स्-" तथा "जच्-" भी ऐसी ही समस्या हैं, जिनमें महाप्राणता सर्वथा नहीं पाई जाती। इस बातसे स्पष्ट है कि महाप्राण तथा स के योगका पूर्ववर्ती महाप्रारण ध्वनिपर वैसा ही प्रभाव पाया जाता है, जैसा कि केवल परवर्ती महाप्राणका। किन्तु यह नियम उस समय कार्यशील था जब स-ध्वनिके योगसे मूल रूपोंके अन्तमें पाई जानेवाली सघोष महाप्राण ध्वनि अघोष ग्रह्पप्राण [ क्स, त्स, प्स ] नहीं हुई थी। ग्रतः यह मानना ग्रनु-चित न होगा कि "सघोष महाप्राण + स" में ऊष्मध्विन भी सघोष हो

१. देखिये परिच्छेद ५.

२. ध्यान रिलये "स" [s] अघोष ध्वनि है, तथा इसका सघोष रूप "ज़" [z] है.।

गई थी, तथा वार्थीलोमेके मतानुसार ऊष्म तथा महाप्राग्एतामें वर्णविपर्यय [metathesis] मी हो गया था। यथा—

"व् + स", "घ् + स", "भ् + स" ध्वनियाँ क्रमशः "अड्ड", "द्ज्ह", "ब्ज्ह", [gzh, dzh, bzh]

हो गई थीं। गाथाकी विभाषामें हमें वे ''त्रार्ष'' रूप स्पष्ट मिलते हैं, यथा,

अवे दिन्ज़इद्याइ [diwzaidyai] [न्ज़ ८ व्ज़ ८ व्यह ८ म् + स]

<mark>अवे० अओग्ज़ा [aogza] [ग्ज़ ८ग्फ़्ह ८घ्+स]</mark>

परवर्ती अवेस्तामें ग्राकर ग्रघोष ध्वनियोंके रूप ग्रवश्य पाये जाते हैं, यथा-

श्रवे॰ हंग्अर्अफ्रशाने [hangərəφs ane] [फ्रश ∠भ्+स] अवे॰ दृद्धा [daxs a] [.ख्श ∠ध्+स]

इसके अतिरिक्त अवेस्ताकी प्राचीनतम गाथाओं में एक और भी आर्ष प्रयोग पाया जाता है। प्रा० भा० यू० की एक विशेषता यह भी थी कि नपुंसकके बहुवचन कर्ताके साथ एकवचन क्रियाका प्रयोग किया जाता था। वस्तुतः इसे स्त्रीलिंगके एकवचनके समकत्त माना जाता है। नपुंसकिंगके बहुवचनका वैकिल्पक 'आकारान्त' रूप ऋग्वेदमें भी पाया जाता है, यथा ''सुवनानि विश्वा'' जहाँ विश्वा वस्तुतः विश्वानि का वैकिल्पक रूप है। प्रीकमें भी इसे एकवचन मानकर एकवचन क्रियाका प्रयोग पाया जाता है। अवेस्ताकी प्राचीनतम गाथाओं में इसका आर्ष प्रयोग बहुत पाया जाता है, यद्यिप परवर्ती गाथाओं में यह प्रयोग कम हो गया है। ऋग्वेदमें इस प्रकारके प्रयोग बहुत कम पाये जाते हैं।

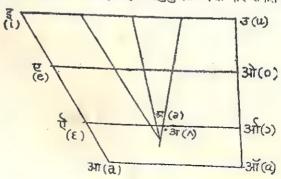
इन सव विशेषतात्रोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि संस्कृत तथा अवेस्ता परस्पर कितनो अधिक निकट हैं तथा भाषाशास्त्र हो नहीं वैदिक साहित्यका विद्यार्थी भी अपने अध्ययनमें अवेस्ताको नहीं छोड़ सकता। अवेस्ताकी

<sup>9.</sup> Wackernagel: Altindische Grammatik [Lautlehre]
Vol. I. pp 271 and following § 236

गाथात्रोंके तुलनात्मक ऋध्ययनसे संस्कृत भाषाकी कई भाषावैज्ञानिक सम-स्याएँ, तथा वैदिक साहित्यके कई ऋाष प्रयोगोंकी गुत्थियाँ सुलम्भ सकती हैं। इस प्रकारके तुलनात्मक ऋध्ययनने कई महत्त्वपूर्ण तथा मजेदार गवेषणाएँ की हैं। यही ऋध्ययन हमें बताता है कि संस्कृत घातु √ ब्रू का प्राचीन भारत-ईरानी रूप ऋूथा, जिसका ऋव् [mraw] रूप ऋषेस्तामें पाया जाता है। संस्कृत तथा ऋषेस्ता दोनों प्राच्च भा० यू० की वे जुड़वाँ वेटियाँ हैं, जिनकी प्रकृति जाननेके लिए, एककी भी प्रकृति तथा ऋष्कृति जाननेके लिए, दूसरीकी प्रकृति व ऋष्कृतिकी जानकारी भाषावैज्ञानिकके लिए ज़रूरी हो जाती है।

## संस्कृत ध्वनियाँ तथा स्वर

किसी भी भाषाकी ध्वित्योंको सर्वप्रथम दो प्रकारकी माना जा सकता है: स्वर तथा व्यञ्जन। स्वरोंके उच्चारणमें वायु मुखसे इस प्रकार निकलता है कि मुखके ग्रंतर्गत उसका ग्रवरोध नहीं होता। ये ध्वित्यों जिहा तथा ग्रोठोंकी विभिन्न स्थितियोंके ग्रनुसार विभिन्न रूपमें उच्चिरत होती हैं। जिहाको उठाया जा सकता है, नीचा किया जा सकता है, ग्रागे बढ़ाया जा सकता है, पीछे हटाया जा सकता है तथा सामान्य ग्रवस्थामें पड़ी रक्खा जा सकता है; ग्रोठोंको गोलाकार बनाया जा सकता है, पीछे हटाया जा सकता है, ग्रथवा ग्रपनी सामान्य स्थितिमें रक्खा जा सकता है। कभी कभी स्वरके उच्चारणके समय नासिका-विवर भी खुला रक्खा जा सकता है, ग्रोर इस दशामें सानुनासिक स्वरका उच्चारण होता है, यथा ताँश्चके में, द्वितीय ध्वित 'श्रा' का उच्चारण सानुनासिक [सानुस्वार] ही है। जिह्नाकी विभिन्न स्थितियोंके ग्रनुसार हम इन स्वर ध्विनयोंको पश्च, ग्रग्र तथा केंद्रीय इन तीन कोटियोंमें विभक्त कर देते हैं। जिह्नाकी इन स्थितियोंके ग्राधारपर मानस्वरोंकी उच्चारण स्थितिको हम इस चतुर्मुजसे व्यक्त कर सकते हैं।



इस चतुर्मुज को इ आ रेखाके स्वर इ, ए, ए, आ अग्र स्वर हैं, इनके उचारण में जिह्ना आगेकी तरफ बढ़ती है। इ में जिह्नाकी रिथित उच्चतम रहती है, आ में निम्नतम। इसी प्रकार पश्च ध्वनियों में जिह्ना पीछे सटी रहती है; वस्तुतः उसका पिछुला भाग कोमल तालुकी ओर उठता है। केन्द्रीय स्वर 'अ' [ə] के समय जिह्ना सामान्य रिथितिमें पड़ी रहती है। केन्द्रीय स्वरकी पृश्च-प्रकृति अ [ʌ] के समय ओठोंकी चंचलता भी पाई जाती है, जो 'अ' [ə] के उचारण में नहीं पाई जाती। ए, आ ध्वनियाँ विवृत हैं, इनके उचारण में मुख विवृत रहता है तथा जिह्ना आ या आँ के उचारणकी अपेचा कुछ जपर उठी हुई रहती है। ए, ओ के उच्चारण में जिह्ना और अधिक उठी रहती है, तथा मुख उतना विवृत नहीं रहता। स्वरोंका अच्चर संघटना [syllabic function] में प्रमुख हाथ होता है। कभी कभी दो स्वर भी एक साथ मिलकर अच्चरसंघटनाका कार्य करते हैं। इन्हें ध्वनि-युग्म [dipthong] कहा जाता है। संस्कृतकी ऐ [आइ], औ [आउ] ध्वनियाँ ध्वनियुग्म हैं।

प्राचीन भारतीय ध्वनिशास्त्रियोंने ध्वनियोंका वर्गीकरण प्रयत्न, स्थान तथा करणकी दृष्टिसे किया है। स्थान तथा करणको ग्राधुनिक ध्वनिविज्ञानकी परिभाषामें हम 'पॉइन्ट ग्राव् ग्रार्टिकुलेशन' या 'प्लेस ग्राव् ग्रार्टिकुलेशन' तथा करणको 'ग्रार्टिकुलेटर' कहते हैं। द्व्योष्ठ्य तथा दन्तोष्ठय ध्वनियोंको छोड़कर प्रायः सभी ध्वनियोंमें करण जिह्नाका कोई न कोई भाग होता है, स्थान उसके द्वारा स्पृष्ट ग्रन्तर्मुखका ग्रंगविशेष । प्राचीन भारतीय ग्राचायोंने ग्र, शा को कर्ण्य; इ, ई, ए, ऐ को तालव्य, तथा उ, ऊ, ग्रो, ग्रो को ग्रोष्ट्य माना है। ऋ, ऋ, तथा छ को उन्होंने जिह्नामूलीय माना है। कात्यायन प्रतिशाख्यके मतानुसार लू दन्त्य है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से ऋ, ऋ, च वस्तुतः र्, ख् के ग्रह्मर संघटनाकारी रूप हैं, स्वतन्त्र स्वर नहीं। ध्वनिशास्त्री ग्रान्य स्वरोंका वर्गीकरण जिह्नाकी स्थितिके ग्रनुसार करना विशेष ठीक सममस्ता है।

व्यञ्जन ध्वनियोंको हम दो कोटियोंमें विभक्त करते हैं:-स्पर्श [stops], तथा निरन्तर [continuants]। स्पर्श ध्वनिके उच्चारएमें एक द्वरएके लिए मुखके ग्रंदर वायुका ग्रवरोध हो जाता है, तदनन्तर ध्वनि मुक्तकी जाती है। यथा प के उच्चारणमें, ख्रोठोंको एक दूसरेसे सटानेसे वायुका अवरोध होता है, ततः पश्चात् त्रोठोंको खोलनेपर ध्वनि सुनाई देती है। निरन्तर व्यञ्जनोंमें स्पर्श ध्वनियोंकी माँति वायुका पूर्ण ग्रवरोध नहीं हो पाता, फलतः इनका उच्चारण करते समय वायु मुखसे निकलता रहता है । श, स, ष त्र्यादि ध्वनियाँ निरन्तर हैं । भारतीय वैयाकरखोंके मतानुसार क से म तककी ध्वनियाँ स्पर्श हैं कादयो मान्ताः स्पर्शाः । किन्तु ग्राधनिक ध्वनिशास्त्री <mark>अनुनासिक ध्वनियोंको 'निरन्तर' माननेके पद्ममें हैं।</mark> व्यञ्जनींका दूसरे ढंगका भेद स्वरतन्त्रियों [vocal chords]के कम्पनके त्राधारपर किया जाता हैं। सत्रोष ध्वनियों, यथा ग, ज, ड, द, ब ग्रादिके उच्चारगामें स्वर-तिन्त्रयोंमें कम्पन होता है जो नाद या घोषको व्यक्त करता है; ग्रघोषध्व-नियों, यथा क, च, ट, त, प ग्रादिके, उच्चारणमें स्वरतन्त्रियोंमें कम्पन नहीं होता फलतः नाद उत्पन्न नहीं होता। इसके ऋतिरिक्त प्राणताके आधार है। स्थानभेदकी दृष्टिसे इन व्यञ्जन ध्वनियोंका वर्गीकरण यों किया जाता है:—

१. कवर्ग ध्वितयोंको संस्कृत वैयाकरणोंने कएठ्य कहा है । प्रातिशाख्योंमें इनका स्थान जिह्वामूल माना गया है। " कवर्गके उचारणमें जिह्वाका मूल

१. कर्ण्ड्योऽकारः प्रथमपञ्चमो च राष्ट्र ऋकारत्कारावथ षष्ठ ऊष्मा, जिह्वामूलीयाः प्रथमश्रवर्गः [ ऋक् प्रा० प्रथम पटल, १८ ]; [ ऋ. प्रा. प० १६-२० ] साथ ही-अहविसर्जनीयाः कर्ण्डे [श्रक्कयज्ञः प्रा० १ ७१], इच्छोयास्तालो [१ ६६], उचोपोपद्मा ओष्टे [१ ७०], ऋत्वक्को जिह्वामूले [१ १६५], ख्लसिता दन्ते।

२. ऋ ४ क्को जिह्नामूले [ श्रु. य. प्रा. १. ६५ ] "जिह्नामूलीयाः प्रथमश्च वर्गः [ ऋक् प्रा. १. १८ ]

कोमल तालु [velum] को छूता है। श्राधिनिक ध्वनिशास्त्री इन ध्वनियोंको कोमलतालुजन्य [velar] कहना श्रिधिक संगत समक्तते हैं।

- २. चवर्ग ध्विनयोंको तालब्य माना जाता है। इनके उच्चारणमें जिह्या-मध्यके द्वारा कठोर तालुके दोनों छोरोंका स्पर्श किया जाता है। संस्कृतकी ये ध्विनयाँ शुद्ध तालब्य ध्विनयाँ थीं, पर अप्राजकी हमारी भाषाओंकी ये ध्विनयाँ सोष्म स्पर्श हैं; इन्हें ध्विनवैज्ञानिक शब्दावलीमें हम सोष्म स्पर्श [affricates] कहेंगे। इस वातका संकेत डाँ० चाटुज्योंने अपनी 'वंगाली फोनिटिक रीडर' में किया है। वज, हिन्दी तथा अवधीकी च, छ, ज, म ध्विनयाँ तालब्य न होकर सोष्म स्पर्श है। .
- ३. टबर्ग ध्विनयोंको मूर्धन्य कहा जाता है। वै किंतु मूर्धन्य नाम ठोक नहीं जान पड़ता। ग्राधुनिक ध्विनशास्त्री इस वर्गकी ध्विनयोंके लिए 'रिट्रोफ्लेक्स' [retroflex] शब्दका प्रयोग करते हैं। इस वर्गकी ध्विनयोंके उचारणमें जिह्नाका ग्रग्न भाग उलट कर कठोर तालुके किसी भी ग्रंशको छूता है। जिह्नाके इस प्रतिवेष्टितत्वका संकेत प्रातिशाख्योंमें भी मिलता है। इसी

१. इचशेयास्तालौ [ शु. य. प्रा. १. ६६ ], तालब्यावेकारचकारवर्गी [ ऋ. प्रा. १. १६ ]

R. Dr. Saksena: Evolution of Awadhi P. 31.

३. पटो मूर्धनि [शु. य. प्रा. १. ६७]; मूर्धन्यो पकारटकारवर्गों [ऋक् प्रा. १. १६]

४. जिह्नाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धीन ट्वर्गे [ तैत्तरीय प्रा. २. ३७]; मूर्धन्यानां जिह्नाग्रं प्रतिवेष्टितम् [ अथर्वप्राति. १. २२], मूर्धन्यः प्रतिवेष्ट्याप्रम् [ वाजसनेय प्रा. १. ७८ ] साथ ही देखिये—Daniel Johns: An Outline Of English Phonetics P. 119

श्राधारपर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इन ध्वनियोंको "प्रतिवेष्टित" [Retroflex] कहना ठीक होगा।

४. ळ, ळ्ह ध्वनियाँ उत्वित प्रतिवेष्टित [ flapped retroflex ] हैं। इनके उच्चारणमें जिह्नाका श्रिप्र भाग उत्तर कर भारकेके साथ जैसे किसी चीजको फेंकता, वापस लोटता है। ये दोनों ध्वनियाँ वैदिक संस्कृतमें ही पाई जाती हैं। हिन्दी, की 'इ' ध्वनि भी उत्वित ही है। इसीका सानुनासिक उत्वित प्रतिवेष्टित रूप हिंदी 'ण' ध्वनि है।

भ. तवर्ग ध्वनियाँ दन्त्य हैं। इनके उचारणमें जिह्ना ऊपरके दाँतोंको श्रपने नुकीले भागसे छूती है।

- ६. पवर्ग ध्वनियाँ द्वयोष्ट्य हैं । इनके उचारणमें स्थान तथा करण दोनों ही ख्रोठ रहते हैं ।
- ७. अनुनासिक [ ङ, ज, ण, न, म ]. ध्वनियाँ अपने वर्गके साथ ही साथ अनुनासिक भी हैं। इनके उच्चारणके समय वायुका कुछ अंश नासिका विवरसे भी निःस्त होता है। 'न' का स्थान वैयाकरणोंने दन्त ही माना है, किन्तु इसका वास्तविक स्थान वर्ष्व [teeth-ridge] माना जाता है।
- द. श्रन्तःस्थ ध्वनियाँ [ य, व ]-संस्कृत वैयाकरण य, व, र, ल को श्रंतःस्थ मानते हैं, किन्तु श्राजका ध्वनिशास्त्री र, ल को श्रंतःस्थ नहीं मानता । य को प्रातिशाख्यों व शिक्ताश्रोंमें [ देखिए फुटनोट , पूर्ववर्ती पृष्ठ ] तालव्य माना गया है । श्राधुनिक ध्वनिशास्त्रियोंमेंसे कुछ य को तालव्य मानते हैं, कुछ वर्त्स्य । व द्वयोष्ट्य ध्वनि है । इन्हींका श्रक्तारसंघ-टनाकारी रूप 'इ', 'ड' माना जाता है ।
- है. र, ल. ध्वनियाँ द्रवित या [liquid] कहलाती हैं। प्रथम ध्वनि खंठित [rolled] है, द्वितीय पार्श्विक [latrel]। प्राचीन भारतीय वैयाकरणोंके मतानुसार प्रथम मूर्धन्य है, द्वितीय दन्त्य। र के उचारणामें

१. खुलसिता दन्ते—[ शु. य. प्रा. १. ६६ ]

जीमकी नोक वर्त्सका स्पर्श एक ही च्रण दो तीन बार करती है। प्राचीन प्रतिशाख्यों में इसका संकेत मिलता है। वे 'र' का स्थान दन्तमूल मानते हैं:—रो दन्तमूले [ श्रु. य. प्रा. १. प्रूट], रेफं वरस्यमेके [ ऋ. प्रा. १. २०]।

- १०. श, प, स ध्विनयाँ क्रमशः तालव्य, प्रतिवेष्टित [ मूर्धन्य ] तथा दन्त्य सोष्म ध्विनयाँ हैं। इनके उच्चारण करते समय जिह्वाके दोनों ग्रोर कुछ भाग खुला रह जाता है, जिससे मुखकी वायु बाहर निकलकर 'स्-स्' जैसी ध्विन उत्पन्न करती है। इसीलिए इन्हें सोष्म कहा जाता है।
- ११. ह, ह ध्वनियाँ क्रमशः सघोष तथा अघोष प्राण ध्वनि है। मारतीय विद्वानों मेंसे कुछने इन्हें कएठ्य [Glutteral] माना है, कुछने उरस्य [pulmonic]। अघोष प्राणध्वनि [ह] विसर्गके रूपमें संस्कृतमें पाई जाती है। आजकी भारतीय आर्य भाषाओं में राजस्थानी तथा गुजरातीकी कुछ बोलियों में यह अघोष प्राणध्वनि पाई जाती है। महाप्राण ध्वनियों में अघोष प्राणध्वनि पाई जाती है। महाप्राण ध्वनियों में अघोष प्राणध्वनि होती है, सघोष महाप्राणध्वनियों सघोष प्राणध्वनि । यथा, ख = क् + ह; छ = च + ह; घ = ग् + ह, भ = ज् + ह।
- १२. ४क, ४ प, ब्ब संस्कृतमें तीन ध्वनियाँ श्रोर भी पाई जाती हैं:— जिह्नामूलीय, उपध्मानीय तथा दन्तोष्ट्य [dentc-labial] 'ब'। जिह्ना-

१. प्राण्ता [aspiration] के लिए प्रतिशाख्यों में 'ऊष्म।' शब्दका प्रयोग मिलता है, महाप्राण्ध्वनियोंको वहाँ 'सोष्म' ध्वनियाँ कहा जाता है। ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टिमें यह ठीक नहीं। उष्मा [friction] तथा प्राण्ता [aspiration] भिन्न भिन्न ध्वन्यात्मक तत्त्व हैं। महाप्राण्यके लिए 'सोष्म' शब्दके प्रयोगके लिए देखिये—"द्वितीयचतुर्थाः सोष्माणः" [ श्रु. य. प्रा. १.५४ ], तथा वर्गे वर्गे च प्रथमावघोषी, युग्मी सोष्माणा-वनुनासिकोऽन्त्यः। [ ऋ. प्रा. १. १३ ]

मूलीयहक्का उचारण 'ख्र' सा होता है, यथा अन्तः करण [अन्त [ख़्]करण]; उपध्मानीय दन्तोष्ट्रच ध्विन है, इसके उच्चारणमें अधरोष्ठ जगरके दाँतोंका हलका सा स्पर्श करता है, इसका उचारण 'क्र' सा होता है, यथा अन्तः पुर [अन्त [फ़्] पुर ]। दन्तोष्ट्रच 'ब्व' इसी 'क्र' का सबोष रूप है। अन्तर्राष्ट्रीय ध्विनशास्त्रीय संकेतिलिपिमें इनके लिए कमशः φ, β चिह्नोंका प्रयोग होता है। 'ब्व' का उच्चारण संस्कृतमें अलगरे ध्विन [phoneme] न होकर द्वचोष्ट्रच 'व' का ही ध्वन्यंग [allophone] माना जाना चाहिए। इसका उचारण भी केवल वैदिक संस्कृतमें पाया जाता 'है, जहाँ पदादि 'व' [w] को 'ब्व' [β] पढ़ने की प्रथा है। शिचाओं इसका संकेत मिलता है:—गुरुव्वंकारो विक्रेयः पदादी पढितो भवेत [माध्यन्दिनी शिद्धा २.६]।

संस्कृत ध्वनियोंका यह वर्गीकरण निम्न मानिचत्रसे जाना जा सकता है:-

	स्पर्श				निरन्तर			
स्थान	त्रल्पप्रारण		महाप्राण्					ासिक
,	ऋघोष	सघोष	<b>अघो</b> ष	सद्योव	त्रवीघ	सघोष	श्रघोष	सघोष
कएठ्य या कोमलतालुजन्य	क	ग	ख	ঘ	he/ 0	रू	***	ङ
ताल्ब्य प्रतिबृष्टित या मूर्धन्य	च ट	জ স্ত	छ र	<del>भा</del> ढ	श घ	य •••		ञ ग्
दन्त्य	त	द	थ	ঘ	स	ল		न
द्वयोष्ट्य वरस्य दन्तोष्ट्य	ч 	ਕ •••	फ •••	भ 	ि [फ़ित] ≍प	व र [ब्ब]		म [न]

संस्कृतके ग्रंतर्गत ग्र, ग्रा, इ, ई, उ, ऊ, ए, ग्रो ऐकिक स्वर ध्विनयाँ, तथा ऐ, ग्रो ध्विनयुग्म हैं। इनके ग्रातिरिक्त र तथा 'ज' के ग्रचर संघटनाकारीरूप कर, ऋ, ल का भी ग्रहण संस्कृत स्वरोमें किया जा सकता है, जहाँ ये स्वरका कार्य करते हैं। संस्कृतमें पाँच ग्रनुनासिक ध्विनयाँ हैं:— इ, ज, ण, न, म। पर भाषावैद्यानिक दृष्टिसे संस्कृतमें तीन ही ग्रनुनासिक ध्विनयाँ [nasal phonemes] मानी जा सकती हैं:— ण, न, म; तथा इ, ज वस्तुतः न के ही ध्वन्यंग [allophones] हैं। वाकेरनागेलने ग्रपनी प्रसिद्ध पुस्तक "ग्रस्तिन्दश्रके ग्रामातीक" [प्राचीन-भारतीयकी व्याकरण] में 'इ' को संस्कृतमें ग्रलग ध्वीन माना है, किन्तु हम इस मतसे संतुष्ट नहीं। व्लॉखने ग्रवश्य ही 'न', 'म' तथा 'ण' ये तीन ग्रनुनासिक ध्वनियाँ संस्कृतमें मानी हैं। वुद्ध विद्वानोंके मतानुसार टवर्गीय स्पृष्ट ध्वनियों तथा 'व' को संस्कृतकी ग्रलगसे ध्वनि न मानकर तवर्ग तथा स का नितमाव [Prosody of retroflexion] मानना ठीक होगा, पर हम इस मतसे सहमत नहीं क्योंकि संस्कृतकी टवर्ग ध्वनियाँ वस्तुतः दन्त्योंका नितमाव न होकर तालव्य ध्वनियोंका विकास है।

## संस्कृत स्वर-ध्विनयोंका विकासः—

संस्कृतकी स्वर-संपत्ति भारत-ईरानी स्वरोंके अत्यधिक निकट है। इस भाषामें हस्व तथा दीर्घ अ, इ, उ, ऋ [ रू केवल एक ही संस्कृत धातु करूप में मिलता है, जिसका रूप अवस्तामें 'क्अर्अप' [kərəp] है], पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त एकाच्चरीभूत ध्वनियुग्म ए, ओ तथा ऐ, औ भी पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त हस्व तथा दीर्घ अ, इ, उ

R. Wackernagel: Altindische Grammatik [Lautlehre] V. I. p. 2 §2.

<sup>2.</sup> Bloch: L'Indo-Aryen. P. 71.

३. एषा नतिर्देन्त्यमूर्धन्यभावः [ऋक् प्रा० ५. ६१]; दन्त्यस्य मूर्धन्या-पत्तिर्नेतिः [वाजसनेयी प्रा० १. ४२]

के सानुनासिक रूप भी पाये जाते हैं, जिसे प्रातिशाख्यों तथा शिचा-प्रन्थों में "रक्त" संज्ञा दी गई है।

श्र-संस्कृत श्र का विकास प्रा० भा० यू० \*श्र, \*ए, \*श्रा तथा श्रद्धारवटनाकारी स्वरीभृत श्रनुनासिक \*न् \*म से हुन्ना है। उदाहरणार्थ,

सं॰ अजित, अवेस्ता अज़इति [azaiti], श्रीक अगेइ [agei]

८ \*अगेड [\*agei]
,, ब्रस्ति ,, ब्रस्तिय् [astiy], ग्रीक ऐस्ति [esti]
८ \*ऐस्ति [\*esti]

,, पतिः ,, पइतिश् [paitis'], ब्रीक पासिस् [posis]

८ \*पातिस् [\*potis]

,, दश ,, दस [dasa], ग्रीक ट्क [deka] ८ \*देक्म [\*dekm]

,; ततः ,, ... ग्रीक ततास् [tatos]

८ \*ल्तास् [\*tntos]

श्रा संस्कृत श्रा का विकास इन्हीं के दीर्घरूपसे हुआ है। श्रादिम भाव यूव श्रा, ए, श्रो तथा स्वरीभृत न्, म के दीर्घरूपसे श्रा का विकास हुआ है। यथा,

सं॰ मातृ [ मातर्] अवे॰ मातर् [matar] श्रीक मातेर्

[mater] ८ \*मातेर् [ \*mater] सं॰ मा , मा [ma] ग्रीक मे [me] ८ \*मे [me]

१. रक्तसंज्ञेऽनुनासिकः [ऋक् प्रा० १.,१७]

२. तनु विस्तारे इति धातोः क्तप्रत्ययः ।

सं॰ गाम ,, गम्स [gam] श्रीक बोन् [Bon] ∠\*ग्वोम्स [gwom]

सं॰ जातः श्रवे॰ जातो [zato] ग्रीक ग्नोतास् [gnotos] ८ \* ग्न्तास् [\*gntos]

,, जा: ,, जा [za] ,, ख्थोन् [khthon], ८ <sup>\*</sup>√ ह्स्स् [\*ghsm—]

इ, उ [ई, ऊ] संस्कृतके हुस्य तथा दीर्घ इ, उ का विकास कई मूलरूपोंसे हुन्ना है। [१] प्राचीन भा० यू० इ, उ [ई, ऊ] संस्कृतमें इसी रूपमें पाये जाते हैं, यथा,

सं॰ इहि [\*इधि] अवेस्ता इदी [idi] ग्रीक इधि [ithi], ∠ \*इधि [idhi]

,, डप ,, डप [upa] ,, उपा [upo] ∠\*उप [upa]

,, जीव पारसो जीव [ziwa], लैतिन उईअस् [uius]

८ \*म्बीव्स् [\*gwiws]

" अू: " अब् [abru], ग्रीक आफूस् [ophrus]

८ \*आभ्रुस् [\*obhrus]

[२] संस्कृत 'इ' कई स्थानों पर प्रा॰ भा॰ यू॰ अ [Ə] से विकसित हुन्ना है। यथा,

सं॰ पितृ [ पितर् ] अवे॰ पितर् [pitar] श्रीक पतेर [pater]

∠ <del>\*प्अतेर</del> [pəter]

" दुहिता [दुहितृ] " दुःदा [du४da] " थुगातेर [thugater]
∠ द्रघ्अतेर [dughəter]

[३] संस्कृत इ, उ जहाँ इर्, उर् के रूपमें पाये जाते हैं, वहाँ प्रा॰ यू॰ \*ऋ [r] से विकसित हैं। यथा—

<mark>सं∘ गुरु, श्रवेस्ता गोउरु [gourn</mark>], ग्रीक बरुस् [barns] ∠**\*गृउस्** [\*grus]

<mark>,, गिरि ,, गइरि [gairi] ,, ∠ \*गृरि [गृर्अ] [\*</mark>grri]

[\*grrə]

ऋ, ऋ, लः संस्कृत ऋ, ऋ, छ शुद्ध स्वर न होकर र्, ल् के स्वरीभूत रूप हैं। ऋक्प्रातिशाख्यके टीकाकार उच्चटके मतानुसार 'ऋ' को चार पादों में विभक्त किया जा सकता है। इनमेंसे प्रथम तथा श्रांतिम पाद स्वरका तथा मध्यके दो पाद व्यंजनके हैं। इसे हम यों व्यक्त कर सकते हैं: क् ऋ = अ - र + अ इसीका दीर्घ रूप ऋ है। इसी प्रकार छ को अ + क + अ माना जा सकता है। ऋ तथा छ दोनोंका श्रवेस्तामें अर्थ [विक्शे के रूपमें विकास हुश्रा है। ये सभी प्रा० मा० यू० रूक [र] रूद्ध विकासित हुए हैं। संस्कृतका 'ल्' जो केवल 'क्छप्' में पाय जाता है, संभवतः प्रा० मा० यू० रूक [ रूप] से विकासित हुश्रा है।

प्रा॰ भा॰ यू॰ \*r, \*l दोनों ही संस्कृतमें ऋ के रूपमें विकसित हुए हैं।

सं० **√ मृड्**— <mark>८ \*मृज़्द्</mark> [\*mrzd] ,, इद ८ **\*हज़्घ** [\*drzdha]

- ,, वृढ [परि-], ∠ \*बृज्ध [wrzdha]
- ,, पृथु अवे॰ प्अर्अथु [pərəthu] 🛮 \*पृथु [prthu]

संस्कृत दीर्घ ऋ को संस्कृत इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंके द्वितीया तथा वडी बहुवचन 'हरोन्-हरीणाम', 'भानून्-भानूनाम' के साहश्य पर ऋकारान्त शब्दोंमें बनाया गया रूप मानते हैं। वस्तुतः दीर्घ ऋ केवल इन्हीं दो विभक्तियोंके बहुवचन रूपोंमें [ऋकारान्त शब्दोंमें] पाया जाता है, यथा पितृन्, श्रोतृन् ; पितृणाम, श्रोतृणाम ; मातृः, स्वसृणाम । श्रतः इसे प्रा॰ मा॰ यू॰ दीर्घ \*ऋ [में] से विकसित नहीं माना जा सकता ।

प, ओ संस्कृत की ए, श्रो ध्वनियाँ कमशः प्रा० भा० यू० \*श्रह, \*एइ, \*श्राइ, तथा \*श्रड, \*एउ, \*श्रोड से विकसित हुई हैं। ये दोनों मूलतः सन्ध्यच्चर हैं। इनके विकासके उदाहरण रूपमें ये रक्खे जा सकते हैं:—

सं॰ अश्वे, श्रीक हप्पाइ [heppoi] ८ \*एक्वाइ [ek"oe]
,, भवेत [मि॰ श्रीक, फराइता, [pheroito] ८ \*भवाइता [bhewoito]।

संस्कृत भाषामें ही अह [ अय् ], तथा अउ [ अव् ], ए तथा ओ के रूपमें परिवर्तित होते मिलते हैं :-- मघवन्-मघोनः, भगवन्-भगोस् ।

पे, औ—संस्कृत ऐ, श्री ध्विनयुग्मोंका विकास प्रा० मा० यू० सन्ध्यत्तरों [ध्विनयुग्मों] से हुग्रा है, जिनमें प्रथम स्वरध्विन दीर्घ \*श्रा, \*ए, \*श्रो [a. e. o] रहा है। ऐ, श्रो संस्कृतमें भी श्राय् तथा श्राव् के रूपमें परिवर्तित होते देखे जाते हैं। यथा, गौः, गावः, नौ, नौभिः, नावं,

<sup>?.</sup> Bloch i L'Indo-Aryen. P. 30.

वौः, वावा । इनके प्रा० भा० यू० से उत्पन्न विकासके लिए ये उदाहरण दिये जा सकते हैं:---

सं॰ अरैत्तम्, ग्री॰ एलइण्स [eleipsa] ∠ \*लेय्न्य् [\*leyk"-]

<mark>,,नौः ,, नाउस्</mark> [naus] ८ \*नाव्स् [naw-s]

<mark>द्यौः ,, जउस् [ प्राचीन ग्रं० जेउस् ] [zeus] ∠ #द्येव्स्</mark>

[dyew-s]

युद्ध स्वरोंके श्रातिरिक्त संस्कृतमें स्वरोंके सानुनासिक रूप भी पाये जाते हैं। विदेक तथा लौकिक दोनों संस्कृतमें श्रिधिकतर सानुनासिक स्वर दीर्घ पाये जाते हैं, आँ, ई, ऊँ, किन्तु हस्य स्वरोंके साथ भी सानुनासिकता होती है। वेदमें पदान्त आ जो न से पूर्व होता था, दूसरे पदके श्रादिमें स्वर ध्विन श्रानेपर सानुनासिक हो जाता था, साथ ही वह खुत भी हो जाता था। जैसे जोकाँडऽश्रकत्पयन्, श्रिमनन्ताँडऽएवैः। वैदिक तथा लौकिक संस्कृतमें दीर्घ आ, ई, ऊ तीनों पदान्त न से पूर्व होनेपर तथा ऐसे अन्य पदसे संहित होनेपर, जिसके आदिमें चवर्गीय, टवर्गीय तथा तवर्गीय ध्विन हो, श्रनुनासिक हो जाते हैं, यथा श्रहाँ रच सर्वान्, पश्रस्ताँशचके। कुछ ध्विनशास्त्रियोंके मतानुसार हस्य स्वर भी सानुनासिक होते हैं। यह रूप वहाँ पाया जाता है, जहाँ परवर्ती ध्विन ऊष्म या 'ह' है। अँग [श्रंश], सिँह [सिंह], किँशुक [किशुक], प्रसक [प्रसक] में क्रमशः सानुनासिक अ, इ, उ ध्विनयाँ हैं। पाणिनिने भी हस्य तथा दीर्घ 'श्र' 'इ' 'उ' के वाक्यके श्रन्तमें होनेपर श्रनुनासिकीकरण माना है।

संस्कृत व्यञ्जन व्विनियोंका विकास पा० मा० यू० व्यञ्जन व्विनयोंका पूर्ण विकास संस्कृतमें पाया जाता है। व्यञ्जनोंकी दृष्टिसे संस्कृत किस प्रकार भारत-ईरानी शाखाका पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है, यह इम पूर्ववर्ती परिच्छेदमें बता चुके हैं। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमें चता ब्राये हैं प्रा॰ भा॰ यू॰ में तीन प्रकारकी कराठ्य ध्वनियाँ थाँ। संस्कृतकी कवर्ग ध्वनियाँ प्रायः प्रा॰ भा॰ यू॰ शुद्धच कराठ्य तथा कराठोष्ठ्य ध्वनियोंसे विकसित हुई हैं।

कः — प्रा॰ भा॰ यू॰ शुद्ध कएट्य 'क' तथा करठोष्ट्य 'क्व' पश्च-स्वर श्रथवा व्यञ्जन ध्वनिसे पूर्व होनेपर संस्कृतमें क ही बने रहे हैं। वैसे श्रिय स्वरसे पूर्व होनेपर वे च के रूपमें विकसित हुए हैं। सं॰ क्रविः ग्रीक क्रेश्र [व] स् [kre [w] as] ∠ \*क्रेव्अस् [krewəs]

", कूरः लैतिन कुत्रोर [Cruor] [रक्त], रूसी क्रोब्य [Krovy]

८ \* कुवोस् [Kruwos] , कः ,, क्वोस् [quos], श्रीक पा [qc-] ८ \* क्वास् [K"os]

ख:—संस्कृत ख ध्विन प्रा० भा० यू० \*ख, \*ख्व से विकसित मानी जा सकती है, किन्तु हमारे मतसे संस्कृत \*ख शुद्ध कएठ्य \*ख का ही विकसित रूप है। स्टर्टेंबन्टके मतानुसार प्रा० भा० यू० \*ख शुद्ध कएठ्य \*क तथा भा० हिताइत अघोष कएठनालिक ध्विन, ', × का पल्लिवत रूप माना जा सकता है। प्रा० भा० यू० \*ख अवेस्तामें कभी ह तथा कभी ख पाया जाता है। इसे प्रा० भा० यू० \*स्ब का भी विकसित रूप माना जा सकता है।

सं॰ खादति ८ \*स्वादाति [skhadoti] सं॰ नव, ग्रीक श्रेनुख् [onukh] मख," मखामाइ [makhomai] [युद्ध] ८ \*मवास् [makhos]

ग :— संस्कृत ग प्रा० भा० यू० <sup>\*</sup>ग तथा <sup>\*</sup>ग्व से निकला है; ठीक उसी तरह जैसे संस्कृत क प्रा० भा० यू० <sup>\*</sup>क तथा <sup>\*</sup>वव से । सं० उप्र ∠ <sup>\*</sup>उप्र [Ugra] सं॰ गौः, ग्रीक बाउस् [Bous] ८ \*ग्वोव्स् [g"ows]

घः — संस्कृत घ प्रा० भा० यू० \*घ तथा \*घ्व से विकसित हुन्ना है, यह प्रा० भा० यू० \*घ तथा \*घ्व कहीं कहीं संस्कृतमें ग्राकर ह के रूपमें भी विकसित हुन्ना है। त्रातः संस्कृत ह प्रा० भा० यू में ह जैसी ध्वनिसे विकसित नहीं हुन्ना है।

वैदिक सं ॰ द्रोग्घ ८ \*भ्राउघा [dhrougho] संस्कृत घन, रूसी ग्नत्य [gnaty] ८ \*ध्वाना [gh"ono]

तुलनात्मक भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे संस्कृतमें दो तरहकी तालव्य ध्वनियाँ पाई जाती हैं; एक वे हैं जो संस्कृतमें प्रा० मा० यू० तालव्य ध्वनियों — \*क्य, \*ख्य, \*ख्य, \*ख्य, से विकसित होकर ग्राई हैं, दूसरी वे चवर्गीय ध्वनियाँ जो ग्रुन्य दो प्रकारके प्रा० मा० यू० कराठ्य ध्वनियोंसे विकसित हुई हैं। ये तालव्य ध्वनियाँ वस्तुतः उन ध्वनियोंसे विकसित हुई हैं, जो स्वयं मूलतः तालव्य वहीं थीं, किन्तु परवर्ती ग्रुग्रस्वर [ए, इ ग्रादि] के कारण ईषत्तालव्य कपमें उच्चारित होती थीं। उदाहरणार्थ प्रा० भा० यू० \*क्व [क्षण्ड] में प्रथम व्यंजन] ध्वनि तालव्य न होकर कराठोष्ठ्य है, किन्तु यह प्रा० भा० यू० कराठोष्ठ्य ध्वनि तंसकृतमें 'च' हो गई है, ग्रीर विकसित शब्द 'च' [ग्रीर] हो गया है। ग्रुतः स्पष्ट है कि प्रा० भा० यू० कराठ्य तथा कराठोष्ठ्य ध्वनियाँ ही ग्रुग्रस्वरके परवर्ती होनेपर संस्कृत में च हो गई हैं, जब कि प्रा० भा० यू० तालव्य क्य संस्कृतमें श के रूपमें विकसित हुग्रा है। इसी संबंधमें यह भी कह दिया जाय कि संस्कृत छ ध्वनि भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत च ध्वनिका महाप्राण् रूप न होकर संस्कृत श ध्वनिका महाप्राण रूप है।

Wackernagel; Altindische Grammatik [Lautlehre]
 vol. I, PP. 227-8.§200.

से न होकर \*ख्य से हुन्ना है। यद्यपि प्रातिशाख्यों में तथा परवर्ती व्याकरण प्रन्थों में भी इसे 'च' का महाप्राण माना है, किन्तु संस्कृत 'छ' के विकासके विषयमें भाषाशास्त्रीय तथ्य इससे भिन्न है। इसीलिए प्रायः ऐसा देखा जाता है कि संस्कृतमें श, छ में परिवर्तित होता देखा जाता है, जैसे संधिमें,— तत् + शख्या = तच्छुख्या, पद् [त्] + शः = पच्छुः। इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत श तथा छ क्रमशः प्रा० भा० यू० \*क्य, \*ख्य से विकसित हुए हैं।

श: - संस्कृतमें प्रा० भा० यू० \* क्य, श बना है, पर ग्रीक तथा

लैतिनमें क ही रहा है; यथा-

संस्कृत√ श्रू , ग्रीक क्रुओ [kluo], लैतिन क्रुएओ [clueo] ∠ \*क्टलु-[klu-]

लु: —संस्कृत 'छ' 'श' का महाप्राण है; किन्तु जैसा कि हम देखेंगे इसका विकास प्रा॰ भा॰ यू॰ शुद्ध \*ख्य से न होकर \*स्ख्य से हुआ हैं । उदाहरणार्थ संस्कृतके 'छाया' शब्दको लीजिये, जिसका समानान्तर ग्रीक शब्द 'स्किआ' [skia] है । हम देखते हैं कि संधिमें 'छाया' का यह 'छ' 'च' से युक्त हो जाता है, यथा शिव + छाया = शिवच्छाया । यह 'च' बताता है कि वास्तविक संस्कृत शब्द \*च्छाया रहा होगा जो उच्चारण सौकर्यकी दृष्टिसे 'छाया' बन गया । यह च्छु प्रा॰ भा॰ यू॰ \*स्ख्य का विकास है । यद्यपि पदादिमें संस्कृतमें यह 'च्छु' उच्चरित नहीं होता, तथापि पदमध्यमें यह पुनः अपने स्वभावको प्राप्त हो जाता है, जैसे शिवच्छायामें । धीरे धीरे 'च्छु' तथा 'छ' में कोई भेद नहीं माना जाने लगा । वैदिक संहितात्रोंकी लिपिमें 'च्छु' को 'छ' से लिपीकृत किया गया है । काठक शाखाकी संहितामें इसीके लिए 'श्छु' का चिह्न पाया जाता है । संस्कृत गच्छित में भी यही च्छु है, जो गछिति [कुळु लोगोंके मतानुसार] लिखा जा सकता है ।

संस्कृत गण्छति, ग्रीक बस्को [basko] [मैं जाता हूँ ८ \*ग्व्म्सल्यति [g"mskhati]

" प्रच्छिति, पा॰ हाईजर्मन क्रोस्कॉन [forskon] ८ \*पृस्ख्यिति [pṛskhati]

च : संस्कृत च ध्विन उन प्रा॰ मा॰ यू॰ \*क तथा \*क्व से विक-सित हुई है, जिनके परे कोई श्राग्रस्वर था। संस्कृतमें ही कई धातुत्रों तथा शब्दोंमें 'क' तथा 'च' का विपर्यय देखा जाता है, जैसे सं०√ शुच् [ शुक्] धातुसे शुक्र तथा शुचि दोनों शब्द निष्यन्न होते हैं।

संस्कृत चकार ८ \*ककोर [kekore]।

- <mark>", चचच ८ कंकोक्स</mark> [kekokse]।
- <mark>,, चित्,ग्रीक तिस्</mark> [tis] ∠**≭क्वि** [k<sup>w</sup>i]।

ज : संस्कृत ज प्रा० भा० यू० \*ग तथा \*ग्व से विकसित है, जो स्व्रयस्वरसे पूर्व थे। संस्कृतमें ग तथा ज का विपर्यय देखा जा सकता है, स्वक् [स्वग्], स्वजो, स्वजः।

<mark>सं॰ श्रोजस् , लै॰ श्रोगेस्</mark> [ogas] ८ \*श्र**उगस्** [augas]।

, जीव, प्रा॰ स्लाग्वोनिक ज़्हीब्य [zhivpa] ८ \*ग्वीवा [ ग्वीवास् ] [\*g"iwos]।

,, जगाम ८ \*खन्वाम [g"eg"ome]।

भा :— 'भा' को संस्कृतमें 'ज' का महाप्राण माना जाता है, पर भाषा-शास्त्रीय तथ्य भिन्न है। अग्रस्वरके पूर्ववर्ती प्रा॰ भा॰ यू॰ 'घ' 'घ्य' संस्कृतमें आकर 'ह' के रूपमें विकसित हुए हैं। पश्च स्वर या अन्य ध्वनियों के पूर्व वे 'घ' ही बने रहे हैं। अतः जिस प्रकार घ, ग का महाप्राण है, उसी प्रकार भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे ह, ज की महाप्राण ध्वनि है। संस्कृतकी 'म' ध्विन शुद्ध भारोपीय शन्दों में नहीं पाई जाती। श्रिधिकतर इस ध्विनवाले शब्द या तो बाहरसे संस्कृतमें श्राये हैं, या श्रनुकरणात्मक शब्द हैं, यथा मटिति, भरणभरणायित, भांकृतैर्निर्भराणाम् में।

ह: - संस्कृतमें दो प्रकारकी 'ह' व्यनि पाई जाती है, एक सघोष दूसरी अधोष । भारतीय विद्वानोंको इस बातका पूरा पता था, यद्यपि अधोष 'ह' के लिए कोई विशेष लिपि संकेत न होकर, केवल विसर्ग पाई जाती है। पाणिनिने या उनके पूर्ववर्ती किसी वैयाकरणाने वर्णसमामनायेमें दो बार 'ह' का प्रयोग किया है - हयवरट्, हल्। इनमें प्रथम सूत्रका 'ह' सघोष है, द्वितीय वाला 'अधोष'। यहाँ हमें सघोष 'ह' के विकास पर ही संकेत करना है कि वह प्रा० भा० यू० कृष, कृष्वसे विकसित हुआ है।

सं॰ दुद्धति ८ रू√ धव्घ [√ धाव्घ] [रू ध्व्य्य्ति \*dbrewghyti]

,, हन्ति ८ रं√ ध्व्न् [ध्नन् [ध्नन् , ध्नान् ] रंख्न्ति [gh"nti]

[ग्रीक, थइनो [theino] [मैं मारता हूँ]

,, बहति, ग्रवे॰ बज्इति [wazaiti], लै॰ उएहित [uehit]

∠ \*व्एघ्एति [\*wegheti]

प्रा॰ भा॰ यू॰ में प्रतिवेष्टित ध्वनियाँ [मूर्धन्य ध्वनियाँ] थी ही नहीं, किन्तु संस्कृत में 'ट, ठ, ड, ढ, ए' ये प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] स्पर्श ध्वनियाँ पाई जाती हैं। ये ध्वनियाँ कहाँ से आईं १ अधिकतर ऐसी धारणा चल पड़ी है कि ये ध्वनियाँ द्रविड भाषाओं की ध्वनिसम्पत्तिका प्रभाव है; किन्तु वे

१ विद्वानोंका इस विषयमें ऐकमत्य नहीं है कि वर्णसमाम्नायकी रचना पाणिनिने की थी, या उनसे पूर्ववर्ती वैयाकरण [शिव या माहेश्वर ?] ने ।

ध्वनियाँ कौन सी थीं, जो इस रूपमें विकसित हुई ? ऋध्ययन करने<mark>पर</mark> पता चलता है कि संस्कृतकी इन प्रतिवेष्टित ध्वनियों में कई प्रकारकी ध्वनियाँ युर्लामल गई हैं। संस्कृतकी ऋधिकांश 'टवर्गीय' ध्वनियाँ संस्कृत में प्राकृतका [उलटा] प्रभाव है। संस्कृत में, ऋग्वेदमें ही, रेफके प्रभाव से परवर्ती दन्त्य का नितिभाव पाया जाता है, यथा 'विकट', 'उत्कट' का 'कट वस्तुतः 'ऋत' से विकसित हुग्रा है, इनका मूल रूप विकृत, उत्कृत हैं। कभी कभी तो यह रेफ संस्कृतमें ही स्पष्ट रूपसे वर्तमान होता है, किन्तु कभी कभी यह ऐतिहासिक विकासमें जुत हो गया होता है, यथा सं० कडु, लिथुत्र्यानियन कर्तुंस् [kartus] । यहाँ हम लिथुत्र्यानियनके त्राधारपर यह कह सकते हैं कि संस्कृतका वास्तविक रूप \*कर्तुं था, तथा यद्यपि <mark>ऐतिहासिक विकासमें रेफ जुत हो गया, तथापि 'त' का नतिभाव 'ट'</mark> उसीके कारण है। यह रेक [र्] ग्रन्य भारत यूरोपीय भाषात्रोंमें ल रूपमें भी हो सकता है। उदाहरराके लिए संस्कृत जठर का संबंध गाँथिक किल्थें **इ** [kilpei] से है। इसो त्राधारपर रूसी विद्वान् फ़ोर्तुनातोफ़ [Fortunatov] ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि प्रायः संस्कृत प्रति-वेष्टित प्रा॰ भा॰ यू॰ ल + दन्त्य से विकसित है। किन्तु यह सिद्धान्त इसिलए ब्राहत न हो सका कि इसके कई ब्रापवाद देखनेमें ब्राते हैं। संस्कृत जठर की मूर्धन्य ध्वनि रेफके ही कारण हो सकती है, जो संस्कृत शब्द जर्तु, जरती त्रादिमें स्पष्ट रूपसे विद्यमान है। संस्कृत प्रतिवेष्टित सदा ही प्रा॰ भा॰ यू॰ \*र या \*ल से प्रभावित 'दन्त्य' ध्वनिसे विकसित हुए हैं यही बात नहीं है। संस्कृत श ध्वनिका भी प्रतिवेष्टित विकास पाया जाता है, जो प्रा॰ भा॰ यू॰ \*क्य से विकसित है, यथा संस्कृत शब्द पश् तथा विश् के तृतीयाचतुर्थीं व० व० में पड्भिः, विड्भ्यः रूप पाये जाते हैं। किन्तु यह कहना भी सत्य न होगा कि समस्त 'शान्त' शब्दों में 'भ' के पूर्व प्रतिवेष्टितत्व पाया ही जाता है; इसके विरुद्ध प्रमाण हग्भिः, दिग्भ्यः हैं, जो दृश् तथा दिश् के रूप हैं। यहाँ इस समस्याको सुलभाना सरल नहीं

है कि क्या नित्माव ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे टीक है, तथा 'ग्' वाले रूप ध्वनि-नियमके अपवाद हैं, अथवा यह वात विपरीत रूपमें है। तथापि, वाकेर-नागेलके मतानुसार इन स्थानोंपर नित्माव [मूर्जन्यता] को ही नियतरूपी मानना होगा, क्योंकि ऐसा न माननेपर करुड्य ध्वनिके साथ पाई जाने वाली नितको, जैसे दिश्च = दिक् + षु; दृश्च = दृक् + षु में—स्पष्ट करने में अशक्तता होगी। इसी प्रकार अन्य प्रा० भा० यू० तालन्य ध्वनियों 'ख्य', 'ग्य' 'ध्य' ने भी अपनी अपनी प्रतिवेष्टित ध्वनियोंको विकसित किया है। जैसा कि हम अनुपदमें देखेंगे ये तालन्य ध्वनियाँ संस्कृत प्रति-वेष्टित [मूर्धन्य] ध्वनियोंके विकासमें महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं।

ट:—संस्कृतकी ट ध्विन एक श्रोर प्रा० भा० यू० कत का विकसित रूप हैं, जो कभी रेफसे युक्त था, तो दूसरी श्रोर कभी प्रा० भा० यू० किया हिं० शा तथा कभी किया, किया हिं० ज, हो से युक्त था। उदाहरण के लिए सं० कहु ∠क्रकुर्स [kartus]; सं० विष्ट [वश्—ति], मृष्ट [मृज्—त], राष्ट्र [राज्—त्र] को ले सकते हैं। संस्कृतके सामान्य भूते लुङ्के श्रयाट् [∠—याज्—त], श्रवाट् [∠—वाह्—त] में, जो √ यज् तथा √ वह् धातुके रूप हैं, प्रा० भा० यू० किया, किया है, जो संस्कृतमें कमशः ज तथा ह हो गया है। सतं वर्गकी श्रव्य भाषाश्रोंके तुलनात्मक श्रध्ययनसे इस बातकी पुष्टि होती है कि ये ध्वनियाँ धातुमें मूलतः स्पर्श व्यक्तन न होकर सघोष ऊष्म थीं, यथा श्रवेस्ता यज्ञहति [yazaiti] [सं० यज्ञित], प्रा० चर्च स्लावोनिक वेज़ [wez] [सं० √ वह्]।

उ: संस्कृत थ इसी प्रकार रेफ, श, ज तथा ह के योग से \*थ का विकसित रूप है। यथा, जठर, गाँ थिक किल्थें इ [kilpei] के आधारपर

<sup>9.</sup> Wackernagel: Altindische Grammatik. [Lautlehre] Vol. I pp 173-5 § 149.

R. Bloch: L'Indo-Aryen p. 53.

प्रा॰ मा॰ यू॰  $\sqrt{*$ ग्व्र् [ ग्र्] [  $g^{w}r;$  gr; gr;

ड [ळ]: --- कभी-कभी प्रा० भा० यू० दन्त्यों के नतिभावमें प्रा० भा० यू॰ सघोष ऊप्म \*ज़ [\*z] का प्रमुख हाथ देखा जाता है। यह वहाँ होता है, जहाँ ज़ के योगमें पाई जानेवाली दन्त्य ध्विन सवीच [द, ध] है। यह नितभाव प्रायः वहाँ होता है, जहाँ प्रथम पूर्ववर्ती स्वर श्र या श्रा नहीं है। इस प्रकारके परिवर्तनमें कोई नई वात नहीं है, क्योंकि य तथा आ से भिन्न स्वर होनेपर प्रा॰ भा॰ यू॰ \*ज [ह ] का विकास \*ज + [८] के रूपमें हो जाता था। यह विकास ठीक उसी तरह होता था जैसे सबोछ 'स' ध्विन श्र तथा श्रा से इतर स्वर ध्विनिके पूर्ववर्ती होनेपर ष हो जाती है। जैसे, देवेषु, हरिषु, गोषु में, जब कि पयःसु, रमासु में स ध्वनि अपरिवर्तित रहती है। जिस प्रकार यह प किसी दन्त्यका नितभाव कर देता है, ठीक वैसे ही यह ज + [3] भी नितभावका कारण बनता है। इन दोनों दशात्रों में मेद यही है कि प ध्विन संस्कृतमें लुप्त नहीं होती, जब कि ज़ + लुप्त हो जाती है। इसका कारण संभवतः यह है कि संस्कृतकी ध्वनियों [phonology] में ज़ [z], ज़ + [द] ये ध्वनियाँ हैं ही नहीं। संस्कृत 'ळ' ध्वनि जो वेदमें पाई जाती है, स्वरमध्यगत 'ड' का विकास है। संस्कृत दूळम को \*दुर्दभ का रूप मान सकते हैं।

संस्कृत \*दूडम [दूळम] ८ \*दुज्+ दम [duʒ — dabh] ८ \*दुज् — दम [duz—dabh]

,, नीड $\angle$  stनिज़्+द  $[ ext{ni}\chi- ext{d}]$  $\angle$  stनि-स्द्-त्र  $[ ext{ni}$   $- ext{sd-a}]$ 

ड: — संस्कृत ड की माँति ढ के विकासमें <sup>★</sup>ज़ + का विशेष हाथ है। इसे हम ज़्<sub>र</sub> + ध का विकसित रूप मानते हैं, यथा— संस्कृत श्रस्तोढ्वम् [वैदिक रूप ] र्िस्तु ८ \*श्र — स्तोज् + — ध्वम् [a — stoʒ — dhwam] ८ \*श्र — स्तोष् — ध्वम् [a — stos — dhwam]

किन्तु ध्यान दीजिये ऋ या ऋा ध्वनिके पूर्व होनेपर ढ नहीं होगा, यथा भाषध्वे । वाकेरनागेलने इसीके अविद्धि [  $\sqrt{ ऋव्से सामान्यभूते लुङ्], तथा द्विद्धि, ढ [ <math>\sqrt{ द्विष्से लोट्का रूप ] दिये हैं ।$ 

संस्कृतकी दन्त्य तथा द्वचोष्ठ्य ध्वनियाँ प्रा० भा० यू० दन्त्य तथा द्वचोठ्य ध्वनियोंसे सीधे विकसित हुई हैं।

तः संस्कृत त प्रा० भा० यू० \*त का श्रपरिवर्तित रूप है, पिनृ ८

थः — संस्कृत थ प्रा० भा० यू० \*थ का अपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत रथ, अवेस्ता रथ [raβa], ग्रीक हाथास् [e,rothos] ८ \*राधास् [rothos]।

सं॰ √ ग्रन्थ [त्रथ्], ग्रान्थास् [gronthos] [हथोड़ा] गुर्मथास् [gur-

८ \* ब्रान्थास् , \*ब्राथास् [\*√ ब्रान्थ् , ब्राथ् ] [\*gronthos, grothos] [\*√gronth, groth]

दः—संस्कृत द ध्वनि प्रा० भा० यू० \*द का अपरिवर्तित रूप है। जैसे, संस्कृत ददाति, ग्रीक ददोति [dedoti] < \*ददोति [dedoti]

१. दे॰ मेकडोनलः वैदिक ग्रामर पृ० ४३०.

२. वाकेरनागेलः श्राब्तिन्दिश्के ग्रामातीक. भाग १. § १५० ( बी ). पृ० १७६.

ध:—संस्कृत घ ध्वनि प्रा॰ भा॰ यू॰ \*ध का श्रपरिवर्तित रूप है, जैसे, सं॰ दधार, ग्रीक तथेतइ [tethetai] ८ \*धंधोरे [ dhedhore]

प्रा० मा० यू० घ मी प्रा० मा० यू० घ, घ्व की भाँ ति अग्रस्वरसे पूर्व होनेपर संस्कृतमें त्याकर ह हो जाता है। इसके उदाहरणके रूपमें हम संस्कृत हित को ले सकते हैं, जो√ धा धातु से क्त [धा +क्त] प्रत्यय जोड़कर बना है। यहाँ ध का ह हो गया है। पाणिनिने स्वयं भी इस भाषाशास्त्रीय तथ्यको 'दधातेहिं:' इस स्त्रके द्वारा स्वीकार किया है। ग्रीकमें यह प्रा० मा० यू० रूध, 'ध' [th] हो जाता है।

पः—संस्कृत प ध्वनि प्रा० भा० यू० रूप का ग्रपरिवर्तित रूप है, यथा, पिता ८ रूप्अतेर [peter], सं० पत्नी, ग्रीक पात्निग्रा, ८ रूपात्नी फः—संस्कृत फ प्रा० भा० यू० रूफ का ग्रपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत फल, ग्रीक फुल्लान [phullon] [पत्र] ८ रूफल्ला—

[\*phallo-]

वः — संस्कृत ब प्रा॰ भा॰ यू॰ \*ब का अपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत बहिः, अवेस्ता बर्अजिश् [ barəzis ] ∠ \*बरिवस् [barghis]

भः - संस्कृत भ प्रा॰ भा॰ यू॰ \*भ का अपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत भरित, अवेस्ता बरइति [baraiti], ग्रीक फरिस [bheresi]

प्रा॰ भा॰ यू॰ \*भ वैदिक संस्कृतमें ह के रूपमें भी विकसित दिखाई देता है।  $\sqrt{$  प्रम् —  $\sqrt{$  प्रह् जैसे वैकल्पिक रूप वेदमें पाये जाते हैं, पर यह विशेषता विभाषागत मानी जा सकती है।

ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे संस्कृतमें ण, न, म ये तीन ही अनुनासिक ध्वनियाँ मानी जा सकती हैं। ङ तथा ज स्वतन्त्र ध्वनियाँ न होकर न के ही ध्वन्यंग हैं। न ध्वनि कवर्गीय ध्वनिके परवर्ती होनेपर छ तथा चवर्गीय ध्वनिके परवर्ती होनेपर ज हो जाती है। उदाहरणके लिए हम यङ्कामयते, शज्च मे, को ले सकते हैं। कभी कभी क—ग ध्वनियाँ उनसे परे न या म ध्वनि होनेपर छ का रूप धारण कर लेती हैं, यथा वाङ्कामय, दिङ्काम में। किन्तु यहाँ छ को स्वतन्त्र ध्वनि न मानकर कना ध्वनियोंका ही सन्ध्यात्मक [prosodic] रूप मानना ठीक है। कुछ विद्वान् ण को स्वतन्त्र ध्वनि माननेके पत्तमें नहीं हैं। ज्यूल ब्लॉख इसे स्वतन्त्र ध्वनि माननेपर ज़ोर देते हुए लिखते हैं:— किन्तु [छ, अ, ण मेंसे] अकेला मूर्धन्य [ण] ही स्वतन्त्र ध्वनि है तथा स्वरमध्यगत रूपमें प्रकट होता है। यह या तो उस स्वरके बाद होता है, जो प्रागैतिहासिक रूपमें ऋ था, या वह स्वयं र या ष का परवर्ती है। यह एक स्वतन्त्र ध्वनि है, किन्तु इसकी स्वयंकी रिथित सीमित है। यह ध्वनि पदादिमें नहीं पाई जाती। नव्य भारतीय मापाओंमें इसका अत्यधिक विस्तार पाया जाता है।

ड़, ज—ये दोनों त्रानुनासिक 'न' के ही ध्वन्यंग हैं। कभी कभी ऐसे स्थानोंपर भी जहाँ 'कवर्गीय' ध्वनिका ऐतिहासिक कारणोंसे विकल्पसे लोप हो गया होता है, 'ड' ध्वन्यंग पाया जाता है, यथा युङ्ते, युङ्धि वस्तुत: युङ्के, युङ्धि के ही रूप हैं।

ण:—यह वह न ध्विन है, जो ऋ, र, ष के प्रभावसे ण हो गई है, य्रथवा परवर्ती टवर्गीय ध्विनके कारण ण हो गई है। उदाहरणके लिए इन शब्दींको ले हों—वर्ण, नृणाम, ऋपण, जोभण, निवयद, मण्डयति।

नः - संस्कृत न प्रा० भा० यू० \*न का अपरिवर्तित रूप है; यथा संस्कृत मनस्, ग्रोक मनास् [menos] ८ \*मनास् [menos]

मः -- संस्कृत म प्रा० माँ० यू० \*म का अपरिवर्तित रूप है, यथा

<sup>9.</sup> Bloch: L'Indo-Aryen P. 71.

संस्कृत मातृ [ मातर् ], थ्रीक मातेर् [mater], लैतिन मातेर् [mater]
∠ \*मातेर् [\*mater]

,, नामन् , लैतिन नोमेन् [momen] ८ \*नोमेन् [nomen]

श्रन्तःस्थ ध्वनियोंको लेनेके पूर्व सुविधाकी दृष्टिसे हम सोष्म ध्विनयोंको पहले ले लेते हैं। ये ध्विनयाँ तीन हैं:—श, प, स। श का अध्ययन हम कर चुके हैं, श्रतः यहाँ प तथा स को ही छेंगे। इनके साथ 'ह' के उस रूपको भी छेंगे, जो श्राघोष 'ह' है।

ष:—संस्कृत 'ष' प्रा० भा० यू० \*स ग्रथवा भारतईरानी श का ही विकसित रूप है। जहाँ ये ध्वनियाँ ऋ, र, तथा टवर्ग के योगमें साथ ही इ, उ, ए, श्रो तथा करट्य ध्वनिकी परवर्ती होती हैं, प हो जाती हैं। वैसे ड के विकासमें हम बता चुके हैं कि प वस्तुतः स [ग्रघोष ऊष्म ध्वनि] का ही प्रतिवेधित [मूर्धन्य] रूप है, जो श्र, श्रा से भिन्न स्वरसे परवर्ती होने-पर ष हो जाता है।

सः संस्कृत स प्रा० भा० यू० \*स का ग्रपरिवर्तित रूप है, यथा— संस्कृत श्रस्ति, ग्रीक एस्ति [esti], लैतिन एस्त [est] / \*एस्ति [esti]

ह: — यहाँ हम ह के अधिष रूपको लेंगे। अधीष ह का उच्चारण संस्कृतमें सदा पदान्तमें पाया जाता है। इसे संस्कृतमें विसर्ग कहते हैं। रामः, हंिरः में यही अधीष ह है। संस्कृतमें विसर्गके उच्चारणकी एक विशेषता है कि वह पूर्ववर्ती स्वर ध्विनसे युक्त होकर उच्चिरत होता है। रामः, हिरः का वास्तविक उच्चारण [रामह, हिरिहि] होता है। यह अधीष ह प्रा० मा० यू० पदान्त \*स्या \*र्से विकसित हुआ है।

संस्कृत अन्तःस्थोंका विकासः - प्रा० भा० यू० भाषाकालसे ही इस परिवारकी भाषात्रोंमें अन्तःस्य बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य करते देखे जाते हैं। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमें वता आये हैं, प्रा॰ मा॰ यू॰ में य, व, र, ल के त्रातिरिक्त न, म भी त्रांतःस्य थे। त्रान्तःस्थोंने भारतयूरोपीय भाषात्र्यों-की उस विशेषतामें प्रमुख कार्य किया है, जो स्रपश्रुति कहलाती है। वैसे वैज्ञानिक दृष्टिसे त्र्यन्तःस्थोंका विचार हमें स्वरव्यनियोंके साथ ही करना चाहिए था, किन्तु सुविधाकी दृष्टिसे हमने ऐसा नहीं किया है। हम देखते हैं कि संस्कृत य, व, र, ल प्रा० मा० यृ० \*य, \*व, \*र, \*ल से विकसित हुए हैं, किन्तु फिर भी प्रत्येक प्रा० भा० यू० 🔫 तथा प्रत्येक पा॰ भा॰ यू॰ <sup>क</sup>ल संस्कृतमें क्रमशः र तथा ल के रूपमें विकसित हुए हैं, यह मानना भ्रांतिपूर्ण होगा। प्रतिवेष्टित ध्वनियोंके विकासकी भाँति वैदिक संस्कृतकी दूसरी विशेषता प्रा० मा० यू० \*र, \* ल का विकास है। अपृग्वेदमें र, ल ध्वनियोंका अध्ययन करनेपर पता चलता है कि ऋग्वेद कालमें ही कई विमापात्रोंमें इनका विकास परस्पर एक द्सरेके लिए पाया जाता है। प्रत्येक प्रा० मा० यू० रूं ज श्रवेस्तामें र हो गया है, श्रीर ऋ वेदमें भी यह प्रायः र ही पाया जाता है, वहाँ ल बहुत कम पाया जाता है। यह मानना ग़लत न होगा कि भारत-ईरानी शाखामें आकर प्रा॰ भा॰ यू॰ रूल, र हो गया है। जहाँ ग्रीक स्रादिमें ल पाया जाता है, वहाँ यदि इस शाखा में र है, तो वह इसी वैभाषिक विशेषताके कारण। उदाहरराके लिए संस्कृत √रन्, श्रीक ऋजेन्सो [alekso], सं० रिच्, लैतिन लिंक्वो [linquo] सं० गर्भ, ग्रीक देश्कास् [delphos] को ले सकते हैं। किन्तु भारत-ईरानी शाखामें ऐसी भी विभाषा रही होगी, जिसमें प्रा० मा० यू० \* ल अपरिवर्तित रहा होगा, यथा सं० लोक, लै॰ लुकुस [lucus], सं॰ क्लोक, ग्रीक क्लुम्रा [kluo] । वैसे संस्कृतमें ऐसे भी शब्द मिलते हैं, जिनमें पा० भा० यू० रूर, ल हो गया है,

यथा सं० क्रोश लियुस्रा० क्रोक्ति [kroukti], सं० लुभ्प्, लैतिन रुम्पो [rumpo] । इन कारणोंसे यह स्पप्ट है कि संस्कृत का र, ल का विकास खिचड़ी-सा रहा है। ये ध्वनियाँ क्रेवल मूल शब्दों [धात तथा प्रातिपदिकों] में ही परिवर्तित न होकर प्रत्ययों तकमें परिवर्तित हो जाती है, यथा, सं० सक्-ल, [स्रुक्ल] सक्-र [स्रुक्त], सं० मल ८ \*भद्-ल; भद्-र [मद्र]। इसीलिए प्रत्याहार सूत्रोंमें पाणिनिने वताया है कि उनके व्याकरण में र से र का ही नहीं ल का भी प्रहण होता है। बादके संस्कृत विद्वानोंने भी 'र, ल' में स्रभेद माना है, यमक तथा श्लेष स्रष्टंकारमें इनका स्रभेद वाला प्रयोग बहुत पाया जाता है [रलयोरभेदः]। संस्कृत य, व प्रा० भा० यू० \*य, \*व से विकसित हुए हैं, यथा,

सं॰ युगम, ग्रीक जुगान [zugon], लै॰ जुगुम [zugum], गॉथिक जुक् [zuk], प्रा॰ श्रंग्रेज़ी ज्योक [zyok], त्र्या॰ श्रंग्रेज़ी योक [yoke] जर्मन जोख़ [zoch], स्सी इगो [ige] ∠ \*युगाम [yugom]

सं॰ अश्व, ग्रीक हेप्पास् [heppos], लिथु॰ अश्व [as va]

सं॰ अविः ग्रीक आउइस् [ouis], लैतिन आविस् [ovis],

पा० त्रायरिश स्रोइ [ाँ], गाँथिक अवि-स्त्र [awi-str]

पा॰ श्रं॰ [eowe, eown [ग्रं॰ ewe] लिथु॰ अविस् [avis], पा॰ स्लाबोनिक, ओब्यस्सा [ovy-tsa], रूसी श्रोब्स्सा

[ovtsa] ८ \*आवि [owi]

जैसा कि हम बता चुके हैं इन्हीं चार श्रन्तःस्थ ध्वनियोंके स्वररूप इ, इ, ऋ, छ, हैं। संस्कृतके सन्धि तथा सम्प्रसारणके नियमोंसे यह स्पष्ट है कि ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे इनमें विशेष भेद नहीं है—दृष्टि + अत्र [दृष्यत्र],

मश्र—— श्रारिः [मध्वरिः], इयेष, उवाच श्रादि उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है। इन छुः श्रन्तःस्थों [ यदि न्, म्, को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो, जो प्रा॰ भा॰ यू॰ में श्रन्तःस्थ थे, किन्तु संस्कृतमें नहीं ] में से य, व का विकास संस्कृतमें श्रत्यधिक महत्त्वपृण् है। य तो कभी-कभी दो स्वरोंमें संधि न होने देनेके लिए भी प्रयुक्त होता है, यथा रमया, धिया में। यहाँ रमा तथा धो प्रातिपदिक हैं, जिनमें तृतीया एकवचनकी सुप् विभक्ति श्रा [ टा ] जोड़ी गई है। ध्यान देनेपर पता चलेगा कि रमा + श्रा, धी + श्रा से क्रमशः \*रमा, \*ध्या रूप वननेकी संभावना है, साथ ही एक गड़बड़ी यह भी होती है कि प्रातिपदिकका श्रद्धर-भार तथा विभक्ति रूपका श्रद्धर-भार [ syllabic weight ] एक सा बना रहता है। श्रातः एक श्रोर इस संधिको रोकनेके लिए वसरी श्रोर द्वयद्धर प्रातिपदिक [ सी ] को व्यद्धर विभक्ति रूप वनानेके लिए 'य' का प्रयोग किया गया है। पर यह ध्यान देना होगा संस्कृतमें यह 'य' श्रुति [ glide ] न होंकर शुद्ध ध्यन्यारमक तस्व [ phonological element ] है।

इसी संबंधमें दो शब्द संस्कृतमें पाई जानेवाली अपश्रुतिके विषयमें कह दिये जायँ। 'अपश्रुति' से हमारा ताल्पर्य स्वर ध्वनियों तथा स्वर ध्वनियुग्मोंके उस परिवर्तनसे है, जो मूल भारोपीय भाषामें होता था। ये स्वर संबंधी परिवर्तन, मुख्यरूपेण शब्दके उदात्तादि स्वरकी प्रकृति तथा स्थानसे संबद्ध थे, तथा गुण संबंधी एवं मात्रा संबंधी हो सकते थे। संस्कृत भाषाके छात्रके लिए इनमेंसे मात्रिक अपश्रुति विशेष महत्त्वकारिणी है, किन्तु यहाँ गौणी अपश्रुति पर भी कुछ कह देना आवश्यक होगा। गौणी अपश्रुतिमें प्राण्माण्य यूण्यान होते थे। अर्थात् इस प्रकारकी अपश्रुतिमें एक स्वर-ध्विन सर्वथा भिन्न ध्विन वन जाती थी। प्राण्माण यूण्येन तथा ग्रीक आदि भाषाओं में जहाँ प्राण्माण यूण्यान स्वर शुद्ध रूपमें वर्तमान हैं, ए व आ के हस्व तथा

दीर्घरूपों, एवं श्र तथा श्रा के हस्व तथा दीर्घरूपोंमें परस्पर परिवर्तन पाया जाता है, यथा श्रीक फरो [phero] फोरोस् [phoros], लैतिन तंगो [tego], तोग [toga]। इस संबंधमें यह भी ध्यान दे लेना ग्रावश्यक होगा कि यह गौणी श्रपश्रुति श्र तथा ए एवं उनके दीर्घ रूपोंके परिवर्तनके संबंधमें नहीं पाई जाती। जैसा कि हम देख चुके हैं, संस्कृतमें ये तीनों प्रकारके स्वर श्र तथा उनके दीर्घरूप श्रा के रूपमें विकसित हुए हैं, श्रातः यहाँ गौणी श्रपश्रुतिका कोई श्रवकाश ही नहीं रहा है। संस्कृतकी दृष्टिसे मात्रिक श्रपश्रुतिका ही महत्त्व है, जिसका विवेचन हम द्वितीय परिच्छेदमें कर चुके हैं।

जैसा कि सपष्ट है, प्रा० मा० यू० मूल स्वर ए तथा आ ही थे। यही नहीं, यहाँ तक कहा जा सकता है कि वास्तविक मूल स्वर केवल ए था, जो प्रा॰ भा॰ यू॰ में स्वर संबंधिनी [ accentual ] विशेषताके काररा त्रा भी हों जाता था। तीसरा मूल स्वर त्र था, जिसे यद्यपि ए, त्रा से तात्विक दृष्टिसे संबद्ध नहीं मान सकते, किन्तु यह स्वर प्रा० भा० यू० में बहुत कम पाया जाता था। ए तथा श्रा आदिम मूल स्वर रहे होंगे यह एक शरीरवैज्ञानिक तथ्य है, क्योंकि ये स्वर कमसे कम शक्तिके द्वारा उच्चरित हो सकते हैं। इनके उच्चारणमें प्रायः उच्चारणके स्थान तथा करण उदासीनसे रहते हैं तथा उनमें कोई विशेष संनिकर्ष [ articulation ] नहीं पाया जाता । अ के उचारणमें स्थान तथा करणमें कतिपय संकुचितत्व या शक्ति अवश्य पाई जाती है, तथा इ, उ के उचारणमें अत्यधिक शक्तिका व्यय होता है। यही कारण है कि उच्चारण-सौकर्यकी दृष्टिसे इ, उ म्लस्वर ए, स्रो बन जाते थे । ये मूल स्वर जब स्रान्तःस्थोंसे युक्त होते थे, तो मूल ध्वनियुग्मोंका रूप धारण कर लेते थे यथा \*ए्य् , \*एव्, \*एर ,\* एल ,\* एन ,\* \*एम [ इसी प्रकार\* श्राय् श्रादि ध्वनियुग्म भी रहे होंगे ] । इ, उ जैसी ध्वनियाँ भी इन्हीं ध्वनियुग्मोंका विकसित रूप हैं।

प्रा॰ मा॰ यू॰ में \*इय् \*उव् जैसे ध्वनियुग्म सर्वथा नहीं थे, यह बात ध्यानमें रखनेकी है।

चूँिक यह परिच्छेद केवल ध्वनियों के ऐतिहासिक विकासपर ही न होकर उनके उचारणसे भी संबद्ध है, कुछ शब्द वैदिक संस्कृतकी उचारण संबंधिनी विशेषताओं पर कह दिये जायँ। जहाँ तक अन्य ध्वनियों का प्रश्न है, प्रातिशाख्य तथा शिचाअन्थों में इनका उच्चारण ठीक वहीं संकेतित किया गया है, जो लौकिक संस्कृतमें पाया जाता है। किन्तु य, व, ष तथा अनुस्वार के उच्चारणमें वैदिक कालमें कुछ भेद था। इन विशेषताओं का संकेत यद्यपि प्रातिशाख्यों में नहीं मिलता, तथापि शिचाओं में तथा आज भी उच्चरित किये गये वेद मंत्रों में ये विशेषताएँ स्पष्ट परिलच्चित होती हैं। वैदिक कालमें ये विशेषताएँ वैभाषिक रही होंगी। अधिकतर ये विशेष-ताएँ यजुर्वेदके उच्चारणमें पाई जाती हैं, तथा इस प्रवृत्तिका प्रभाव ऋग्वेदके उच्चारणपर भी पड़ा है। लौकिक संस्कृतमें आकर ये विशेषताएँ लुप्त हो गई, किन्तु इनमेंसे कुछ विशेषताओं को प्राकृत तथा देशी विभाषाओं ने ग्रहण कर लिया। शिच्चा ग्रन्थों के मतानुसार असंयुक्त 'यकार' का उच्चारण पदादिमें रहनेपर 'ज' होता था। पद मध्यमें भी 'य, ऋ, र, ण, ह से युक्त होनेपर वह ज उच्चरित होता था:—

पदादौ विद्यमानस्य हासँच्युक्तस्य यस्य च।

श्रादेशो हि जकारः स्यात् युक्तः सन् हरखेन तु ॥

रेफेनाथ हकारेण युक्तस्य सर्वथा भवेत् ।

यकारकरियुक्तस्य जकारः सर्वथा भवेत् ॥

[माध्यन्दिनीशिक्षा २.३-५]

१. देखिये मेरा निबंध "यजुर्वेदके मंत्रोंका उच्चारण" [शोध-पत्रिका २००६]

यजुर्वेदके उचारणमें [ऋग्वेदमें भी] यद्भूतं यच्च भाव्यम् का उचारण ''जद्भूतं जच्च भाव्यम्म'' होता है । इसी प्रकारं सूर्य्य चात्मा जगत-स्तस्थुषश्च का उचारण सूर्ज्यं चात्मा जगतस्तस्थुषश्च का उचारण सूर्ज्यं चात्मा जगतस्तस्थुषश्च होता है । इसी प्रकार पदादि 'व' का उचारण भी वहाँ एक विशेषता रखता है । मान्ध्य-न्दिनी शिच्चाकारके मतानुसार इसका उचारण 'गुरु' होता है ।

गुरुव्वकारो विज्ञेयः पदादौ पिठतो भवेत् ॥ [वही २–६] माध्यन्दिनी शिक्ताकारका तात्पर्य 'गुरु' शब्दसे यहाँ व के दन्तोष्ठय रूप [व्व, β] से है। संस्कृत वैयाकरणोंने व को दन्तोष्ठ्य मानता है—[वकारस्य दन्तोष्ठ्यम]। व का दो तरहका उच्चारण यजुर्वेदमें पाया जाता है, पदादिमें व्व [β], पदमध्यमें व [w] । शुक्ल यजुर्वेदी ग्राज भी पदादि व का उच्चारण दन्तोष्ठ्य [dento-labial] करते हैं, यथा ततो विराडजायत विराजो श्रिधपूरुषः का याज्ञप उच्चारण ततो विराडजायत विराजो श्रिधपूरुषः का याज्ञप उच्चारण ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः होता है। किन्तु पदमध्यमें य, व का उच्चारण ज, व नहीं होता, यथा तस्माज्ञाता श्रजावयः के उच्चारणमें, जो इसी तरह उच्चरित होता है।

'ष' का उच्चारण 'ट' वर्गीय ध्वनिसे ग्रयुक्त होनेपर ख होता है। माध्यन्दिनीशिद्धा तथा केशवीशिद्धामें इस विशेषताका उल्लेख मिलता है।

षकारस्य खकारः स्याट्डकयोगे तु नो भवेत्॥

[माध्य० शि० २-१]

#### षः खष्टुमृते च ॥ [केशवीशिचा ३]

उदाहरण्के लिए सहस्रशीर्ष पुरुषः का उच्चारण सहस्रशीर्धा पुरुषः किया जाता है। किन्तु "ब्त्यतिष्टद्दशांगुलम्" में दुक्योग है इसलिए यहाँ ष का उच्चारण ख नहीं होता। यजुर्वेदकी चौथी उच्चारण विशेषता, जिसे ऋग्वेदने भी अपना लिया है, अनुस्वारके उस उच्चारण्से संबद्ध है, जब उसकी परवर्ती ध्विन सोष्म [श, ष, स] या प्राण्ध्विन [ह] हो। ऐसी

१. देखिये, वही निबंध ।

स्थितिमें अनुस्वारका उच्चारण 'गुम' होता है। यथा अंश्वना का उच्चारण अग्रंशुना होता है, तथा पुरुष एवेदं सर्व का उच्चारण पुरुष एवेदग्धं सर्व होता है। ये विशेषताएँ वैदिक कालकी ही कुछ विभाषागत विशेताएँ रही होंगी। इनमें पदादि य का ज होना, तथा प का ख होना तो प्राकृतमें भी पाया जाता है। कई संस्कृतके पिएडत आज भी लौकिक संस्कृतके पदादि य का ज तथा प का ख उच्चारण करते देखे जाते हैं। पदादि संस्कृत य का उच्चारण कई मैथिल तथा बंगाली पिएडत ज करते हैं।

संस्कृत ध्वनियोंकी सन्ध्यात्मक विशेषता [Prosodic features]:—

व्यक्तिशास्त्रीय दृष्टिसे स्वर तथा व्यञ्जन व्यक्तियोंकी उस विशेषताका भी वड़ा महत्त्व है, जिसे हम पारिमाषिक पदका प्रयोग करते हुए "सन्ध्यात्मकता" [prosody] कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत हम उस विशेषताको लेते हैं, जो व्याकरण अन्थोंमें अन्धिष, हल्सिध तथा विसर्गसिधिक नामसे प्रसिद्ध है। किस प्रकार स्वर व्यक्तियाँ तथा व्यञ्जन व्यक्तियाँ परस्पर मिलकर पद, वाक्यांश तथा वाक्यमें एक नये रूपमें परिवर्तित हो जाती हैं, इसका विस्तारसे विवेचन संस्कृत व्याकरणके सन्धि प्रकरणके अन्तर्गत देखा जा सकता है। यहाँ पर हम कुछ महत्त्वपूर्ण विषयोंपर संकेत मात्र करेंगे, क्योंकि प्रस्तुत अन्थ व्याकरणको दृष्टिमें रखकर नहीं लिखा गया है।

- [१] पाणिनिका 'इको यणचि' सूत्र इस बातकी पुष्टि करता है कि इ, उ, ऋ, ऌ तथा य्, व्, र्, ल् मैं कोई तात्त्विक भेद नहीं है, तथा परवर्ती ध्वनिके स्वर होनेपर इनका स्वरूप पुनः व्यञ्जनत्वको प्राप्त कर लेता है, दध्यानय, मध्वरिः, धात्रंशः, लाकृतिः।
- [२] पाणिनिका 'एचो यवायावः' सूत्र इस बातकी पुष्टि करता है कि ए, ओ, ऐ, ओ क्रमशः अय्, अव्, आय्, आव् ये ध्वनियुग्म ही हैं। तभी संधिमें ये पुनः वास्तविक रूपको प्राप्त कर लेते हैं हरये, विष्णवे, नायकः, पावकः।

[३] भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे अ तथा आ; इ तथा ई, उ तथा ऊ में कोई ध्वन्यात्मक भेद नहीं । इसी बातका संकेत 'श्रकः सर्वेण दीर्घः' सूत्र करता है। इनमें जो भेद है, वह ध्वन्यात्मक [phonematic] न होकर सन्ध्यात्मक [prosodic] तथा मात्रात्मक [qualitative] है।

[४] संस्कृत 'श' का 'ख' से चिनिष्ठ संबंध है, यह संकेत पारिएनिके सूत्र 'शब्दोटि' से मिलता है।

[५] स्वर ध्वनिकी पूर्ववर्ती अवोष स्पर्श ध्वनि भी संधिमें सघोष हो जाती है। ध्वान रखिये सघोष ध्वनिके सम्पर्कमें आकर अवोष भी सघोष हो जाती है। इसी तरह अवोष स्पर्श ध्वनिसे परे सबोष स्पर्श ध्वनि होनेपर भी अवोष सवर्गीय सघोष ध्वनि वन जाती है। दिक्+इन्द्रः [दिगिन्द्रः], दिक्+गजः [दिगान्द्रः], दिक्+गजः [दिगान्द्रः],

[६] इसी तरह अघोष या सघोष अल्पमाण स्पर्श ध्वनिसे परे अनु-नासिक स्पर्श ध्वनि होनेपर वह ध्वनि सवर्ग अनुनासिक हो जाती है। दिक्+नागः [दिङ्नागः], पट्+नगर्यः [पण्णगर्यः]।

[७] रेफ, ष या मूर्धन्य ध्वनियोंके सम्पर्कमें ब्राकर दन्त्य ध्वनियाँ भी प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] हो जाती हैं।

[4] हम देख चुके हैं, संस्कृत ह का विकास मूलतः \*घ तथा \*ध से हुआ है। अतः संधिमें इसका यह मूल रूप पुनः आ जाता है। यदि ह से पूर्व कराठ्य ध्विन होती है तो यह घ हो जाता है, यदि ह से पूर्व दन्य ध्विन होती है तो यह घ हो जाता है। वाक् + हिरः [वाग्विरः], तत् + हिरः [तद्धिरः]; साथ ही यदि पूर्ववर्ती ध्विन अघोष है, तो ह के सघोषत्वके कारण वह भी सघोष हो जाती है।

[8] अजन्त पुल्लिंग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनके रूपोंके "आन्" चाले पदोंके बाद चवर्ग या तवर्ग ध्वनियोंके आनेपर क्रमशः 'स्' या 'श्' का आगम हो जाता है, तथा अनुनासिक स्पर्श ध्वनि 'न्' पूर्ववर्ती स्वरको सानुनासिक बनाकर स्वयं लुप्त हो जाती है। तान् + तान् = ताँस्तान् , अहीन् + च [ सर्वान् ] = अहीँ श्च [ सर्वान् ] । इससे इस कल्पनाकी पृष्टि होती है कि प्रा० भा० यू० द्वितीया विभक्ति चिह्न \*ओन्स् [ons] था।

[१०] यद्यपि विसर्गका उच्चारण अधीष 'ह' होता है, तथापि इसका संबंध 'ह' से न होकर माषावैज्ञानिक दृष्टिसे स से हैं। यह स् रेफ [र] से भी घनिष्ठ संबंध रखता है। संभवतः इसीलिए पाणिनिने विसर्गको 'रु' संज्ञा दी है। यह विसर्ग परवर्ती स्पर्श ध्वनिके अनुसार उसका सस्थानीय रूप धारण कर लेता है। करठ्य ध्वनियोंके पूर्व यह जिह्नामूलीय हो जाता है, खोष्ठ्य ध्वनियोंके पूर्व उपध्मानीय हो जाता है [जिन्हें हम कमशः वज्राकार विसर्ग [×] ग्रीर गजकुम्भाकृति विसर्ग [×] भी कहते हैं]; दन्त्य ध्वनियोंके पूर्व यह विसर्ग स्थानियोंके पूर्व श्राह्म कपमें, तथा प्रतिवेष्टित ध्वनियोंके पूर्व प्रस्पमं, ततथा जाता है। उदाहरणके रूपमें हम तत्र किम प्रनियंक्त, ततस्ते, ततस्त्रके, धनुष्टंकारः को ले सकते हैं।

[११] छ, छा, ई, ऊ ते भिन्न स्वर ध्वेनिसे परे होनेपर तथा वादमें किसी स्वर, सबोब स्पर्श या 'य' के होनेपर विसर्ग 'र' हो जाता है। यह विशेषता "हरिर्यथेकः" इस उदाहरणमें देखी जा सकती है। मा० यू० परिवारकी ग्रन्य भाषाछों में 'स् के र् के रूपमें परिवर्तित होनेकी स्थिति लैतिनमें देखी जाती है। लैतिनमें स्वरमध्यगत [intervocalic] स्, र् हो जाता है। उदाहरणके लिए लैतिनके फ्लोस् [flos] शब्दका षष्ठी वहुवचन रूप फ्लोरिस [floris) \*flosis] बनता है। यह ध्विशास्त्रीय तथ्य इस बातका संकेत करता है 'स्' तथा 'र' का परस्पर कोई संबंध माना जा सकता है। ग्रीककी भी कई विभाषाछों में यह स् ध्विन स्वरमध्यगत होनेपर र् हो गई थी। वस्तुतः स्वरमध्यगत स् पहले सघोष ज बना होगा, तदनन्तर यह र बना होगा। इसका विकास यो रहा होगा।

<sup>3.</sup> Atkinson: Greek Langauge p. 45.

also see Buck: Comparative Greek and Latin Grammar pp. 132-33.

### $V \otimes V \longrightarrow V Z'V \longrightarrow V R V.$

[ यहाँ V स्वरका, S अधोष दन्त्य सोष्मध्वनिका, Z सघोष दन्त्य सोष्म ध्वनिका, R रेफका चिह्न है। ] अधोष दन्त्य सोष्म ध्वनि स्वर या अन्य सघोष ध्वनिके प्रभावके कारण सघोष वन जाती है, तथा रेफ उसी सघोषत्वका प्रतीक है। इस तरह ऊपर दिये गये उदाहरणकी संध्यात्मक सरिण यों मान सकते हैं।

हरिस् यथैकः [हरिः यथैकः] --->हरिज् यथैकः --->हरिर् यथैकः [हरिर्यथैकः] इस प्रकार हमें यहाँ \*हरिज् जैसे रूपकी कल्पना करनी पड़ती है। इसीके दूसरे उदाहरण हम ये दे सकते हैं:--गौः + गच्छति-गौर्ग-च्छति, तैः + सृतम् = तैर्स्व तम्, सुनेः + मनः = सुनेर्मनः, राहुः + हरित =

शत्रुहरति, गौः + आगच्छति = गौरागच्छति आदि ।

[१२] विसर्गका एक तीसरे प्रकारका विकास और पाया जाता है। विसर्गके पूर्व दीर्घ स्वर ध्विन का, ई, ऊ के होनेपर तथा परे सघोष ध्विन होनेपर उसका लोप हो जाता है। विसर्गके पूर्व हस्व स्वर ध्विन तथा परे रेफ होनेपर हस्व स्वर ध्विन दीर्घ वन जाती है तथा विसर्गका लोप हो जाता है। [ढ्लोपे पूर्वस्य च दीर्घोडणः], यथा हरी रम्यः [हिरः + रम्यः], शम्भू राजते [शम्भुः + राजते]। इनका ध्विनशास्त्रीय कारण यह बताया जा सकता है कि यहाँ भी 'विसर्ग' [स्] पहले ज् [य] बन कर फिर छुत हुत्रा संस्कृतमें ज् [य] जैसी ध्विनका अभाव है अतः विसर्ग [स्] के सघोष रूपका लोप हो जाता है। पर जहाँ इस लोपसे अच्चर भार [syllabic weight] में गड़बड़ होती है, वहाँ पहले हस्व स्वरको दीर्घ बनाकर अच्चर-भारकी कमी पूरी की जाती है। यदि विसर्गके पूर्वका अच्चर स्वतः दीर्घ है तो अच्चर-भारकी गड़बड़ीका प्रश्न ही नहीं उठता, वहाँ लोप होनेसे कोई कमी नहीं होती, अतः न नवीन ध्विनके संनिवेशका ही प्रश्न उठता है, न उन स्वरध्विनयोंके दीर्घोकरणका ही। इसे हम यों स्पष्ट कर सकते हैं।

[1]— $\nabla S + C[B]$ —=— $\nabla C[B]^{9}$ —[इमा गताः, एता गच्छन्ति]
[2]— $\nabla S + V = -\overline{V}$  V—[इमा आगताः; इमा अत्र]
[2]— $\nabla S + R$  [H]—=— $\overline{V}$  R [H]—[ इमा राजन्ते, इमा हरन्ति ]

[१३] विसर्ग सन्धिका एक तीसरा प्रकार वह होता है जहाँ विसर्ग [स्] से पूर्व तथा परे दोनों ख्रोर अ ध्विन हो । ऐसे स्थलोंपर दोनों स्वर तथा मध्यगत विसर्ग ओ का रूप धारण कर लेते हैं । भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यह माना जा सकता है कि यहाँ भी स् [:] पहले सघोष 'ज़्' [ z ] होता है। फिर उसका लोप कर उसकी पूर्ति 'व्' [ w ] पूरकके द्वारा की जाती है। हम इसे यों बता सकते हैं :—रामः + अयम् = \*राम [ ज़् ] + अयम् = राम [ w ] ऽयम् [राम [उ] ऽयम्] = रामोऽयम् । भाव यह है 'व्' श्रुतिका स्वरगत पूरक रूप [closure] अच्चर-भार [syllabic weight] को कायम रखनेमें सहायता करता है । साथ ही यह 'व्' \*रामायम्' जैसे रूपको बननेसे भी रोकता है, जो अ + अ वाली संधिमें पाया जाता है ।

[१४] संधि प्रकरणमें संस्कृतमें ऐसे भी शब्द मिलते हैं, जो सन्धिगत रूप धारण नहीं करते । इन्हींको प्रमुख पारिमाषिक संज्ञा दी गई है। य्रजन्त शब्दोंके द्विवचनरूपोंमें तथा कियाके द्वि०-व० रूपोंमें ई, ऊ, ए, वाले रूप प्रगृह्य हैं। इसी तरह अभी, इ, अहो, आ भी प्रगृह्य हैं। इनके उदाहरण ये हैं:— इ इन्द्र, कवी इह, आ एवम; साधू आगच्छतः, अभी अश्वाः, विद्ये इष्टे, याचेते अर्थम, अहो अपेहि। प्रगृह्य रूप जैसेके तैसे बने रहते हैं उनमें संहिता रिथतिमें कोई विकार नहीं होता।

१.  $\overline{V}=$  दीर्घ स्वर [ आ, ई, ऊ ]; S= विसर्ग, स् ; C[B]= सबोप व्यंजन V= स्वर; R= रेफ; H= प्राणध्वनि, E ।

विसर्ग संधिके प्रकरणमें कुछ, ऐसे भी शब्द हैं, जिनके विसर्गका व्यंजनके परे रहनेपर सदा लोप पाया जाता है, जैसे भोः, एषः, सः के संधिगत रूपोंमें—भो नैषध, स ददर्श, एष गच्छति।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संधिमें ध्वनिशास्त्र बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य करता है, किस प्रकार एक ध्वनि दूसरे प्रकारकी ध्वनिके साथ आकर अपना रूप बदल देती है। एक साथ दो विभिन्न प्रकृतिकी ध्वनियोंके उचारणमें वक्ताको श्रमुविधा होती है। वह उनका उच्चारण विभिन्न रूपमें तभी कर सकता है, जब कि दोनों ध्वनियोंका उच्चारण एक साथ न कर च्राण भरके लिए वीचमें ठहर जाय । यदि वह एक साथ ग्राविच्छिन प्रवाहमें इनका उच्चारण करेगा, तो ये ध्वनियाँ परस्पर प्रभावित ग्रवश्य होंगी। इस संबंधमें हम देखते हैं कि एक साथ अयोग तथा सधोग ध्वनिका उच्चारण करनेमें वक्ताको अमुविधा होती है। यह एक ध्वनिशास्त्रीय तथ्य है कि प्रथम ध्वनिके ऋघोष होनेपर तथा द्वितीय ध्वनिके सघोष होनेपर वह भी उसी वर्गकी सभोष ध्वनि हो जायगी। यथा दिक्+गजः [दिग्गजः], वाक्+दण्डः [वाग्दण्डः] में हम देखते हैं कि एक साथ उच्चारगाके कारगा प्रथम पदके त्र्यंतकी स्रघोष स्रल्पप्राण स्पर्श ध्विन परवर्ती सघोष ध्विनके कारण सघोष हो जाती है। इसी प्रकार परवर्ती ध्वनिके श्रनुनासिक होनेपर पूर्ववर्ती श्रघोष अल्पप्राण्रस्पर्श ध्वनि स्वर्गीय अनुनासिक हो जाती है, यह भी हम देख चुके हैं। इन्हें हम सघोषीकरण [prosody of voicing] तथा अनुना-सिकीकरण [prosody of nasalization] कहेंगे। यदि इन पदोंका उच्चारण संहिता [sentence] के रूपमें न किया जाय और पद स्वतन्त्र-उच्चरित किये जायँ तो ये 'सन्ध्यात्मकताएँ' नहीं रहेंगी । हम तीन उदाहरण ले छें, दिक् + गजः [दिग्गजः]; तत् + मतम् [तन्मतम्], तत् + दक्का [तडुका]। इनका संहितागत उच्चारण कोष्ठक वाला होगा। एक श्वासमें उच्चरित किये जानेपर, हमारा उच्चारण कोष्ठक वाला ही होगा, चाहे हम उसे बचानेका कितना ही प्रयास क्यों न करें । किन्तु यदि प्रत्येकका स्वतन्त्र

उच्चारण करेंगे तो संधिका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता; तथा दिक कहकर कुछ देर बाद गजः कहा जाय, तो 'क्' के उच्चारणमें कोई विकृति नहीं ग्रायगी।

संस्कृतमें जहाँ विसर्ग संधिमें विसर्गका लोप हो जाता है, वहाँ विसर्गके स्थानपर एक चिएक विराम-सा पाया जाता है। संधिमें इस च्यिक विरामका भी बड़ा महत्त्व है। जहाँ उपधावतीं स्वर ध्वनिके बादका विसर्ग जुत हो गया है, तथा ग्रपर पदके ग्रादिमें स्वर ध्वनि है तो पुनः संधि न होने देनेके लिए उच्चारण कर्ता दीचमें कुछ रुककर उच्चारण करता है। यहाँ वह त्वरितगतिका ग्राश्रय इसलिए नहीं लेता कि एक श्वासमें उच्चारण करनेपर स्वरध्वनियों में फिर-से दूसरी संधि होनेकी संभावना है। यह च्यिक विराम संस्कृतमें कोई ध्वन्यात्मक तत्त्व (phonematic element) न होकर केवल सन्ध्यात्मक तत्त्व (prosodic element) है। संभवतः यह एक कएठनालिक स्पर्श (glottal stop) है, जैसा कि ग्ररवी माणामें 'हमजा' का उच्चारण होता है। इस उच्चारण संबंधी विशेषताको इस उदाहरणसे स्पष्ट कर दें।

असी यस्ताम्रो अरुण उत बश्नुः सुमंगलः ॥ (रहसूक) का उच्चारण "असी जस्ताम्रो ? अरुण ? उत बश्नुः सुमंगलः होता है। यहाँ हम देखते हैं कि ताम्रो + अरुण; अरुण + उत में संधि न होने देनेके लिए बीचमें चिण्णक विराम पाया जाता है, जिसके लिए हमने ऊपरके उच्चारणमें ? चिह्नका प्रयोग किया है। वैदिक संस्कृतमें ए तथा श्रो से परे श्र के होनेपर श्र का लोप नहीं होता। लौकिक संस्कृतमें यह लुप्त हो जाता है, तथा वैदिक ताम्रो अरुण लौकिक संस्कृतमें ताम्रोऽरुण हो जायगा। द्रुतगतिसे उच्चारण करने पर श्ररुण उत का उच्चारण श्ररूणोत हो जायगा, इसे बचानेके लिए ही यह विराम पाया जाता है। विसर्गका लोप होनेपर या ए, श्रो का लोप होनेपर भी यह चिण्णक विराम लौकिक संस्कृतके उच्चारणमें भी पाया जाता है। हम एक उदाहरण ले छें—

रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः", यहाँ सम्याः + इति तथा विविक्ताः + इति में विसर्गका लोप हो गया है, तथा उचारण करते समय पाठक 'रम्या' के बाद आधे ज्ञाण भर ठहर कर 'इ' का उचारण करता है। यदि यह विराम न होगा तो वाक्योचारणका सन्ध्यात्मक रूप "रम्येति, "विविक्तेति हो जायगा। यह रूप एक ग्रोर व्याकरणात्मक रूपको गड़वड़ा देगा, क्योंकि यहाँ दोनों द्वितीया बहुवचनान्त रूप हैं, दूसरी ग्रोर वर्णिक छन्द भी गड़वड़ा जायगा, जहाँ चतुरज्ञर-समुद्यय व्यव्यद्य (brisyllable) तथा पञ्चाज्ञर समुद्राय चतुरज्ञर हो जायगा। इसीको रोकनेके लिए इस 'क्रस्टनालिक' विरामका प्रयोग होगा।

एक बार संधि होनेपर पुनः संधि न होने देनेके लिए इस विरामके श्रीतिरिक्त श्रन्य साधनका भी प्रयोग पाया जाता है। यह है बीचमें म्या न् श्रुतिके पूरकका प्रयोग । इस स्थानपर ये शुद्ध ध्विन तत्त्व न होकर सन्ध्यात्मक तत्त्व ही होते हैं। संस्कृतके संधिप्रकरणमें हम देखते हैं कि जहाँ श्राच्संधिमें एक बार पूर्ववर्ती पदके श्रन्तकी ए, ओ ध्विनका लोप हो जाता है, वहाँ संहितागत रूप दो तरहके पाये जाते हैं, एक विराम श्रुक्त रूप, दूसरा श्रुतिगत रूप। यथा,

यहाँ हम स्पष्टतः दो तरहके रूप देखते हैं। य्, व् श्रुतिहीन रूपांका उच्चारण हर ? इह; विष्ण ? इह करना होगा। द्वत उच्चारण में य्, व् श्रुति का प्रयोग इसलिए होता है कि कहीं \*हरेह, \*विष्णेह रूप न वन

१ देखिये, -मेरा लेख, अन्तःस्थ ध्वनियाँ [शोधपत्रिका २००६]

जायँ, तभी श्रग्न स्वरके संबंधमें य् तथा पश्च स्वरके संबंधमें व् का प्रयोग करनेपर हरियह, विष्णविह रूप बनेंगे।

यहाँ इन य्, च् श्रुतियोंपर दो शब्द ग्रौर कह दिये जायँ। वैसे तो यह सिद्धान्त माना जा सकता है कि यू, व्का श्रुतिविभाजन परवर्ती ध्वनिके रंग [colour] पर ज्ञाधृत है, यथा ख्रोष्टच, कएड्य तथा प्रतिवेष्टित ध्वनियोंको गहरी [या गाट-रंगित]  $[\mathrm{dark}]$  तथा तालव्य श्रीर दन्त्य ध्वनियोंको हलकी [या ईपद्रजित] [light] माना जाता है। व् श्रुतिको गाढरंजित [dark] ध्वनियोंसे संबद्ध माना जा सकता है, तथा यू श्रुतिको ईपद्रंजित [light] ध्वनियोंसे । किन्तु यह सिद्धान्त सब जगह ठीक नहीं बैठता । इसके पहले हम यह देख हैं कि यह श्रुति-तत्त्व मोटे तौरपर कहाँ कहाँ हो सकता है :-[१] जहाँ ए, ग्रो का लोप हो गया है; यथा ऊपरवाला उदाहरण; [२] जहाँ 'स्' सघोष होकर 'ज़्' हो गया है, तदनन्तर 'ज़्' संस्कृत ध्वन्यारमक तस्व न होनेके कारण लुप्त हो गया है, पर संध्यात्मक भार [prosodio weight] की रचाके लिए किसी तत्त्वकी आवश्यकता होती है, जो इस लोपकी कमी पूरी कर सके। हम देखते हैं कि कई स्थलोंपर जहाँ भारत ईरानी वर्गकी विशेषताके कारण 'ज़' [z] ध्विन अवेस्तामें पाई जाती है, उसके समानान्तर रूपोंमें संस्कृतमें य्, व् श्रुतियोंमेंसे अन्यतरका प्रयोग पाया जाता है। हम देख चुके हैं कि जहाँ कहीं स्वरके बाद विसर्ग या 'स्' होगा, वहाँ स्वरध्वनि या सघोष व्यञ्जनके परे होनेपर विसर्ग या स् सघोष रूप [ ज़्, छ ] धारण कर लेता है। एकबार ख्रीर हम उस सूत्रको याद कर लें।  $-\hat{\alpha}h+C$  [B]= $-\alpha S+C$  [B]= $-\alpha ZC$  [B] ग्रव जहाँ कहीं ग्रवेस्तामें स्वरमध्यगत या सघोष ध्वनिमध्यगत स्, ज़ हो जाता है, संस्कृतमें वह लुत होकर $-\alpha^{[w]}C[B]$  या $-\alpha^{[w]}C$ [B] रूप बन जाता है। हम कुछ उदाहरण ले छें।

[१] एधि:—संस्कृतमें यह √ अस् धातुका रूप है; इसे हम अस् + धि कहेंगे। अवेस्तामें इसका समानान्तर रूप ज़िंद [Zdi] पाया जाता है, जिसका विकास प्रा॰ ग्रवेस्ता रूप \*अज़्िध से मान सकते हैं। संस्कृतमें यह सरिए यों होगी, ग्रस् | धि = \*ग्रज़् + धि = ग्र [O] + धि = अ दिया है। धि = एधि। इस तरह हम देखते हैं स् पहले ज् होता है, फिर उसका लोप हो जाता है, जहाँ हमने शून्य-व्यञ्जन [O] का संकेत किया है। तदनन्तर 'य' श्रुतिका स्वर रूप 'इ' उच्चरित होता है ग्रीर बादमें अ + इ में संधि होकर ए हो जाता है। भाषावैज्ञानिकके मतमें एधि का रूप इस तरह निय्यन्न माना जा सकता है।

[२] सेदुः—संस्कृतमें यह √ सद्धातुके लिट्के प्र० पु० बहु-वचनका रूप है। यहाँ √ सद्धातुके दुर्वल रूप या शून्य रूप [zerograde] में सद् [sd] होगा। इस तरह सेदुः रूपकी निष्पत्ति यों होगी—

है। दूसरे रूपमें लिट्के कारण 'स' का दिल्व होता है, जो प्र० पु० ए० व० ससाद में स्पष्ट हैं। तदनन्तर स्, ज़् वनकर लुप्त होता है, तथा

उसकी कमी य् श्रुतिके द्वारा पूरी की जाती है।

[३] नेदिष्टः—इसी तरह नेदिष्ट की व्युत्पत्ति भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे

√ न — स्द् + ष्ट यों मानी जा सकती है। यहाँ भी 'स्द्' वाली ऋघोष
सोष्म ध्वनि सघोष सोष्म वनकर लुप्त होती है, तथा श्रुतिके प्रयोगसे
नेदिष्ट रूप निष्पन्न होता है।

[४] यशोभिः—यहाँ व् श्रुति वाला उदाहरण देना भी ब्रावश्यक है। यशस् शब्दसे भिः सुप् विभक्ति चिह्न जोड़कर यशोभिः रूप निष्पन्न होता है। इस रूपको हम यों स्पष्ट कर सकते हैं।

यशस् + भिः = \*यशज़् + भिः = यश [O] + भिः = यश व् + भिः = यश उ भिः = यशोभिः ।

जिस तरह ऊपरके उदाहरणों में यू श्रुति इ बनकर संधिगत रूपोंमें ए पाई जाती है, वैसे यहाँ व् श्रुति उ बनकर संधिगत रूपोंमें को पाई जाती है। सोऽहम [सः + श्रहम] वाली को ध्वनिकी भी ऐसी ही कहानी है, जो वस्तुतः सस् [सः] + श्रहम = सज़् + श्रहम = स व् + श्रहम = स उ श्रहम् = सोऽहम है। इसमें भेद यही है कि यहाँ परवर्ती का लोप हो जाता है, जो लोकिक संस्कृतमें प्रायः 'श्रवग्रह' [ऽ] से स्चित किया जाता है।

वैसे ध्यानसे देखनेपर पता चलता है कि कोई कोई भाषामें किसी विशेष श्रुतिके प्रति विशेष प्रवृत्ति देखी जातो है। लौकिक संस्कृतमें यू श्रुतिकी स्रपेचा व् श्रुतिका संध्यात्मक रूप स्रो स्रिधिक देखा जाता है। शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीने इसी परम्पराको स्रपनाया है, वैसे वहाँ यू श्रुतिका स्रामाव नहीं है, तथा स्रपभंशमें तो यू श्रुतिका स्वरमध्यगत प्रयोग परिनिष्ठित [standardised] हो गया है। मागधीमें यू श्रुतिके प्रति स्रामिनवेश है। संस्कृत विसर्गके स्थानपर जहाँ शौरसेनी-महाराष्ट्री वृ [3] श्रुतिके स्रो वाले रूपको स्रपनाती हैं, मागधी यू [इ] श्रुतिके ए वाले रूपको। हम स्रकारान्त शब्दके प्र० बहुवचनके रूप ले छैं। संस्कृत देवाः के समानान्तर रूप शौ० देवाओं तथा मागधी देवे हैं।

श्रुतियोंका यह विचार केवल विसर्गके संबंधमें किया गया है, द्रातः यहाँ प्राकृत तथा द्रापभंश वाली पदमध्यगत श्रुतिका विवेचन करना स्नावश्यक समभा गया है। हिंदीकी पदमध्यगत श्रुति संबंधी विशेषतापर कुछ प्रकाश हमने स्नावश्यत्र डाला है।

संस्कृत भाषामें स्वर [accent] :--

किसी भी भाषाके पदोंको अन्तरों [syllable] में विभक्त किया जा सकता है। ये पद एकान्तर, द्वयन्तर, त्यन्तर, चतुरन्तर हो सकते हैं। अन्तर संघटनाका यह विश्लेषण हम असमस्त [न्यस्त] पदोंके विषयमें करते हैं।

देखिये मेरा लेखः अन्तःस्थ ध्वनियाँ [शोधपत्रिका, २००६]

लौकिक संस्कृतके समासान्त पदोंमें तो बीसियों श्रज्र पाये जाते हैं, जैसे कादम्बरीके समासान्त पदोंमें । पर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे उनका महत्त्व नहीं, न वहाँ भाषाकी नैसर्गिकता ही है । श्रज्ञ्ञ्चरमें स्वर प्रमुख है, वह श्रज्ञ्चरका मेह-द्रुप्ड है, श्रद्धाः श्रज्ञ्ज्ञ्चर [एक या दो] तथा स्वर; तथा व्यञ्ज्ञ्ज्ञ [एक या दो]; इस तथा स्वर; तथा व्यञ्ज्ञ्ज्ञ [एक या दो]; इस तरह कई तरह का हो सकता है । यदि हम स्वर के लिए V तथा व्यंज्ञ्चके लिए C चिह्नका प्रयोग करें, तो श्रज्ञ्चरके प्रकारोंको हम यो वता सकते हैं :—[१] V, [२] VC, [३] C [ः] V, [४] C [ः] VC [ः] । इनके उदाहरण क्रमशः उ, आम, सा [त्वा]; पात [स्पर्, स्पन्द] दिये जा सकते हैं । यह स्वर ध्वनि कभी हस्य हो सकती है, कभी दीर्घ ।

श्रचर ही वह तस्व है जिसके उचारणमें दो तरहकी स्वर—प्रकृति पाई जाती है:—एक स्वरका श्रारोह [rising tone], दूसरा स्वरका श्रायोह [falling tone]। इन्होंकी मिश्रित स्थिति वह होती है जहाँ उचारणकर्ता उच स्वर-स्थितिसे एकदम नीचेकी श्रोर उतरता है, जहाँ श्रारोहसे एकदम श्रवरोह की श्रोर श्राता है, इसे ही ध्वनिशास्त्री "risingfalling tone" कहते हैं। हमारे यहाँ ये ही क्रमशः उदात्त, श्रनुदात्त तथा स्वरित कहलाते हैं। जैसा कि प्रातिशाख्योंमें बताया गया है:—

[१] उदात्त स्वरसम्पन्न श्रदारके उच्चारणमें गात्रोंकी शक्तिका ग्रारोह [ऊर्ध्वगमन] होता है :—

्रिड्येरदातः १/१०६]; आयामेनोध्र्यगमनेन गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यते स उदात्तसंज्ञो भवति]

<sup>9.</sup> यहाँ 'स्वर' शब्दका अर्थ स्वरध्विन न होकर गलेकी आवाज्के उतार या चढ़ावसे हैं।

२. शुक्कयजुः प्रातिशाख्य [कात्यायन] १.१०६ तथा उसको उब्बट कृत भाष्य पृ० २३.

निवैरनुदातः १/१०६]; नीचैर्मार्द्वेणाधोगमनेन गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यते सोऽनुदात्तसंज्ञो भवति ]ै.

( ३ ] जहाँ एक बार उदात्त स्वरके कारण गात्रींका ख्रायाम [ आरोह ] हो, तदनन्तर छानुदात्तस्वरके कारण गात्रींका मार्दव [ ग्रवरोह ] हो, वहाँ दोनों तरहके प्रयत्नोंसे मिश्रित स्वर स्वरित कहलाता है।

्रश्चिमयवान्स्विरितः । १।११०; उदात्तस्योध्वर्गमनं गात्राणां प्रयस्त अनुदात्तस्याधोगमनं गात्राणां प्रयस्त श्राभ्यां प्रयस्ताभ्यां समाहारीभूताभ्यां स स्वरितसंज्ञो भवति ] व

[ उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेऽत्तरम् । ]<sup>3</sup>.

[४] स्वरितके बादके अनुदात्त स्वरींको, जहाँ एक साथ गात्रींका मार्द्व पाया जाता है, अलगसे पारिभाषिक संज्ञा दी गई है। वे 'प्रचय' या 'एकश्रुति' कहलाते हैं।

स्वरितादनुदानानां परेषां प्रचयः स्वरः ॥ ]<sup>8</sup>.

उदात्त, ग्रनुदात्त तथा स्वरितकी इस उच्चारण स्थितिको शौनकने ऋक्षाव्रिशाख्यमें क्रमशः ग्रायाम, विश्रम्भ तथा श्राचेप कहा हैः—

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः । श्रायामविश्रम्भाचेपै-स्त उच्यन्तेऽचराश्रयाः ॥ ]

१ वहीं तथा उस पर उच्चट कृत भाष्य १. १०६, पृ. २३.

२ वही, १. ११०. पृ. २३.।

३ शौनकीय ऋक् प्रातिशारव्य, तृतीय पटल; ४.

४ शौ० ऋ० प्रा०, तृतीय पटल, ११।

५ वही, तृ० प० १.

एकाच्र, द्रथच्र, व्यक्र, चतुरक्रके स्वर-विभाजनका क्रम यलग यलग तरहका देखा जाता है। साथ ही इनका उच्चारण पदरूपमें स्रन्य होता है, संहिता रूपमें ग्रन्य। इस वातको ग्राजके ध्वनिवैज्ञानिकोंने पद-स्वर word-intonation ] तथा संहितास्वर [sentence intonation] के भेदको स्पष्ट कर स्वीकृत किया है। जहाँ तक एकाक्तरके स्वरका प्रश्न है, पद रूपमें उसका स्वर उदात भी माना जा सकता है, ग्रनुदात्त भी, पर त्र्यधिकतर उसे ग्रनुदात्त ही माना जाता है। वाक्यमें उसका स्वर वदल भी सकता है। वैसे वैदिक संस्कृतमें कई एकाक्तर [monosyllable] स्वर स्वतः उदात्त होते हैं, कई अनुदात्त । अन्य पदोंमें [ द्वयत्त्ररादि पदोंमें ] प्रायः पूरे पदमें एक ही उदात्त स्वर पाया जाता है, वाक़ी स्वर ग्रमुदात्त 🖟 <mark>ग्रौर स्वरित ] ही होंगे । एक ही प्रकारकी ध्वन्यात्मक [ phonatic ]</mark> या श्रद्धरात्मक [syllabic] संघटना [sequence] में स्वर-भेदसे ग्रर्थ-भेद हो सकता है। संस्कृतमें भी स्वर-भेदसे एक ही ध्वन्यात्मक संघट<mark>ना</mark> [phonematic sequence] वाले पदींका स्रर्थ-भेद देखा जाता है। यह श्रर्थ-भेद समासमें बहुत काम करता देखा जाता है, जहाँ मुख्य कारण स्वर-भेद [ difference of accent ] ही होता है। हम एक प्रसिद्ध उदाहरण को ले-लें — इन्द्रशसुः। जहाँ तक इस समस्त पद्में पद्वयके व्यस्तरूपका प्रश्न है, हम उस पर विचार न कर इस समस्त पदके चतुरक्र लपपर ही विचार करेंगे। जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं प्रायः प्रत्येक पदमें एक ही उदात्त स्वर हो सकता है [ वैसे इस नियमके कुछ श्रपवाद <mark>मी</mark> हैं, जिनका उल्लेख हम ग्रागे करेंगे ], इस पदमें भी एक ही श्रद्धर उदात्त-स्वर सम्पन्न हो सकता है। व्यस्त पदोंको लेनेपर हम देखेंगे कि इन्द्र तथा शत्रुः दोनों पदोंका प्रथमाक्षर उदात्त है, किन्तु समस्त पदमें यह उदात्त स्वर या तो पूर्व पदमें ही रह सकता है, या उत्तर पदमें ही। अन्न हमें यही देखना है कि **इन्द्रशत्रुः** में उदात्त स्वर किस अंशमें होगा। द्वयत्त्र<mark>रों</mark> 「disyllables ] में उदात्तस्वर प्रायः प्रथमाच्चर [ first syllable ]

पर पाया जाता है, किन्तु पदोंके समस्त होनेपर कर्मधारय तथा तत्पुरुष समासमें उदात्त स्वर अंतिम ग्राह्मर [final syllable] पर पाया जाता है; क्योंकि ध्यान दीजिये कर्मधारय तथा तत्पुरुष समासमें उत्तर पद प्रधान होता है। जब कि बहुत्रीहिमें यह उदात्त स्वर प्रथम ग्राह्मर पर ही बना रहता है, क्योंकि यहाँ ग्रान्य पदार्थकी प्रधानता होती है। यदि स्वरके ग्रारोह या ग्रायाम-मार्द्वको व्यक्त करने के लिए हम ग्राधुनिक ध्वनिशास्त्रियोंकी प्रणालीका ग्राक्षय लें तो उसे यो व्यक्त करेंगे:—

[	9	]	इन्द्रशत्रुः [ बहुवीहि ]े.—
[	2	]	इन्द्रशत्रुः [ तलुरुष ]ै

इस संबंधमें आधुनिक ध्वनिशास्त्रियोंका मत है कि उच्चतम स्वर [ उदात्त ] पदमें एक ही होता है, पर बाक़ी अनुदात्त स्वर सभी एक कोटिके नहीं होते तथा उनके स्वरमें भी सूक्म भेद होता है, मोटे पर तौरपर वे सभी अनुदात्त कहलाते हैं।

प्रा॰ मा॰ यू॰ में स्वरका महत्त्वपूर्ण स्थान था। वैदिक संस्कृतने प्रा॰ मा॰ यू॰ स्वरकी पूर्ण रचा की है। शुद्ध उच्चारणकी रचाकी इच्छासे भारतीय मनीषियोंने उदात्त तथा य्यनुदास स्वरोंका संकृत करनेके लिए चिह्न बनाये, साथ ही पद व संहिता गत स्वर-परिवर्तनका विवेचन किया। भारतकी भाँति श्रीसमें भी श्रीक भाषाके शुद्ध उच्चारणकी रचाके लिए हेलेनिक समयसे ही स्वरचिह्नोंका प्रयोग श्रारंभ हो गया था, जो ख्रालेग्जेंड्रियन वैयाकरणोंके हाथों परिष्कृत हुआ। प्राचीन श्रीकमें तीन प्रकारके स्वरचिह्नोंका प्रयोग पाया जाता है— , जो क्रमशः उदात्त, श्रमुदात्त तथा स्वरितके प्रतीक हैं। श्रीकमें प्रायः श्रमुदात्त स्वरके श्रद्धारोंको श्रचिह्नित

१. इन्द्रः शत्रुर्यस्य सः [ जिसका शत्रु इन्द्र है ]—बहुबीहि ।

२. इन्द्रस्य शत्रुः [ इन्द्रका शत्रु ]—तत्पुरुष ।

छोड़ दिया जाता था। वैदिक संस्कृतमें ठीक उलटी प्रणाली है कि यहाँ उदात्तको अचिह्नित छोड़ दिया जाता है। वैदिक संस्कृतमें तत्तत् वेदमें भिन्न-भिन्न प्रकारके निहोंका प्रयोग पाया जाता है। वेदों में ही नहीं, शाखाओं तकमें यह भेद पाया जाता है। किन्तु ऋग्वेदकी प्रणाली प्रायः ग्रान्य वेदोंमें भी आ्राहत हो गई हैं। श्रथवंवेद, वाजसनेयी [ यजुष् ] संहिता, तैत्तरीय यजुष्] संहिता, तथा तैसरीय ब्राह्मण स्वरसंकेतींमें ऋग्वेदसे ही प्रभावित हैं। जहाँ तक सामवेदके स्वरचिह्नोंका प्रश्न है, वे गानसे संबद्ध होनेके कारण भिन्न प्रकारके हैं, उनमें स्वरके ग्रारोहावरोहकी तारतमिक मात्राके नियाम<mark>क</mark> संकेत १, २, ३, ४ भी पाये जाते हैं। यहाँ तो हमें ऋग्वेदके स्वर चिह्नोंका संकेत भर देना है। ऋग्वेदीय प्रणालीके अनुसार स्त्रनुदात्त स्वरको व्यक्त करनेके लिए अचरके नीचे पड़ी लकीर [-] का प्रयोग किया जाता है, किन्तु उदात्त स्वरवाले य्रात्त रपर कोई चिह्न नहीं होता। स्वरित स्वरवाले **ग्रच्र के ऊ**पर खड़ी लकीर [ I ] ग्रंकित की जाती है। उदाहरएके लिए हम त्र्यत्तर पद 'अग्निना' को ले हैं। यहाँ प्रथम ऋत्तर 'अ' अनुदात है, त्रातः नीचे पड़ी लकीरसे चिह्नित किया गया है, द्वितीय श्रचर 'गिन' उदात है, अतः अचिहित छोड़ दिया गया है, तृतीय अच्हर ना पुनः अनुदात्त है, तथा उदात्तके बाद आमिके कारण स्वरित हो गया है, अतः ऊपर खड़ी लकौरसे चिह्नित किया गया है। इस प्रतंगमें हमारा प्रमुख लच्य वैदिक संस्कृतके स्वरका विवेचन है, उसके चिह्नका विवेचन नहीं, श्रतः मैत्रायसी संहिता, काठक संहिता श्रादिके चिह्न गत वैविध्यपर हम प्रकाश नहीं डालेंगे। यहाँ हम वैदिक स्वर-प्रक्रियाकी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण पू-६ विशेष-तार्ख्योंका ही संकेत करेंगे। साथ ही हम वेदोंकी खलग खलग शाखार्थोंके स्वर गत वैमत्यपर ध्यान न देंगे, क्योंकि यह विषय स्रलगसे गवेषगाका तथा स्वतन्त्र प्रबन्धका विषय हो सकता है।

प्रा॰ भा॰ यू॰ की स्वरप्रक्रियाका ऋध्ययन भी तुलनात्मक भाषा-शास्त्रका एक महत्त्वपूर्ण ऋंग है। ग्रिम नियमके कई ऋपवादींका स्पष्टी- करण इसी प्रा० मा० यू॰ स्वरप्रक्रियाके आधारपर हो सका है। वर्नरने प्रिम नियमके उपनियमकी अवतारणा करते हुए, जो भाषाशास्त्रमें वर्नरके उपनियम [Verner's Corollary] के नामसे प्रसिद्ध है, यह स्थापना की थी कि ग्रिमका नियम वहाँ लागू होता है, जहाँ मूलतः क्लैसिकल भाषाओं में उदात्तस्वर सम्पन्न अत्तर [accented syllable] था तथा स्पर्श ध्वनि पद्दादिमें थी, ऐसा होनेपर क्लिसकल [संस्कृत, लैतिन, प्रीक] सघोष अल्प-प्राण, लो जर्मनमें महाप्राण [अथवा सोध्म ख, थ, फ़], तथा हाई जर्मनमें अघोष अल्पप्राण, तथा हाई जर्मनमें महाप्राण [अथवा सोध्म ख, थ, फ़], तथा हाई जर्मनमें अघोष अल्पप्राण, तथा हाई जर्मनमें महाप्राण [अथवा सोध्म ख, थ, फ़] हो जाते हैं, तथा क्लैसिकल महाप्राण लो जर्मनमें अघोष अल्पप्राण तथा हाई जर्मनमें महाप्राण लो जर्मनमें अघोष अल्पप्राण तथा हाई जर्मनमें सघोष अल्पप्राण हो जाते हैं। वर्नरने बताया था कि कई स्थलों में ग्रिमका उक्त नियम पूरी तरह इसलिए लागू नहीं हो पाता कि वहाँ स्पर्श ध्वनि पदादिमें नहीं होती साथ ही वह अनुदान्त स्वरसम्पन्न अवर [unaccented syllable] में होती है।

प्रा० भा० यू० की स्वरप्रक्रियाको जाननेके लिए संस्कृत जितनी सहायक सिद्ध हो सकती है, उतनी ग्रीक तथा लैतिन नहीं । ग्रीक तथा लैतिनमें स्वरके उदात्तत्वका नियामक तत्त्व प्रायः शब्दकी ग्रावर संख्या होती है। ग्रीककी स्वरप्रक्रिया त्र्यवर-नियम [the law of three syllables] के द्वारा ग्रावर है। इसके ग्रावस ग्रीकमें पदांतसे पूर्वके तीसरे ग्रावरसे ग्राधिक पीछे उदात्त स्वरका प्रयोग नहीं होता। वैसे इसके कतिपय ग्रापवाद भी देखे जाते हैं। लैतिनमें भी किसी हदतक त्रयव्यर-नियमकी पाबंदीकी जाती है तथा कहीं भी उदात्त स्वर पदांतसे पूर्वके तीसरे ग्रावरसे ग्राधिक पीछे नहीं पाया जाता, किंतु फिर भी लैतिनकी स्वरप्रक्रिया ग्रीककी स्वरप्रक्रियासे भिन्न है। लैतिनमें उपधा ग्रावरकी मात्रा स्वरका नियमन करती है, जब कि ग्रीकमें पदांत ग्रावरकी मात्रा स्वरका नियमन करती है, जब कि ग्रीकमें पदांत ग्रावरकी मात्रा स्वरका नियमन करती है। संस्कृत स्वरप्रक्रियाक कोई निश्चित नियम नहीं है, इसीलिए भाषावैज्ञानिकोंने संस्कृत स्वरप्रक्रियाक कोई निश्चित नियम नहीं है, इसीलिए भाषावैज्ञानिकोंने संस्कृत स्वरप्रक्रियाक

को 'स्वतन्त्र' [free] माना है। यहाँ ग्रीक या लैतिनकी तरह उदात्त स्वर् किसी सीमामें संकुचित नहीं है, वह कहीं भी, किसी भी ग्रच्त्रमें हो सकता है। साथ ही ग्रीक या लैतिनकी तरह संस्कृत स्वरप्रक्रियाका नियामक तत्व न तो पदांत ग्रच्त्रस्की मात्रा [जैसा कि ग्रीक में है] है, न उपधा ग्रच्त्रस्की मात्रा ही [ जैसा कि लैतिनमें है ], किंतु संस्कृत स्वरप्रक्रिया पदकी व्युत्पत्ति [उसमें प्रयुक्त प्रत्यय, विभक्ति ग्रादि] तथा उसके वाक्यगत [ संहितागत ] प्रयोगपर निर्भर करती है।

[१] संस्कृतमें प्रायः प्रत्येक पदमें केवल एक ही उदात्त स्वर पाया जाता है। ठीक यही वात ग्रीकमें पाई जाती है। सं० ततः, ग्रीक ततास् विकार है। ठीक यही वात ग्रीकमें पाई जाती है। सं० ततः, ग्रीक ततास् विकार हैं, जिनमें वेदमें प्रमुख स्वर स्वरित पाया जाता है। किन्तु यह रूप प्रायः 'य' 'व' वाले संगुक्ताद्धारमें पाया जाता है, जो वस्तुतः 'इ' 'उ' के ही सन्ध्यात्मक [prosodio] रूप हैं। उदाहरणके लिए हम रध्यम, तन्त्वम इन दो पदोंको ले छें। यहाँ यह विशेषता पाई जाती है कि अनुदात्तके एकदम बादमें स्वरित ग्रा गया है, जो सदा उदात्तके बाद होता है। यह विशेषता इस बातका संकेत करती है कि इन द्वच्चर [disyllabic] पदोंका उच्चारण व्यद्धर [trisyllabic] होता था, तथा वहाँ द्वितीय ग्राचर उदात्त स्वर ग्रुक्त था। वस्तुतः इनका उच्चारण रथियम, तन्तुवम होता है। विद्वानोंको पता है कि गायत्री मन्त्रके 'वरेण्यं' पदका उच्चारण भी

सुविधाकी दृष्टिसे ग्रीक शब्दोंके देवनागरी लिपीकरणमें मैंने वैदिक स्वर चिह्नोंका ही श्रयोग किया है।

'वरेणियं' होता है, तथा ऐसा करनेपर ही तत्सवितुर्वरेण्यं इस पदमें स्राठ स्रचर पूरे होते हैं।'.

[२] समासान्त पदोंमें प्रायः एक ही उदात्त स्वर होता है, किन्तु उन द्वन्द्व समासोंमें जहाँ दोनों पदांश द्विवचनमें हैं, तथा उस तत्पुरुष में, जहाँ पूर्वपद पण्ड्यन्त है, दोनों पदांशोंमें उदात्त स्वर पाया जाता है; यथा भित्रा-वरुणा, बृहस्पतिः।

[३] कुछ पद ऐसे भी हैं, जिनमें सभी श्रद्धर श्रनुदात्त होते हैं, तथा उदात्त स्वरका श्रभाव होता है। इनमें प्रमुख वे क्रिया पद है, जो वाक्यकी समापिका क्रियाएँ होते हैं। यथा, श्रिनिमांके प्ररोहितम में, जहाँ 'ईळे' में कोई उदात्त स्वर नहीं है। यदि सम्बोधन वाला रूप वाक्य या पादके श्रादिमें नहीं होता, तो यह भी उदात्तस्वररहित [enclitic] होता है। सम्बोधनकी ऐसी ही विशेषता ग्रीकमें भी पाई जाती हैं

[४] समस्त पदों में प्रायः कर्मधारय तथा तत्पुरुषमें उदात्त ग्रांतिम ग्राचर पर होता है, बहुवीहिमें प्रथमाच्चर पर; जैसे राजपुत्रः [तत्पुरुष], राजपुत्रः [बहुवीहि] !

[ ५ ] संधिमें यदि प्रथम द्वितीय दोनों अन्तरोंमेंसे कोई भी या दोनों उदात्त होते हैं, तो संधिज अन्तर उदात्त होता है। इस तथ्यका संकेत महाकि कालिदासने भी इस उपमाके द्वारा किया था—निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः 🗸

<sup>9.</sup> गायत्री वर्णिक वृत्त है तथा उसके प्रत्येक चरण्में आठ श्रहर [वर्ण] होते हैं।

<sup>2.</sup> Macdonell: Vedic Grammar p. 452, rule 7.

<sup>3.</sup> Ibid. p. 454-5.

<sup>4.</sup> Atkinson i Greek Language p. 57.

<sup>5.</sup> Macdonell | Vedic Grammar p. 457-8

# स्वरानिव । उदाहरण, जुदस्वार्थ [जुदस्व + अथ], नान्तरः [न + श्रन्तरः] ।

[ ६ ] वाक्यमें ग्रार्थात् संहितापाठमें भी ये स्वर एक दूसरेको प्रभा-वित करते हैं । उदात्तके बाद ग्रानेवाला ग्रानुदात्त स्वरित हो जाता है, तथा वह खड़ी लकीरसे चिह्नित होता है, उसके बाद ग्रानेवाले ग्रानुदात्त एकश्रुति या प्रचय कहलाते हैं, ग्रोर तब तक ग्राचिह्नित छोड़ दिये जाते हैं, जब तक कोई उदात्त स्वर नहीं ग्राता, किन्तु ज्यों ही कोई उदात्त स्वर श्राया उससे पूर्ववर्त्ती ग्रात्तरको ग्रानुदात्तके चिह्नसे चिह्नित कर दिया जाता है, यह इस बातका ग्रोतक है कि उच्चारण कर्ताको ग्रापना स्वर ऊँचा करना है, इसी तरह स्वरित इस बातका चिह्न है कि उसे स्वर नीचा करना है। इस संबंधमें हम संहिता-पाठका एक उदाहरण ले छें—

- १. येना सूर्य ज्योतिपा वाधसे तमो
- २. जगच्च विस्त सुद्यिषि भानुना ॥

ζ.		_	 	
	 	 _		

किन्तु ये ही पद व्यस्त होनेपर पदपाठमें यों हो जायँगे:—
येना | सूर्य | ज्योतिषा | बाधसे | तमो।
जगत् | च | विश्वं | उत् ऽह्यिप | भानुना॥

लौकिक संस्कृतमें ग्राकर स्वर चिह्नका प्रयोग नहीं पाया जाता। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वहाँ स्वर नहीं पाया जाता। वस्तुतः वहाँ इन नियमोंकी पावन्दी दीली हो गई और आज इस संबंधमें लौकिक संस्कृतमें कोई नियम नहीं है। वैसे पाणिनिने अपनी व्याकरणमें इसको ध्यानमें रखकर सूत्र बनावे हैं, पर स्वरोंकी अत्यधिक महत्ताको उन्होंने भी वैदिकी प्रक्रियामें ही माना था, ऐसा संकेत मिल सकता है। संभवतः इसीलिए भट्टोजिदीचितने सिद्धान्तकोमुदीमें स्वरवैदिकी प्रक्रियाका विचार विशेषतः वैदिक प्रयोगोंके संबंधमें ही किया है।

### संस्कृत पद-रचना

## [संज्ञा, विशेषण एवं सर्वनाम]

संस्कृतके पर्द प्रा० भा० यू० पर्दोकी भाँति उन समस्त चिह्नोंके द्योतक हैं, जिन्हें हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। इनमेंसे प्रथम ग्रंश मुख्य भावका द्योतक है, जिसे हम मूल रूप [धातु या शब्द] कह सकते हैं। ग्रन्य दो ग्रंश तथा प्रत्यय विभक्ति-चिह्न हैं। इन चिह्नों में कई प्रकारकी तात्त्विक प्रक्रियाएँ पाई जा सकती हैं, तथा प्रमुख रूपसे स्वर-परिवर्तन भी पाया जाता है। इनमें प्रत्ययका ग्रास्तित्व हो सकता है, उसका ग्राभाव भी हो सकता है। इन परिवर्तनों मेंसे कतिपय मुख्य परिवर्तन ये हैं:—

[१] ऋतुनासिकका नितभावै [retroflexion]; यथा यान, किन्तु अयाख ।

[२] स्पर्शय्वनियोंका संयोजन, यथा, ददाति, दत्त, देहि, विशः, विङ्भिः, विश्व ।

[३] प्राचीन भारत यूरोपीय कराठोण्ड्य ध्वनियोंका .संस्कृत पदरचनामें दो प्रकारका ध्वन्यात्मक विकास, यथा, हन्ति, जिन्नते, वनः; भजति, भागः।

[४] प्रा० भा० यू० तालव्य 'क्य्' का संस्कृतमें आकर दो प्रकारका विकास; इस संबंधमें संस्कृतके कः, कस्य, किम् जैसे रूप भारत-ईरानी वर्ग-में चित् की अपेत्रा अधिक नवीन हैं। इस परिवर्तनका एक पद-रचनात्मक महत्त्व भी है, तथा यह परिवर्तन स्वर ध्वनिके आधार पर पाया जाता था।

१. सुब्-तिङन्तं पदम् ।

२. दुन्त्यस्यमूर्धन्यापत्तिर्नतिः । [शुक्कयजुःप्रातिशाख्य १.४२] ।

<sup>3.</sup> Bloch: L'Indo Aryen, P. 99.

भारतके प्राचीन निरुक्तकार यास्कने वैदिक शब्द "शेव" को "शिष्यते" से गृहीत [ब्युत्पन्न] माना है। इस ब्युत्पत्तिमें उन्होंने 'व' को एक प्रत्यय माना है, जो ष् के स्थानपर प्रयुक्त हुन्ना है। इसी उदाहरणमें दूसरी विशेषता मूलक्ष्प शिष् के स्थानपर प्रयुक्त हुन्ना है। इस प्रकार शे तथा शि दोनों एक ही मूल [घातु] से जिनत दो रूप हैं। अन्य स्थानोंपर उन्होंने स्वर्थनिके लोपका भी उल्लेख किया गया है, जो सं० प्रतः' [√दा], सतः [√ब्रम्], जग्मुः [√गम्] में स्पष्ट है। इसी प्रकार यास्कने गतम [√गम्], राजा [राजन्] में व्यञ्जन व्यनिके लोपका उल्लेख किया है। संस्कृत पृथुः तथा क्रतिः को उन्होंने √प्रथ् तथा √अव् से ब्युत्पन्न माना है, जहाँ मूल स्वरध्विन परिवर्तित हो गई है। स्वर-ध्विके इस प्रकारके परिवर्तन प्रा० भा० यू० में भी पाये जाते हैं, जो हम 'श्रपश्रुति' के अन्तर्गत देख चुके हैं। भारतीय वैयाकरण इन स्वर-परिवर्तनोंको गुगा

१. हुदाञ् दाने कः । अच उपसर्गात्त इति तादेशः—शब्दार्थंचिन्ता-मणिः, भाग ३ ए० २४२ ।

२. यास्क तथा बादक वैयाकरणोंने ५ प्रकारके निरुक्त माने हैं। इनमें प्रथम चार प्रकारके निरुक्तोंमें ध्वनिपरिवर्तन आते हैं। ये हैं:— वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार तथा वर्णनाश । वर्णागमका उदाहरण 'सुन्दर' दिया जा सकता है, जो सुनरसे बना है। यहाँ "द्" ध्वनिका खागम हो गया है। वर्णविपर्ययका 'सिंह' [हिनस्तीति सिंहः ] है। वर्णविकार जैसे √ भज् से भागः या षट् + दशसे षोडशः; तथा वर्णनाश जैसे प्रतः, जग्द्यः, गतम् आदिमें या पृषत् + उदरसे बने रूप पृषोदर में।

वर्णांगमो वर्णविपर्ययश्च हो चापरो वर्णविकारनाशो। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥ वर्णागमो गवेन्द्रादौ सिंहे वर्णविपर्ययः षोडशादौ विकारः स्यात् वर्णनाशः पृषोदरे॥

तया वृद्धि कहते हैं। हमें ऐसा पता चलता है कि प्रा॰ भा॰ यू॰ में मूलरूपों िधातु तथा शब्दों ] में एक निश्चित व्यञ्जनसंघटना [ consonantal sequence ] तथा परिवर्तनशील स्वर [प्रायः एक ृ ही ृपरिवर्तनशील स्वर] पाये जाते होंगे। प्रा० मा० यू० में हम इनके ऐ, ओ; ए, श्रो श्रथवा <mark>"शून्य रूप [ स्वराभाव, zero-vowel</mark> ] को देख सकते हैं। भारत-<mark>ईरानी वर्गमें ये अन्या के साथ सम्मिलित हो गये हैं,</mark> और इस प्रकार यहाँकी ध्वन्यात्मक प्रक्रिया में केवल एक ही प्रकारके मात्रिक परिवर्तन<mark>की</mark> उपलव्धि होती है, जो अ-रूप, आ-रूप तथा झून्यरूप हैं, जिन्हें हम क्रमशः भर्-,भारः; भ्र- में देख सकते हैं। इसी संबंधमें यह भी जान लें किर्, य्, व्के स्वरीभृत रूप ऋ, इ, उ की भाँ ति अनुनासिक न्, म् वा<mark>ले</mark> रूपोंमें भी यह अपश्रुत्यात्मक प्रश्चत्ति पाई जाती थी। यदि हम भारतीय वैयाकरणोंकी पारिभाषिक शब्दावलीका प्रयोग करें, तो हम कह सकते हैं कि न् तथा म वाले गुगा रूप [ मापाशास्त्रीके मूल रूप ], वृद्धिमें अन् , अम् तथा मूलरूप में [ भाषाशास्त्रीके सूत्य रूपमें ] ग्र पाये जाते हैं। उदा-हरणके लिये, गम् तथा मन् धातुरूपोंमें वृद्धिरूप [भाषाशास्त्रीका दीर्घरूप] पाया जाता है। इसीके 'ग्म' [जग्मुः]; 'ग्न' [मग्नाते] रूपोंमें गुग्गरूप भाषाशास्त्रीका मूल रूप ], तथा गतः, मतः में मूल रूप [भाषाशास्त्रीका शून्यरूप ] पाया जाता है। संस्कृतके इ, उ वाले मूल रूपोंके गुरा रूपोंमें तथा वृद्धि रूपोंमें क्रमशः ए तथा स्रो; एवं ऐ तथा स्रो ठीक वही कार्य करते हैं, जो संस्कृतके ऋ [र] वाले मूल रूपोंमें अर् तथा आर् करते हैं।

इन सब प्रकारके रूपोंके विवेचनसे हमारा तात्पर्य यह है कि प्रा० मा० यू० शब्दोंकी भाँति संस्कृतके समान पदोंमें हम एक धातु [ मूल, root] मान सकते हैं। यह धातु अथवा मूल रूप ही संस्कृतकी पदरचनाका मेरु-दग्ड या "न्यूक्लियस" [nucleus] है। इसके पहले कि हम संस्कृतके इन मूलरूपोंपर दृष्टिपात करें, हमें प्रा० भा० यू० मूलरूपोंकी कुछ विशेषताओं पर दृष्टिपात कर लेना होगा—

[१] प्रा० भा० यू० मूलरूपोंमें आरंभ तथा अन्तमें सघोष महाप्राण ध्विन पाई जा सकती है, किन्तु सघोष अल्पप्राण नहीं, इस प्रकार वहाँ \*भव्यू [\*bhewdh] [ सं० बुध् ] जैसे रूपोंकी स्थिति मानी जा सकती है, \* \*बेव्द् [\*\*bewd] जैसे रूपोंकी नहीं।

[२] जिन प्रा॰ भा॰ यू॰ मूल रूपोंकी प्रथम ध्वनि सघोष महाप्राण है, उनके ग्रन्तमें ग्रघोष ध्वनि नहीं पाई जा सकती। इस प्रकार \*भव्ध् जैसे रूप हो सकते हैं, किन्तु \*भव्त् [\*bhewt] जैसे रूप नहीं।

[३] प्रा० भा० यू० मूल रूपोंमें एक साथ ऐसी दो श्रन्तःस्थ ध्वनियाँ नहीं पाई जा सकती, जो व्यञ्जनका कार्य कर रही हों। श्रतः वहाँ \*तेव्रु, \*तय्र्प्, \*माय्न् जैसे मूल रूप नहीं पाये जा सकते।

ग्रव इन मूलरूपोंकी ग्रोर ग्राते हुए हम देखते हैं कि संस्कृत वैयाकरणोंने इन्हें धातु रूप [क्रियातमक] माना है। किन्तु, जैसा कि हम देखते हैं, कई मूल रूप ऐसे हैं, जिन्हें हम धातुरूप नहीं मान सकते। उदाहरणके लिए 'पद्-' तथा 'मह्-' को ले सकते हैं। संस्कृत वैयाकरणोंने किसी धातुके कोई न कोई प्रत्यय जोड़ कर सभी शब्दोंकी व्युत्पत्ति सिद्ध करनेकी चेच्टा की है। उनके उणादि प्रत्यय इस चेष्टाके प्रमाण हैं। किन्तु भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे हम इस तथ्यको ग्रस्त्रीकार नहीं कर सकते कि प्रा॰ भा० यू॰ भाषाके कालमें उसके बोलने वालोंमें संज्ञा, किया तथा विशेषण जैसी व्याकरणात्मक भावनाका उदय नहीं हुवा था तथा उनके लिए इनका परस्पर मेद उतना स्पष्ट नहीं था, जितना कि सम्यताके विकास तथा वृद्धि के कारण उनके बाद के वंशजों के लिए। इस प्रकारके तथ्यका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि इस प्रकार के समस्त शब्द [क्रिया, संज्ञा, विशेषण ग्रादि] एक ही धातुसे व्युत्पन्न हो सकते थे। वस्तुतः ये मूल रूप किसी निश्चित व्याकरणात्मक ग्रार्थका बोध न करा कर एक सामान्य मावके बोधक

थे, जिसे हम किया, संज्ञा जैसे संकुचित दायरेमें ग्राबद्ध नहीं कर सकते । ये केवल प्रत्ययविहीन ग्रथवा विकरण-विहीन [athematic] मूल रूप थे, जिनका प्रयोग विभिन्न प्रत्ययों ग्रथवा विकरणों को जोड़कर किसी भी भावके लिए किया जा सकता था। इन्हीं मूल रूपोमें कृत् या तिद्धत प्रत्यय; तथा सुप् या तिङ् विभक्ति प्रत्यय लगा कर पद-रचना होती है। इसके बाद विभिन्न पदों [धातुरूपभिन्न पदों] को भी नाना प्रकारके भावबोधनके लिए समस्त किया जा सकता है, तथा यह समासप्रक्रिया कहलाती है।

व्याकरणात्मक दृष्टिसे हम संस्कृतके शब्दोंको संज्ञा [नाम], किया [ आख्यात ], श्रव्यय, संख्यावाचक शब्द, तथा सर्वनाम इनमें विभक्त कर सकते हैं । इस परिच्छेदमें हम नाम शब्दोंकी पदरचनापर प्रकाश डालेंगे । संस्कृतके संज्ञा-रूप अधिकतर हिन्द-ईरानी [भारत-ईरानीं ] वर्गसे ही विकिस्तत हुए हैं । इनकी रचनामें प्रायः वे ही नियम तथा तस्व पाये जाते हैं, जो ईरानी तथा श्रन्य भारोपीय भाषात्रोंके नाम-शब्दों [substantives] में । नाम-शब्दोंको सर्वप्रथम हम व्यस्त तथा समस्त दो कोटियों में विभक्त कर सकते हैं । इनकी रचनामें प्रायः भिन्न प्रणाली पाई जाती है ।

प्रातिपदिक या मूल राष्ट्ः—व्यस्त शब्दोंकी पद-रचनामें हमें यह समक्त लेना चाहिए कि इन मूल रूपों [ प्रातिपदिकों ] को हम दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं । एक वे मूल रूप, जिनकी पदिनिर्मितिमें कोई प्रत्यय या विकरण नहीं लगता । दूसरे वे जिनके मूल रूप तथा अन्य प्रकारके सुप् तथा कृत् या तद्धित प्रत्ययके बीचमें कोई न कोई प्रत्यय या विकरण लगता है । इस प्रकारके प्रत्यय उन मूल रूपों [ धातुत्रों ] में भी लगते हैं, जिनसे क्रियारूप बनते हैं । इन्हीं प्रत्ययों या विकरणोंके आधार पर हम इन मूलरूपोंको सविकरण [thematic ] तथा अविकरण [ athematic ] इन दो कोटियोंमें विभक्त कर देते हैं । यहाँ हम केवल नाम-शब्दोंका ही विचार कर रहे हैं, क्रियारूपों की रचनामें इन विकरणोंकी प्रक्रियाका उल्लेख

हम ग्रंगलें परिच्छेदमें करेंगे । विकरणिविहीन [ग्रविकरण] मूलरूप संस्कृत तथा ग्रन्य मारोपीय माषाग्रोंमें ग्रंत्यधिक पाये जाते हैं। ग्रंत्य यूरोपीय माषाग्रोंमें ये प्रायः लुत हो गये हैं। उदाहरणिके लिए द्यो, क्षा, गो [गो], भ्रू के मूल रूपोंको ले सकते हैं, जिनसे प्रथमा विभक्ति एकवचनमें द्योः, क्षाः, गोः, भ्रूः रूप बनते हैं। इनमें मूलरूप तथा 'सुप्' प्रत्यय [ 'सु'] [ग्रा० भा० यू० स् ] के बीचमें किसी भी विकरणका प्रयोग नहीं हुवा है। इसी प्रकार राज् तथा विश् इन मूल रूपोंके राट—इ तथा विट्—इ रूपों [प्रथमा एकवचन रूपों ] में भी विकरण-विहीनता देखी जा सकती है। ये विकरणिविहीन रूप उन मूल रूपोंसे भी बनाये जा सकते हैं, जिनमें दित्व पाया जाता है; यथा ह से जुह तथा दह से दथक्। इस प्रकारके रूपोंमें एक विशेषता यह भी पाई जाती है कि इ, उ तथा मह ग्रन्तवाले मूल रूपोंमें यह मूल रूप 'त' से युक्त पाया जाता है। यथा मित्, स्तुत, इत्त तथा दिद्युत में जो क्रमशः मि, स्तु, इत्तथा द्यु इन मूल रूपोंसे बने हैं। इस प्रकारके ''त' के प्रयोगकी उत्पत्ति का पता नहीं। ब्रुगमानके मतानुसार यह 'त', '—ता' [ क्षता ] प्रत्ययका ही ग्रपश्रत्यात्मक रूप है।

सविकरणात्मक मूलरूपोंमें ऋधिकतर ऋ विकरण प्रयुक्त होता है। तात्विक दृष्टिसे तो ''थिमेटिक'' 'श्र' विकरण नहीं है, क्योंकि प्रायः सविकरण मूल रूपोंको भी ऋविकरण मूलरूपोंका ही विकसित रूप माना जाता है तथा भारतयूरोपीय भाषाश्रों में प्रायः ऋविकरण मूलरूपोंको सविकरण बनानेकी प्रवृत्ति भी पाई जाती है। इस प्रकारके 'श्र' विकरणका उदाहरण हम '' रू'' [प्रा० भा० यू० \*भर, \*[bher] को ले सकते हैं, जिसमें यह 'थिमेटिक' श्र पाया जाता है, यथा सं० भरति [भर्-अ-ति]; प्रा० भा० यू० \*भर्-श्रा–ति [\*bher-o-ti] में। इसी प्रकार वृ तथा श्रुच् [श्रुक्] से बने वर [वृ + श्र] तथा शोकमें भी यह 'श्र' विकरण पाया जाता है। यह 'श्र' विकरण प्रा० भा० यू० के द्वित्ववाले मूल रूपोंमें

प्रयुक्त होने लगा था, यथा सं० चक्र, ग्री० हुक्कोस् [kuklos]।
संस्कृतमें आकर तो यह "ग्र" दित्व रूपोंमें ग्रत्यधिक प्रयुक्त होने लगा,
यथा स्रोद, दधर्ष ग्रादि रूपोंमें, जो स्द् तथा ध्रम् के रूप हैं। इसी
'ग्र' से संबद्ध एक प्रत्यय अस् [\*ग्रास्, \*os] भी है, जो सं० नभस्
[ग्रीक नफास्, nephos] सं० श्रवस् [ग्री० कवास्, kewos] में पाया
जाता है। इन विकरणोंकी सबसे बड़ी विशेषता स्वरसे संबंध रखती है।
यदि मूल रूपपर उदात्त स्वर [rising tone] होता है, तो भिन्न प्रकारके
शब्दकी उत्पत्ति होती है, ग्रीर यदि उदात्त स्वर विकरणपर पाया जाता है
तो शब्द सर्वथा भिन्न प्रकारका होता है। उदाहरणके लिए √ वृ [धातु,
मूलरूप] से श्र जोड़कर वर रूप बनता है। यदि यह रूप "वरः" होगा तो
इसका श्रर्थ "इच्छा" है; किन्तु "वर" का ग्रर्थ "वरण करने वाला"
होगा। व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे एकको हम "व्रियते ग्रनेन" मानेंगे, तो दूसरेको
"वृग्णत इति" मानेंगे। संस्कृतके शब्द "स्वयंवरा" दि० रघुवंश-स्वयंवरा

१. 'वरं' में जो वृ+अ [वर्+अ] से बना है, उदात्त 'वर्' के 'श्र' पर अथवा 'वर्' वाले श्रक्षर [syllable] पर है, तभी तो 'व' में उदात्त है, र में स्वरित [जो कि मूलतः अनुदात्त है]। उदात्तका कोई चिह्न नहीं होता, श्रनुदात्तका चिह्न श्रचरके नीचे पड़ी लकीर [—] है, स्वरितका श्रक्षरके सिरपर खड़ी लकीर [ ]। उदात्तके ठीक वादका श्रनुदात्त, यदि उसके बाद फिरसे कोई उदात्त स्वर नहीं है, तो स्वरित होता है। यह [rising tone] के एकदम बादवाला [falling tone] है।

२. वर में, जो भी वृ + अ [वर् + अ] से बना है, स्वर भिन्न है, यहाँ उदात्त स्वर 'श्र' विकरणमें है 'वर्' का श्रचर श्रनुदात्त है।

स्त्रयं वृर्गुते इति सा स्वयंवरा ।

क्रुप्तिववाहवेषा] में दूसरा रूप है, जब कि स्वयंवर में पहला। स्वरके कारण इन ग्र-विकरणवाले रूपोंमें ग्रर्थभेदके ग्रन्य उदाहरण ये हैं:—

चोद 'श्रंकुश', चोद 'श्रेरित करनेवाला', शोक 'श्रकाश', शोक 'श्रकाश', शोक 'श्रकाशमान'।

प्रा० मा० यू० भाषामें ही मूलरूपोंके विकरण्युक्त [themetic] तथा विकरण्विहीन [athemetic] दोनों प्रकारके वैकल्पिक रूप पाये जाते थे। संस्कृतने कई नाम-रूपोंमें इस प्रकारके प्राचीन वैकल्पिक रूपोंके कुछ चिह्न सुरचित रक्खे हैं यथा, श्रापः, श्रपामः, पादमः, पदः, श्रूः, श्रुवः, गौः, गामः, गवामः, रवा, रवानमः, श्रुनः, इन विभिन्न रूपोंमें। कुछ रूपोंमें ये चिह्न नष्ट हो गये हैं, यथा वाक् वाचमः, वाचा में। वस्तुतः संस्कृत भाषाके शब्द-भाएडारमें श्रिधिक श्रंश नामरूप है, जिसमें मूल रूपोंसे विकरण् [श्रुन्तः प्रत्यय] सम्प्रक्त रहता है। ये प्रत्यय श्रुन्य प्रकारके भावोंको व्यक्त करते हैं, किन्तु इसमें वे श्रिधिक तथा न्यून रूपमें एक साधारण भाव [सामान्य] का भी बोध कराते हैं। उदाहरणके लिए निष्ठा प्रत्यय तथा तुलनावोधक [तरप्, तमप् श्रादि] प्रत्ययोंको लिया जा सकता है। कभी-कभी नाम रूपोंसे पुनः नाम रूपोंकी उत्पत्ति होती है। इनमें कई रूपोंमें प्रथम श्रुच्रके स्वरमें वृद्धि पाई जाती है, यथा सौमनसम् [सुमनस् से], सासम् [सुससे], पार्थव [प्रथुसे], मार्गव [मृगुसे]। इस प्रकारकी व्युत्पत्ति संस्कृत की एक प्रमुख विशेषता है।

प्रत्यय — संस्कृतके अधिकतर प्रत्यय [affixes] रूप तथा प्रयोग दोनीं हिं योग भारत-ईरानी प्रत्ययोंसे मिलते हैं। यहाँ हम संस्कृतके प्रमुख कृदन्त तथा तिद्धत प्रत्ययोंपर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करेंगे।

९. स्वयं वियते अनेन [अत्र वा] इति स्वयंवरः ।

संस्कृतका शतृ प्रत्यय,—"श्रत्" [श्रन्त् ] प्रा० भा० यू० कृत् प्रत्यय  $\star$ एन्त,  $\star$ द्योन्त  $[\mathrm{ent},\mathrm{ont}]$  से विकसित हुन्न्या है। इस प्रत्ययका प्रयोग वर्तमानके लिए होता है। इसके उदाहरण भरन्, पश्यन्, भवन् हैं। इसी अन्त् का दुर्वल रूप "अत्" भो पाया जाता है, जो संस्कृत तथा ग्रीक दोनोंमें मिलता है। यह दुर्वल रूप हम "सत्" [ सन्त् ] हत् [इन्त्], भरत् [ भरन्त् ] त्र्यादिमें देख सकते हैं। इसी कृदन्त प्रत्यय \*एन्त से तिद्धित प्रत्यय-वन्त् का विकास माना जाता है, जो ग्रीकमें भी वन्त [went] रूपमें पाया जाता है। यह वन्त [वत] कभी कभी उस् के रूपमें भी पाया जाता है। यह उ, व का ही दुर्वल रूप है। संस्कृत पर्वम्, परुः [<mark>परुष् ], धन्वन् , धनुः [ धनुष्</mark> ] उदाहरण इस तथ्यके पोषक हैं । <mark>इसी</mark> प्रत्ययसे संबद्ध "-वांस्" है, जो वैयाकरणोंकी परिभाषामें "क्वसु" कहलाता है। इसके दुर्वल रूप "-वस्" तथा "-उस्" में श्रनुनासिक तत्त्वका सर्वथा अभाव पाया जाता है। ग्रीकमें भी यह प्रत्यय अनुस्वार होन ही पाया जाता है। सं विद्वान् , विद्वान्सी, विदुषः, विद्वत्सु, श्रीक (व) एइद् (वा) श्रास्' [(w) eid(w) os]। संभव है, संस्कृतमें आकर इस प्रत्ययमें 'श्रन्त्' [शतृ] के साहश्यपर ग्रमुस्वारका प्रयोग होने लग गया होगा।

संस्कृतके [कृदन्त] प्रत्यय ईयस् तथा इष्ट के समानान्तर प्रत्यय श्रो [—योस्] [0,-yos] तथा इसो [iso] ग्रीकमें पाये जाते हैं। संस्कृतके इन प्रत्ययोंको प्रा० भा० यू० \*यास् (सं० यस्) से विकसित माना जाता है। इस प्रत्ययके कई प्रकारके श्रपश्रुत्यात्मक रूप पाये जाते हैं, जिन्हें हम \*वस्तु, \*यस् \*यास् मान सकते हैं। संस्कृत में भी इसका सबलरूप ईयस् तथा दुर्बलरूप इष्ट दोनों पाये जाते हैं। इष्ट वस्तुतः इस् [यस् का दुर्बलरूप] तथा + त के संयोगसे बना होगा। इसे हम प्रा० भा० यू० \*इस्ता [isto] से विकसित मान सकते हैं। संस्कृतके स्वादीयस् तथा स्वादिष्ट में यही प्रत्यय हैं। संस्कृतके क्वसु की माँति इसके सबलरूपमें भी

त्रानुस्वारका समावेश हो गया है, जो संस्कृतकी ही विशेषता है, यथा स्वादीयांसों। इसी प्रत्ययके दुर्बलरूप—\*इस् में \*आन्स जोड़कर प्रा॰ भा॰ यू॰ में ही एक नवीन प्रत्ययका विकास हो गया था। इस \*इसान्स से विकृषित "प्ण" रूप संस्कृतमें पाया जाता है, यथा सं॰ तेजीयस् [तीक् + ईयस् , तेजस् + ईयस् ]; तीक् + प्ण [तीक्ण]। ये सभी प्रत्यय टीक उसी तरह तुलनाबोधक हैं जैसे संस्कृतके तद्धित प्रत्यय "तरप्" तथा "तमप्", जिनका उल्लेख हम द्यागे करेंगे। कभी कभी "ईयस्" के ये विभिन्न रूप एक साथ भी जोड़ दिये जाते थे; यथा 'तेष्णष्ठ' [तैत्तरीय द्यारप्यक २.१३.१] में, जिसमें वस्तुतः एक साथ प्ण तथा इष्ट इन दो प्रत्ययों को जोड़ दिया गया है।

संस्कृतके "—अन्" तथा "—मन्" को प्रा० मा० यू० र एन तथा र मन् से विकसित माना जाता है। ये दोनों प्रीकमें भी श्रान तथा म के रूपमें पाये जाते हैं। उदाहरणके रूपमें संस्कृत तक्षन्, प्री० तक्तोन [tekton]; तथा संस्कृत होम, प्री० खंडम [kheu-ma] को ले सकते हैं। संस्कृतमें इस मन् का म रूप भी पाया जाता है, जो संस्कृत धर्मन् तथा धर्म दोनों रूपोंसे स्पष्ट है। इस प्रत्यय से बने हुए रूप प्रायः नपुंसक पाये जाते हैं तथा इनमें मूल रूप पर उदात्त स्वर पाया जाता है। िकन्तु इनमेंसे कुछमें प्रत्ययपर भी उदात्त स्वर पाया जाता है श्रीर ये रूप पुर्ल्लिंग होते हैं। उदाहरणके लिए ब्रह्मन् पुर्ल्लिंग है, किन्तु ब्रह्मन् नपुंसकिलंग।

संस्कृतके निष्ठा प्रत्यय त, तवत् [क, कवत्] वस्तुतः भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे दो प्रत्यय न होकर एक ही प्रत्ययके दो रूप हैं। ये दोनां ही प्रा॰ भा॰ यू॰ कता से विकसित हुए हैं। ये भूतकालिक विशेषणके रूपमें प्रयुक्त होते हैं। यह ता ग्रीकमें भी पाया जाता है। संस्कृतमें क प्रत्यय वाला भूतकालिक

<sup>1.</sup> Bloch: L'Indo-Aryen. P. 108.

विशोषरा कर्मवाच्य [भाववाच्यमें भी] प्रयुक्त होता है; किन्तु भाषावैज्ञानिक <mark>दृष्टिसे प्रा॰ भा॰ यू॰ में</mark> यह केवल कर्नुवाच्यमें प्रयुक्त होता होगा। इस<mark>में</mark> उदात्त स्वर सदा प्रत्ययांशपर पाया जाता है। धीरे धीरे यह प्रत्यय पहले नपुंसक हुवा तथा बादमें कर्मवाच्य [ तथा भाववाच्य ] में प्रयुक्त होने लगा। 'त' के ये तीनों क्रमिक रूप हम सूतः [ कर्तरि प्रयोग ]; चूतं [ नपुंसक लिंग ] तथा हतः [ कर्मवाच्य प्रयोग ] में देख सकते हैं। \*ता का ही कार्य करनेवाला एक श्रौर प्रा० भा० यू० था, \*ना । यह भी 'क्त' की भाँति संस्कृतमें ग्राकर कर्मवाच्यसे संबद्ध हो गया । त्रागे जाकर यह 'न' वस्तुतः 'त' का ही रूप माना जाने लगा । पासि्पनिने "रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः" इस सूत्रमें इस 'न्' [\*ना] को 'त' [\*ता] का ही ब्रादेश माना है। यह प्रत्यय पूर्ण, सम्पन्न श्रादिमें स्पष्ट है, किन्तु इसका वास्तविकरूप स्वप्न [स्वप् + न], दान [दा + न] में भी हम देख सकते हैं; जहाँ यह प्रयोग कर्मवाच्यमें नहीं है। ध्यान दीजिये, कर्मीण प्रयोगमें उदात्त स्वर प्रत्ययपर पाया जाता है, जब कि नाम शब्दोंमें यह उदात्त स्वंर मुल रूप [धातु] पर पाया जाता है। इसीसे संबद्ध एक दूसरा प्रत्यय ति माना जा सकता है, जो ग्रीकमें सि के रूपमें पाया जाता है। संस्कृतका यह किन् प्रत्यय गित, मित, प्रीति, ज्ञाति स्रादि स्त्रीलिंग रूपेंमें पाया जाता है । वस्तुतः यह **'ति,' 'त'** का ही स्त्रीलिंग रूप रहा होगा । <mark>इस</mark> बातसे यह भी पुष्टि होती है कि ये सब त [ र ता] प्रत्ययके ही विभिन्नरूप रहे होंगे। एक दूसरे प्रत्यय 'तु' को भी इसीसे जोड़ा जा सकता है, किन्तु इस विषयमें ऐसा देखा जाता है कि जहाँ 'क्त,' क्तवत्, 'क्तिन्'के साथ धातु [मूलरूप] का दुर्वलरूप [weak form] पाया जाता है, वहाँ इसके साथ उसका सबलरूप [strong form] पाया जाता है । संस्कृतके ततः, मतः;

<sup>3.</sup> Bloch: L'Indo-Aryen. P. 110.

ततवत्, मतवत्, तिः, मितः में √ तन् [तनु विस्तारे] तथा √ मन् के दुर्बलरूप—त तथा म—पाये जाते हैं; जबिक "तन्तु," "मन्तु" में इन्हीं धातुत्र्योंके सबलरूप देखे जा सकते हैं। इसी प्रत्ययसे संस्कृतके "तुं" [तुमुन्], तवे, तवे का विकास हुवा है। वैदिक संस्कृतमें ये सभी रूप पाये जाते हैं; किन्तु लौकिक संस्कृतमें केवल 'तुमुन्' ही पाया जाता है। इसके उदाहरण गन्तुं, गन्तवे [वैदिकरूप], गन्तवे [वैदिकरूप] दिये जा सकते हैं।

संस्कृतके तर्[ तृल् ] को प्रा॰ भा॰ यू॰ \*तरा [tero] से विकितित माना जाता है। यह प्रत्यय संबंधियों के नामों में बहुत पाया जाता है। माता, पिता, आता, दुहिता, जामावा ग्रादि शब्दों में यही तृल् [तर्] प्रत्यय है। ग्रीकमें भी इसका विकास 'तेर' [ter] के रूपमें हुवा है, जो हम पतेर [pater], मातेर [mater] ग्रादि शब्दों में देख सकते हैं। इन शब्दों में उदात्त स्वर प्रत्ययपर प्रायः पाया जाता है। इसी \*तेरा का \*त्रा रूप भी पाया जाता होगा, जो बादमें जाकर एक स्वतन्त्र प्रत्ययके रूपमें विकितित हो गया। इस प्रकार जहाँ संस्कृतमें तृल् [\*तेरा] प्रत्यय क्रियाके कर्ताके ग्रथमें प्रयुक्त होने लगा, यह त्र [\*त्रा] जो बस्तुतः \*तेरा का ही दुर्बल रूप है, क्रियाके करणके ग्रथमें प्रयुक्त होने लगा, यह त्र [\*त्रा] जो बस्तुतः \*तेरा का ही दुर्बल रूप है, क्रियाके करणके ग्रथमें प्रयुक्त होने लगा। वस्तुतः कर्तेरा का ही दुर्बल रूप है, क्रियाके करणके ग्रथमें प्रयुक्त होने लगा। वस्तुतः कर्तेरा का ही दुर्बल रूप है, क्रियाके करणके ग्रथमें प्रयुक्त होने लगा। वस्तुतः कर्तेरा का ही दुर्वल रूप है, क्रियाके करणके ग्रथमें प्रयुक्त होने लगा। वस्तुतः कर्तेरा का ही दुर्वल रूप है, क्रियाके करणके ग्रथमें प्रयुक्त होने लगा। वस्तुतः करणके ग्रथमें प्रयुक्त करणके ग्रथमें प्रयुक्त होने लगा। वस्तुतः करणके ग्रथमें हम इन दोनों प्रत्ययोंको देख सकते हैं। यहाँ यह भी कह देना ग्रावश्यक है कि प्रायः ये "त्र" प्रत्ययवाले रूप नपुंसक हैं; 'मन्त्र' शब्द ग्रवश्य इसका ग्रपवाद है, क्योंकि यह पुल्लिंग है। इस प्रत्ययवाले रूपोंमें उदात्त स्वर धात्वंशपर पाया जाता है।

तद्वित प्रत्ययों में संस्कृतके तुलनानोधक 'तरप्' तथा 'तमप्' के समा-नान्तर प्रत्यय तरा [tero] तथा तुमुस् [tumus] क्रमशः ग्रीक तथा लैतिनमें पाये जाते हैं। संस्कृतमें इन 'तरप्' तथा "तमप्' को कृदन्त प्रत्यय

<sup>3.</sup> Bloch: L'Indo-Aryen p. 110.

'ईयस्' तथा 'इष्ठ' से प्रायः ग्रर्थकी दृष्टिसे भिन्न नहीं माना जाता, किन्तु मूलरूपमें इन दोनों में भेद रहा होगा। प्रथम तो ये गौण प्रत्यय [तर्द्धत] हैं, वे प्रमुख प्रत्यय [कुदन्त]। दूसरे 'ईयस्' तथा 'इष्ठ' किसी कर्त्तांके ग्रान्तिरिक गुणकी उत्कर्षताको व्यक्त करते हैं, जब कि 'तरप्' दो वस्तुन्त्रों मेंसे एक वस्तुकी, तथा 'तमप्' श्रनेक वस्तुन्त्रों मेंसे एक वस्तुकी उत्कर्षता बताता है। तान्विक दृष्टिसे "तर" तथा "तम" ग्रालगसे प्रत्यय न होकर 'त' प्रत्यय [जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका हैं] के साथ दूसरे प्रत्यय "र" तथा "म" को जोड़कर बनाये गये हैं। ये र तथा म प्रत्यय स्वतन्त्र प्रत्ययोंके रूपमें भी अपर, प्रथम जैसे शब्दों में देखे जा सकते हैं। इन प्रत्ययोंका विशेष विवेचन विशेषणोंके प्रसंगमें देखिये।

संस्कृतका दूसरा प्रमुख प्रत्यय मनत है, जिसका बन्त रूप भी पाया जाता है; यहाँ यह मतुष् कहलाता है। प्रा॰ भा॰ यू॰ में इसका केवल क्वेच्त रूप ही था, किन्तु भारत ईरानी कालमें ही इसका मनत रूप भी पाया जाने लगा। संभव है, 'मान' [स॰ शानच्] के साहश्यपर यह रूप बना हो। इस तद्धित प्रत्ययका प्रयोग संबंधबोधक विशेषणिक रूपमें पाया जाता है, संस्कृत मधवन्, ख्रवे॰ मग़बन् [malwan], सं॰ अपुत्र-वन्त [पुत्रवन्तों], अवे॰ पुश्रवन्त [puðrawant], सं॰ अमुनन्त [मधुनन्तीं], अवे॰ महुमन्त [masumant] में यही प्रत्यय है।

संस्कृतके भावबोधक प्रत्यय स्व तथा ता को भी प्रा० भा० यू० से ही विकिसत माना जाता है। इन्हींके तात्, ताति [ता से बने], स्वन [स्व से बना] रूप भी संस्कृतमें पाये जाते हैं। इस प्रकार हम बैदिक संस्कृतमें देव शब्दके भाववाचक रूपको देवत्व, देवता, देवतात्, देवत्वन इन कई उदाहरणोंमें पा सकते हैं। संस्कृतके 'त्व' तथा 'त्वन' के समानान्तर सुनो [suno] प्रत्यय ग्रीकमें पाया जाता है। ये दोनों ही वस्तुतः मंतु [-श्र-न] से विकसित हुए हैं। संस्कृतके 'ता' 'तात्' 'ताति' संभव है, कृदन्त प्रत्यय 'त' से विकसित हुए हों।

#### समास-प्रक्रियाः--

संस्कृत पदरचनाकी एक प्रमुख विशेषता समास-प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया प्रा॰ भा॰ यू॰ का ही विकास है, तथा ग्रीक, लैतिन, अवेस्ता त्रादि सभी भारतयूरोपीय भाषात्रीमें पाई जाती है। जब हम संस्कृतकी समास-प्रक्रियाका उल्लेख करते हैं, तो हमारा तालर्य संस्कृतके उन समस्त रूपोंसे है, जो संस्कृतकी बोलचालकी भाषामें पाये जाते होंगे, तथा जिनका रूप वैदिक संस्कृत एवं वादकी लौकिक संस्कृतकी ही कई साहित्यिक कृतियोंमें पाया जाता है। इस संबंधमें पहले यह समक्त हैं कि विश्वकी भाषात्र्योंको हम सर्वप्रथम दो प्रकारकी भान सकते हैं—[१] सावयव तथा िर निरवयव । निरवयव या व्यास-प्रधान भाषात्रों में प्रत्येक शब्द स्रलग होता है तथा ये शब्द निश्चित भावका बोध कराते हैं। चीनी स्रादि एकाच्तर परिवार की भाषाएँ इसी कोटिकी हैं। सावयव भाषास्त्रींको पुनः तीन वर्गोंमें विभक्त किया जाता है:---[१] समास प्रधान, [२] प्रत्ययप्रधान, [३] विमक्तिप्रधान । समास-प्रधान भाषात्रीमें सारे शब्द समस्त होकर प्रयुक्त होते हैं तथा कभी कभी तो पूरा का पूरा वाक्य ही समस्त पद-सा होता है। अमेरिकाके जंगली लोगोंकी भाषाएँ इस कोटिमें आती हैं। प्रत्यय प्रधान भाषात्र्यों में किसी भी शब्दका दूसरे शब्दसे संबंध बतानेके लिए प्रत्ययोंका प्रयोग किया जाता है। तुर्कीं, तथा तामिल, तैलगू, त्रादि द्रविड परिवारकी भाषाएँ इस कोटि की हैं। विभक्ति प्रधान भाषात्रों में किन्हीं दो शब्दों के संबंधको विभक्तियोंके द्वारा व्यक्त किया जाता है, जैसे हम संस्कृतमें सुप् तथा तिङ् विभक्तियोंका प्रयोग करते हैं । समस्त भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाएँ इस विमक्तिप्रधान कोटिमें बायँगी । वैसे इन माषात्रों में प्रत्यय तथा समास-प्रक्रिया भी पाई जाती हैं, किन्तु ये इन भाषात्रोंकी प्रमुख विशेषताएँ नहीं हैं । उदाहरराके लिए, संस्कृतमें यह आवश्यक नहीं कि "राजपुत्रः" ही कहा जाय, यहाँ 'राज्ञः पुत्रः' से भी काम चल सकता है । वैदिक संस्कृतमें यह समास-प्रक्रिया प्रा० मा० यू० तथा ग्रीककी भाँति संकुचित तथा सीमित,

अतएव स्वामाविक रही है। लौकिक संस्कृतके परवर्ती साहित्यमें आकर, दण्डी, वाण, माघ, श्रीहर्ष आदिमें प्रचुर समस्त पदावलीका प्रयोग पाया जाता है, किन्तु वह संस्कृतका वास्तविक रूप न होकर, कृत्रिम रूप है। वहाँ भी संस्कृत वैसे विमक्तिप्रधान ही है, क्योंकि समस्त पदोंके अन्तमें तो विमक्तिप्रधान ही है। शुद्ध समासप्रधान माषाओं [यथा अमे-रिकाकी जंगली भाषाएँ] में ऐसी कोई विभक्तियाँ प्रयुक्त नहीं होती।

तों, संस्कृतमें दो या श्राधिक शब्दोंको समस्त पद्के रूपमें प्रयुक्त करनेकी यह प्रणाली प्रा० मा० यू० से ही विकसित हुई है। यह समस्त पद्, विभक्ति, स्वर तथा पद्रचनाकी दृष्टिसे एक पद्के रूपमें व्यवहृत होता है। जहाँ तक इन समस्त पदोंके कलेबरका प्रश्न है, संस्कृतमें ये पद् श्रीककी माँ ति नातिदीर्वरूपमें ही पाये जाते हैं। श्रुग्वेद तथा श्र्यवंवद्में तीन शब्दोंसे श्रिधक समस्त रूपवाले समासान्त पद नहीं पाये जाते। साथ ही ऐसे शब्द भी बहुत कम हैं; उदाहरणके लिए हम "पूर्व-काम-कृत्वन्" को ले सकते हैं। समस्त पदोंकी दो प्रमुख विशेषताएँ ये हैं कि इनमें [प्रायः] उदात्त स्वर एक ही स्थान पर पाया जाता है, तथा प्रथम शब्दका प्रयोग निर्विभक्तिक रूपमें होता है। किन्तु इसके श्रपवाद भी पाये जाते हैं। यह श्रपवाद प्रायः द्वन्द्व समासोंमें—देवताद्वन्दोंमें—पाया जाता है, वैसे कुछ श्रन्य प्रकारके समस्त पदोंकों मी यह श्रपवाद देखा जा सकता है [दिख्ये परिच्छेद ४]। लिंगकी दृष्टिने देन समस्त पदोंका लिंग प्रायः वही होता है, जो कि उत्तर पदका होता है, किन्तु कुछ नपुंसक रूप भी पाये जाते हैं। इन समासोंको सर्वप्रथम हम तीन कोटियोंमें विभक्त करते हैं:—

[१] उभयपदार्थ प्रधान—इस कोटिके समासोंमें प्रत्येक पद स्वतन्त्र होता है, उदाहरणके लिए द्वन्द्व समास ।

ध्यान रिखये लौकिक संस्कृतके परवर्ती कान्योंकी भाषा इस नियमके प्रतिकृत है, किन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे उसका कोई महत्त्व नहीं है ।

[२] उत्तरपदार्थ प्रधान—इस कोटिके समासोंमें उत्तरपद, प्रथम [पूर्व] पदकी त्रपेदा विशेष महत्त्व रखता है; उदाहरणके लिए तत्पुरुष तथा कर्मधारय।

[३] अन्यपदार्थ प्रधान—इस प्रकारके समासान्त पद किसी ऋन्य-पदको विशिष्ट करते हैं। ये विशेषण होते हैं, यथा बहुवीहि।

यहाँपर हम इन्हीं तीनों प्रकारके समासोंका विवेचन करेंगे। माषा-शांस्त्रीय दृष्टिसे 'द्विगु' तथा 'ग्रन्थयीभाव' इन दो प्रकारके समासोंका विकास बादका है। द्विगु वस्तुतः कर्मधारयकां ही एक रूप है, जहाँ प्रथम पद संख्यावाचक होता है [ यथा नवग्रह, सक्षांषें ], तथा ग्रन्थयीभावको कर्म-धारय या बहुत्रीहिसे विकसित माना जा सकता है। ग्रन्थयो भावमें पूर्वपद ग्रन्थय पाया जाता है, यथा यथाशक्ति, उपक्तम, उपक्रम्भम्। इस प्रकार-के समासान्त पद ग्रीकमें भी पाये जाते हैं, यथा एप-ग्रराजरास् [ep-arouros] [जिसका खेत मिल गया हो]; "ग्रंखि-ग्रलोस्" [ankhialos] [समुद्रतटके समीप, सं० उपकृतम् ]।

संस्कृतमें दो प्रकारके द्वन्द्व समास पाये जाते हैं। इनमें प्रथम कोटिके अन्तर्गत दोनों ही पद विशेषण होते हैं, यथा नीललोहित, ताम्रधूम्र, अरुण-पिशक्व में। इस प्रकारके समास वैदिक संस्कृतमें पाये जाते हैं, किन्तु इनका प्रयोग कम ही पाया जाता है। दूसरे प्रकारके द्वन्द्वों में दोनों ही पद संज्ञा होते हैं। इन्हें भी पुनः दो कोटियों में विभक्त कर सकते हैं; [१] देवताद्वन्द्व; [२] साधारणद्वन्द्व। देवताद्वन्द्वोंमें प्रायः दोनों पद द्विक्चनमें प्रयुक्त होते हैं; तथा दोनों पदोंमें स्वतन्त्र रूपसे उदात्त स्वर पाया जाता है। उदाहरणके लिए हम "मित्रा-वरुणा", "सूर्या-चन्द्रमसा" को ले सकते

<sup>9.</sup> Wackernagel: Altindische Grammatik vol. II. P. 305.

R. ibid. vol. II, P. 310.

a. Wackernagel: Altindische Grammatik P. 171§74[B].

हैं। ऐसा जान पड़ता है, इस प्रकारके समासोंमें युग्म होनेके कारण दोनोंको द्विवचन मान लिया गया है। कभी कभी ऐसे भी प्रयोग पाये जाते हैं, जहाँ ये पद समस्त न होनेपर भी द्विवचनमें प्रयुक्त होते हैं; यथा—

इन्द्रा नु पूषणा [ऋ. ६७, ५, ७१]; इन्द्रान्वग्नी [६, ५६, ३]; विष्णू अगन् वरुणा [तै. आ. २-६-४-५]

च<u>ञ</u>्च मंहि <u>मित्रयो</u> रा मेति <u>शियं वरुणयोः</u> [६.५१.१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समासमें देवताद्व-द्वपद प्रायः सविभक्तिक रूप में पाये .जाते हैं। ऋग्वेदमें 'मित्रयो-वंरुणयो'ः [ऋ. ७, ६६,१] जैसे समस्त पदोंकी उपलन्धि होती है, जहाँ पूर्व तथा उत्तर दोनों पद <mark>षष्ठी</mark> द्विवचन में हैं। इस प्रकारकी प्रवृत्ति हम त्र्यवेस्तामें भी पाते हैं, <mark>जैसे</mark>  $^{f \cdot}$ श्रहुरएव्य—मिश्रएव्य $^{f \cdot}$  [ahuraebya-mihetaraebya], जो संस्कृतके श्र**सुरेभ्यो−मित्रेभ्यः** के द्वारा श्रानूदित किया जा सकता है। बाद में जाकर धीरे धीरे ऋग्वेदमें ही ये द्वन्द्व उस विकासकी श्रोर वढ़ते प्रतीत होते हैं, जो लौकिक संस्कृतमें पाया जाता है। ऋग्वेदमें ही कई स्थानोंपर बादमें 'सूर्या-चन्द्रमसा' के प्रथम पद 'सूर्या' के 'र्या' वाले ग्रज्ञर [syllable] का उदात्त स्वर लुप्त हो गया है, तथा उसकी वादकी ऋचास्रोंमें '<u>इन्द्</u>नवायू' [प्राचीनरूप 'इन्द्रा-वायू'] जैसे रूप पाये जाने लगे हैं। इन्हींसे मिलते जुलते द्वन्द्व वे हैं, जिनमें द्वन्द्व-पद बहुवचनमें पाया जाता है, यथा अहो-रात्राणि [अधमर्षणस्क], अजावयः [पुरुषस्क]। कुछ द्वन्द्व समाहृत होकर न्पंसकके रूपमें भी प्रयुक्त होते हैं, यथा इष्टा-पूर्तम, कृता-कृतम, केशश्मश्र

<sup>9.</sup> ibid. P. 151-52 § 63 [C]

लौकिक संस्कृतमें जहाँ कहीं हम प्रथम पदमें द्विवचन देखते हैं, वे सब वैदिक कालीन द्वन्दोंके ही अवशेष हैं। संस्कृतमें बादमें आकर नवीन शब्दोंमें इनका सर्वथा लोप हो गया है, यथा राम-लक्ष्मणों में। ये वैदिक कालीन द्वन्द्व कभी-कभी एक ही पदके द्विवचन रूपमें प्रयुक्त होते हैं, तथा इनके कुछ अवशिष्ट संस्कृतमें भी पाये जाते हैं। वेदमें द्यावा, मिन्ना का प्रयोग द्यावा-पृथिवी, मिन्ना-वरुणा के अर्थमें पाया जाता है। लौकिक संस्कृतमें भी हम पितरों [जगतः पितरों वन्दें] का प्रयोग माता-पितरों के अर्थमें देखते हैं।

तत्पुरुष समासोंमें प्रथम पद किसी न किसी कारक [विभक्ति !] का बोध कराता है। इसमें यदि प्रथम पद कर्म, करण, अपादान अथवा त्र्राविकरणका बोध कराता है, तो प्रायः द्वितीय पद धातुज संज्ञा [verbal noun] होता है। किन्तु यदि यह प्रथम पद सम्प्रदान अथवा संबंधका बोध कराता है, तो वह केवल संज्ञा होता है। उदाहरणके लिए क्रमशः गोध्न, देवदत्त, पङ्कज [गो-ज], अहर्जात; विश्व-शम्भू [विश्वाय...], विश्पति, देव-किल्विष को ले सकते हैं। कभी-कभी इनमेंसे प्रथम पदकी विभक्तिका लोप नहीं होता । इस प्रकारके समास वैयाकरणोंकी परिभाषामें 'श्रलुक्' कहलाते हैं । धनंजयः, वाचास्तेनः, दस्यवेवृकः, दिवोजः, ब्रह्मणस्पतिः, शुनःशेपः, रंथेष्ठा, सरसिज में यही अलुक् प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति त्रुवेस्तामें भी पाई जाती है; यथा वीर्अम्-ज़न् [wirəm-zan][सं० \*वीरंहन् ] । इस संबंधमें यह कह देना ऋावश्यक होगा कि तत्पुरुष समास ऋग्वेदमें कम ही पाये जाते हैं। प्राचीन ग्रीकमें भी इस प्रकारके समास कम ही हैं। ऋधिकतर ये समास पद तथा पति के संयोगमें पाये जाते थे, यथा ग्रीक द-पदान [dapedon], देस्-पातस् [despotes], (प्रा॰ रू॰ दस्पातस् [dem-potes] — [मिलाइये सं० दम्पति: [ \*दमस्पति: ]।

<sup>1.</sup> ibid. pp. 246 and following, § 99.

<sup>₹.</sup> ibid p. 241. § 97 (a)

वैदिक संस्कृतमें कर्मधारय समास, जिनमें पूर्वपद विशेषण होता है, इनसे भी कम पाये जाते हैं। प्राचीनतम उदाहरण एक-वीरः, चन्द्र-माः, महा-धनः हैं। कई कर्मधारयों में उपसर्ग भी प्रथम पदके रूपमें प्रयुक्त पाया जाता है, यथा प्रणपात्। कुछ उदाहरणों में प्रथम पद धातुज अंश होता है यथा त्रसदस्यु, शिक्ता-नर, रदा-वसु, जिनमें वस्तुतः प्रथम पद लोट्के मध्यम पुरुष एकवचनका रूप है [शिक्ता तथा रदा में पूर्व पदका द्रांतिम स्वर श्र दीर्घ हो गया है]। लोकिक संस्कृतमें ग्राकर ये कर्मधारय प्रचुरतामें पाये जाने लगे हैं।

बहुनीहि समास ग्रन्य-पदार्थ-प्रधान होते हैं। प्राचीन भाषामें ये कर्मधारयकी ग्रपेचा विशेष पाये जाते हैं। इस तथ्यसे यह निष्कर्प निकलता है
कि ये समास वस्तुतः विशेषणीभृत कर्मधारय ही हैं, जिनमें शुद्ध कर्मधारयसे
केवल यही भेद है कि इनमें उदात्त स्वर प्रथम श्रव्हारपर पाया जाता है।
इस प्रकारके स्वरमेदको हम चतुर्थ परिच्छेदमें दिखा चुके हैं। तुलनात्मक
भाषाशास्त्रमें इन बहुनीहि समासोंका उद्भव एक प्रकारका सामस्थिक प्रश्न
है। वाकेरनागेलके मतानुसार बहुनीहि समास वस्तुतः व्यस्त रूपोंसे विकसित हुन्ना है। वह बताता है कि इन्द्रज्येष्ठा देवाः को इन्द्रो उयेष्ठः

देवाः से विकसित माना जा सकता है। इस प्रकारके व्यस्त रूप जिनसे
इन बहुनीहियोंका विकास माना जा सकता है, लैतिन तथा प्राचीन फारसीमें
भी पाये जाते हैं। वाकेरनागेलने इसी संबंधमें इन दोनों भाषान्नोंसे ये
उदाहरण दिये हैं:—

उन्क्रं यंतीका फुइत, तीरी तेन्युएरे कोलोनी कार्थागी।

[urbs antica fuit, tiri tenuere coloni Carathago]
[ कार्थेंग [ एक ] प्राचीन नगर था; [ जहाँ ] तीरीन लोग निवासी
थे ]। संस्कृतमें इसे यों अन्दित कर सकते हैं, आसीत् कार्थांगो [इति] पुरा-

<sup>9.</sup> ibid. p. 316 § 120 (c)

<sup>2.</sup> Wackernagel. Altindische Grammatik p. 290 § 112(c)

तना पुरी; तीरिणः [तीरिनः] निवासिनो बभुवुः । यहाँ हम 'तीरीन लोग रहते थे' के स्थान पर, इसे "जहाँ तीरीन लोग रहते थे" इस रूपमें समस्त बहुत्रीहि बनाकर "तीरिनिवासिनी" [तीरिणः निवासिनः यस्यां सा] का प्रयोग भी कर सकते हैं। इसी प्रकार बहुत्रीहिका विकास माना जा सकता है। वाकेरनागेलका फारसीवाला उदाहरण यह है:—"मतिया काद नाम"

[martiya frada nama], [एक मनुष्य, फाद [उसका] नाम [था]]। इसे भी संस्कृतमें ''फ़ादनामां' के रूपमें बहुवीहि बनाया जा सकता है। इस सब विवेचनका तात्पर्य यह है कि यह समास व्यस्त वाक्यसे ही विकसित हुवा है। बहुवीहिके उदाहरणके रूपमें हम अश्वपृष्ठ, यमश्रेष्ठ, प्रयत्तद्विण, जग्रवाहु, हतमान, राजपुत्र, हिरण्यनेमि, दुष्पद, सुपर्ण, अपन् [अपात्] ले सकते हैं।

संज्ञा, विशेषण तथा सर्वनामके रूपोंका विवेचन करनेके पूर्व हमें थोड़ा उन परिवर्तनोंकी त्रोर ध्यान देना होगा, जो एक ही शब्दके विभिन्न रूपोंमें पाये जाते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं सप्रत्यय या अन्विकरणयुक्त [येमे-टिक] नाम रूपोंमें प्रायः एक अपरिवर्तनशील अन्तःप्रत्यथ 'अ' [थेमा thema] पाया जाता है। किन्तु प्राचीनकालसे ही प्रत्ययहीन रूपोंकी संख्या बहुत पाई जाती है, जिनके अंतर्गत अन्तःप्रत्यय [विकरण] स्वरकी मात्रा तथा उदान्तादिस्वरकी दृष्टिसे बड़ा भेद पाया जाता है।

पुरुषवाचक सर्वनामों [personal pronouns] तथा कतिपय निर्दे-शात्मक सर्वनामों [demonstrative pronouns] में प्रायः एक ही प्रकारका अन्तःप्रत्यय पाया जाता है। अहम, माम, मम, स, सा, तत, तस्य, ते आदिमें। जिनमें मूलरूपमें रेफ, 'इ' 'उष्मध्वनि' या उपाया जाता है, इनके कई रूपों में प्रायः 'न' [अन्तःप्रत्यय] का प्रयोग होता है। अधिकतर यह प्रयोग नपुंसक लिंगके रूपोंकी ही विशेषता है। पुर्ल्लिंग व स्त्रीलिंगमें यह बहुत कम पाया जाता है। ग्रहर् , श्रह्वः, श्रह्वाम् [ग्रवेस्ता ग्रश्नम् [as'nam] ग्रास्क् , अस्तः, हित्ताइत, एश्हर [es'har], एश्नश् [es'nas'] श्रन्ति, श्रद्धणः

द्धि, दध्नः

शिरष् , शीर्णः

यूष् [यूः], यूष्णः [ऋग्वेद]

दोष् [दोः], दोष्णः

दारु, दुणः [वैदिकरूप], दारुणः [लौकिक संस्कृत]

स्वरका परिवर्तन भी हम कई रूपोंमें देख सकते हैं, उदाहरराके लिए 'उ' कारान्तके दो प्रकारके परिवर्तन हम गुरोः [गुरु] तथा दिवः [शु] में देख सकते हैं। प्रा॰ भा॰ यू॰ में जहाँ आ, ऐ तथा शून्य का परिवर्तन पाया जाता है। जारत-ईरानी वर्गमें आ, आ, तथा शून्य [zero] पाया जाता है। उदाहरराके लिए हम वृत्रहा, वृत्रहणम, वृत्रवनः को ले सकते हैं जिनमें क्रमशः आ, अ तथा शून्य रूप पाये जाते हैं। ठीक यही रूप क्रमशः पिता, पितरं, पित्रे में पाये जाते हैं।

संस्कृत शब्द रूपः — संस्कृत शब्द रूपों में तीन लिंग, तीन वचन तथा आठ विभक्तियाँ पाई जाती हैं। संस्कृतके लिंग विधानके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि यह अंशतः व्याकर्णात्मक है, यही कारण है कि हमें 'दार' जैसे स्त्रीवाचक शब्दों में पुलिंग मिलता है, तो 'कलत्र' 'मित्र' जैसे अन्पुंसक वाची शब्दों में भी नपुंसक लिंग। संस्कृत वैयाकरणोंने व्याकरणात्मक लिंग विधानके नियमोंकी अवतारणा की है। प्रा० भा० यू० लिंगविधानके विषय में विद्वानोंका यह मत है कि वहाँ मूलतः दो ही लिंग रहे होंगे, एक 'सामान्य-लिंग' जिसमें पुर्त्तिंग तथा स्त्रीलिंग दोनों समाहित होते हैं, तथा दूसरा 'नपुंसकलिंग'। हित्ताहत भाषामें इस प्रकारका लिंगविधान पाया जाता है, जहाँ स्त्रीलिंगका अभाव देखा जाता है। इसके बाद कहीं जाकर प्रा० भा० यू० के परवर्ती विकासमें स्त्रीलिंगका विकास हुआ है। किन्तु जहाँ तक

द्विवचनके अस्तित्वका प्रश्न है। उसके चिह्न हित्ताइत तकमें पाये जाते हैं। संस्कृत, श्रीक, तथा लिश्चआनियन आदिके आधारपर मेथे एवं अन्य भाषा-शास्त्रियोंने प्राप्त भाष यू० में द्विवचनका अनुमान किया है तथा हित्ताइत भाषाके विश्लेषणने उसकी पुष्टि कर दी है।

## संस्कृत शब्दोंकी आठ विभक्तियोंमें जोड़े जानेवाले विभक्ति चिह्न निम्न हैं:—

	एकवचन		द्विवचन		बहुवचन	
	पु०स्त्री०	नपुं०	पु॰ स्त्री॰	नपुं०	पु॰ स्त्री॰	नपुं०
प्रथमा द्वितीया तृतीया चतुर्थी पञ्चमी षष्ठी } सप्तमी सम्बोधन	स् ग्रम् ग्रा [एन] ए ग्रस्	— त्र्या [एन] एं त्र्यस्	्रश्री [श्रा] भ्याम् श्रोत	भ्याम् श्रोस् ई	श्रस् भिस् भ्यस् श्राम् सु	हैं भिस् भ्यम् ग्राम् सु

संस्कृतके संज्ञारूपोंको अदन्त तथा हलन्तकी दृष्टिसे पुनः विभाजित किया जा सकता है। अदन्त शब्दोंको निम्न कोटियोंमें विभक्त किया जा सकता है:—

१. नपुंसक लिंगके बहुवचनमें अदन्त शब्दोंमें 'इ' के पूर्व 'न' जोड़ दिया जाता है, यथा जानानि । यह 'न' अघोष तथा उदम व्यञ्जनके अन्तमें होने पर भी जोड़ा जाता है, यथा धनूषि, जगन्ति, प्रत्यिश्च ।

- [१] ग्रकारान्त तथा ग्राकारान्त शब्द.
- [२] इकारान्त तथा उकारान्त शब्द.
- [ ३ ] ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्द .
- [४] ऋकारान्त शब्द.
- [ ५ ] ध्वनियुग्मान्त [ diphthong-ending ] शब्द. हलन्त शब्दोंको भी दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं।
- [१] श्रपरिवर्तनशील ग्रन्त वाले शब्द; इस कोटिके शब्दोंके रूपोंमें परिवर्तन नहीं पाया जाता, यथा जगत, पात्, वाक ग्रादि।
- [२] परिवर्तनशील अन्त वाले हलन्त शब्द; इस कोटिके शब्दोंमें वे आते हैं, जो त, न, स् अथवा च् अन्त वाले प्रत्ययोंसे वनते हैं। महत, कनीयस्, हस्तिन्, वृत्रहन्, प्रत्यब्च् आदि इस कोटिके शब्दोंके उदाहरण हैं।

यहाँ हम केवल संस्कृत विभक्ति चिह्नोंका ही भाषावैज्ञानिक विकास देंगे। शब्दरूपोंका संकेत हमने परिशिष्ट 'ख' मैं किया है, जहाँ तुलनात्मक हिष्टिसे ग्रीक तथा लैतिनके समानान्तर ग्राजंत तथा हलन्त शब्दरूपोंका भी विवरण मिलेगा।

### एकत्रचन रूप

संस्कृतके पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंगके प्रथमा एकवचनमें दो प्रकारके रूप पाये जाते हैं। कुछ रूपोंमें [ प्रायः ग्रदन्तोंमें ] 'स्' [ सुप् ] विभक्ति- चिह्न जोड़ा जाता है। यह विभक्तिचिह्न ग्रकारान्त, इकारान्त, उकारान्त, तथा उकारान्त शब्दोंमें तथा ध्वनियुग्मान्त शब्दोंमें नियत रूपसे जोड़ा जाता है। ग्राकारान्त तथा ईराकान्त शब्दोंमें इस स् का प्रयोग कम पाया जाता है, जिसके उदाहरण विश्वपाः, [पु॰], सुधीः, [पु॰] श्रीः, हीः [स्त्री॰] दिये जा सकते हैं। हलन्त शब्दोंमें यह स् नहीं जोड़ा जाता। किन्तु ऐसा ग्रनुमान होता है कि प्रा॰ भा॰ यू॰ \*स् \*[ \*-इ ]

[सं० स्] कुछ हलन्तोंमें भी जोड़ा जाता था। उदाहरणके लिए संस्कृतके वाक्, विद्, विद्वान् के समानान्तर रूपोंके लिए अवेस्ता वाख्य [waxs], विश्, [wis], ग्रीक एइदोस् [eidos] [ ग्रर्थ, पण्डित या जानी] को लीजिये। इससे स्पष्ट है कि संस्कृतके क्, द्, न्, जो इन रूपोंमें पाये जाते हैं, संभवतः भारत-ईरानी प्रथमा विभक्ति चिह्न स् के ही ग्रन्य विकसित रूप हैं। वैसे पिता, सखा, हस्ती, स्वा ग्रादि रूपोंमें इस स् का सर्वथा ग्रभाव है। ग्रवेस्तामें हम इसे देख सकते हैं—पिता, हखा, स्पा [ pita; haxa; spa]। 'स' के प्रयोगके लिए प्रा० भा० यू० रूपोंसे विकसित रूपोंके ये उदाहरण ले सकते हैं:—

चृकः	व्रीक	लुकास्	[lukos]
गिरिः	ग्रवे०	गइरिश्	[gairis]
कतुः	79	खतुश्	[xratus]
दुर्थोः	म्रीक	ज़उस् = *द्	ज़ेउस् [zeus=*dzeus]

इन शब्दोंके द्वितीया एकवचन रूपोंमें 'म' विभक्तिचिह जोड़ा जाता है। यह म हलन्त शब्दोंके रूपोंमें अम हो जाता है, यथा \* दधत्— दधतम्। इस विभक्तिचिह्नका विकास प्रा॰ प्रा॰ यू॰ स्वरीभृत \*म से माना जाता है, जो ग्रीकमें न तथा अ के रूपमें विकसित हुवा है।

संस्कृत अश्वम् त्रवे॰ अस्प्यम् [aspəm ] ग्री॰ हेप्पान् [heppo-n]

पादम् ,, पाद्अम् [padəm], ,, पाद [poda ]

यह निष्कर्ष निकालना त्रानुचित न होगा कि जहाँ संस्कृतमें अदन्तोंमें

म जोड़ा जाता है, वहाँ ग्रीकमें "न्" पाया जाता है, त्रौर हलन्तोंमें
संस्कृतमें अम् जोड़ा जाता है, ग्रीकमें केवल श्र ही पाया पाता है।

<sup>1.</sup> Bloch. L' Indo-Aryen. p. 117.

संस्कृतमें नपुंसक लिंगके प्रथमा तथा द्वितीयां एकवचन दोनों एकते ही होते हैं। इनमें भी हम दो प्रकारको कोटियाँ विभक्त कर सकते हैं। य्रकारान्त शब्दों में 'म' विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, किन्तु ग्रन्य स्वरान्त तथा हलन्त शब्दों में "श्रन्य [zero]" विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है। इस संबंधमें, पदरचनाशास्त्रमें इस "श्र्न्य" के महत्त्वपर दो शब्द कह दिये जायँ। वस्तुतः यह "श्रन्य [O]" भी ठीक वही कार्य करता है, जैसा कोई विभक्ति चिह्न या प्रत्यय। उदाहररणके लिए संस्कृतके 'किप्' प्रत्ययकों ले लीजिये। यह क्विप् प्रत्यय वर्तमान काल [लट्] के प्रथम पुरुष एक वचनके रूपको स्वरहीन बना देता है; पटत्, भवत्, द्धर्वस्, किन्तु इसके साथ ग्रन्य कोई ध्वनि नहीं जोड़ी जाती। ग्रर्थात् ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे क्विप्का कोई महत्त्व भले ही न हो, किन्तु पदरचनाकी दृष्टिसे इसका महत्त्व मानना ही होगा। विशेष स्पष्टीकरणके लिए क्विप्-प्रक्रियाको भाषा-वैज्ञानिक यों व्यक्त करेगाः—

करोति [\*कुर्वति] + विवप् [O] = कुर्वत् + O = कुर्वत् पटति + विवप् [O] = पटत् + O = पटत् भवति + विवप् [O] = भवत् + O = भवत्

यहाँपर हमें कोई न कोई प्रत्यय मानना पड़ता है, भाषावैज्ञानिक उसे 'शूत्य' [zero] कहेगा, पाणिनिने उसके लिए 'क्विप' संज्ञा दी है। आजसे हजारों वर्ष पूर्व महर्षि पाणिनिने इस ''शूत्यके'' पदरचनात्मक महत्त्वको भली भाँति समभा था। तभी तो ध्विन, प्रत्यय आदिके लोपकी परिभाषा ''अदर्शनं लोपः'' से उनका तात्पर्य मेरी समभामें यह था कि यद्यपि वह ध्विन, प्रत्यय या विभक्तिचिह्न दिखाई नहीं देता, तथापि प्रकृतिमें विकार उत्पन्न करनेमें वह पूर्णतः शक्त होता है। हाँ, यह दूसरी बात है कि वह विकार कभी कभी स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता। नपुंसक लिंगके हलन्त शब्दोंके प्रथमा तथा दितीया एकवचन रूपोंमें प्रायः यही ''शून्य'' विभक्तिचिह्न [zero inflexion] पाया जाता है। जगत् शब्दके प्रथमा-दितीया एक-

वचनके रूप जगत् में भाषाशास्त्री स्पष्ट ही "शूल्य" [O] विभक्तिचिह्न मानेगा।

शब्द		विभक्तिचिह्न [ प्रथमा	द्वितीया-प	ु-व∘] पद
जगत्	+	O	=	जगत्
भवत्	+	O	=	भवत्
गच्छत्	+	O	_	गच्छत्

यदि ऐसे 'शून्य' विभक्तिचिह्नकी सत्ता न मानी जायगी, तो ये पद प्रथमा या द्वितीया एकवचनके रूपका बोध नहीं करा सकेंगे। नपुंसक लिंगके दोनों तरहके रूपोंके उदाहरण ये हैं:—

सं०	क्षत्रम्	अवेस्ता	<b>रुश</b> श्रम्	[xs'a heta rəm]
,,	मधु	,,	मदु	[maðu]
"	स्वर्	99	ह्वर्य	[hwarə]
33	<b>सनः</b>	>>	मनो	[mano]
35	महत्	27	मजत्	[mazat]

भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे नपुंसक लिंगके प्रथमा-द्वितीया एकवचनमें इ सुप् विभक्तिचिह्न भी पाया जाता है। इस इ सुप् विभक्तिचिह्नको हम श्रिच, सिक्य, श्रिक्थ, दिध में देख सकते हैं। संस्कृतके इन तथाकथित इन्का-रान्त नपुंसक लिंग शब्दोंमें वस्तुतः वह 'शून्य' विभक्तिचिह्न नहीं माना जा सकता, जिसे हम मधु, मनस् [:] या महत् में देख सकते हैं। तात्विक दृष्टिसे इन प्रथमा-द्वितीया एकवचन रूपोंको श्रच्च [-न्], सक्थ [-न्], श्रस्थ [-न्] दध [-न्] रूपोंमें 'इ' विभक्तिचिह्न जोड़कर बनाया माना जा सकता है। इस प्रकारका इ सुप् प्रत्यय हम वारि में भी देख सकते हैं, जहाँ वार् + इ है। वार् शब्द संस्कृतमें स्वतन्त्ररूपमें भी पाया जाता है, जिसका पष्टचन्त रूप 'वारां निधिः' में देखा जा सकता है। यही कारण है कि इन

Wackernagel. Altindische Grammatik. Vol. 2. p.
 § 11(d)

शब्दोंके अन्य विभक्तिके रूपोंमें हम 'इ' का सर्वथा अभाव पाते हैं, यथा दध्नः, दध्नामः, अद्मणा, अद्मणे, आदि रूपों में। यदि 'इ' शब्दका ही ध्वनिमृत अंश [ध्वन्यंश] होता , तो \*दिधनः, \*दिधनाम, \*अिजणा, \*अिजणे रूप पाये जाने चाहिए थे, जैसा कि उकारान्त शब्दोंके रूपोंमें पाया जाता है, यथा मधु के इन रूपोंमें मधुनः, मधुनाम ।

तृतीया एकवचनमें कई प्रकारके सुप् चिह्न पाये जाते हैं। महर्षि पाणिनिने इन सभी तृतीयैकवचन विभक्तिचिह्नोंको 'टा' के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया है। वस्तुतः ठीक भी है, क्योंकि इनमेंसे अधिकतर आ से विकसित हुए हैं, जो वेदमें पाया जाता है। सं० वाचा [वाकिक संस्कृत वचसा भी], पदा, मनसा, जमा, क्षमा, बृत्रच्ना, पित्रा जैसे तृतीयैकवचनात्त वैदिक तथा कुछ लौकिक संस्कृत क्योंमें यही आ विभक्तिचिह्न है। संस्कृतके अकारान्त शब्दोंके रूपोंमें तृतीया एकवचनका विभक्तिचिह्न "एन" [सं० देवेन] देखा जाता है। ऋग्वेदमें ही यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है, किन्तु वहाँ साथ ही साथ 'आ' वाला रूप भी पाया जाता है। इस तरह वहाँ 'देवा' 'देवेन' दोनों रूप तृतीया एकवचनमें मिलते हैं। यह '-एन' वस्तुतः तेन, येन जैसे सर्वनाम शब्दोंके तृतीया एकवचन रूपोंके साहश्य पर चला होगा। वाकरनागेलने अन्य प्रकारके तृतीयैकवचनान्त सुप् विभक्ति चिह्नोंको इस तरह विभाजित किया है:—

श्राकारान्त रूपोंमें श्रया तथा श्रा विभक्ति चिह्नके रूप पाये जाते हैं। इका-रान्त तथा उकारान्त रूपोंमें [इ] या, [उ]वा, इना, उना, तथा ई, ऊ इस प्रकार तीन तीन तरहके विभक्तिचिह्न पाये जाते हैं । उदाहुरएके लिए इम वैदिक संस्कृतसे श्राकारान्त शब्दोंके तृती यैकवचनके विकल्प रूप स्वधा, स्वध्या, जिह्ना, जिह्नया ले सकते हैं। इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंके तृती यैकवचन रूपोंमें प्राचीनतम रूप नि:सन्देह ई तथा ऊ वाले हैं, यथा, वैदिक सं० चित्तीं [बाँ० सं० चित्या], वै० सं० क्रत्न [खाँ० सं० क्रतुना]। वस्तुतः

<sup>1.</sup> ibid. p. 34-35. § 12.

प्राचीन भारतयूरोपीय तृतीया एकवचनकी सुप् विभक्तिकी कल्पना \*अ [\*२] के रूपमें की जा सकती हैं, जिसके कारण हस्व इ, उ दीर्घ होकर तृतीयँकवचनान्त रूप वनेंगे। या तथा वा वाले रूप ईकारान्त देवी जैसे शब्दोंके रूप देख्या के साहश्यपर पाये :जाने लगे होंगे। इसी प्रकार तृतीया एकवचनका ना वाला विभक्तिचिह्न इनन्त शब्दोंके तृतीयँकवचनान्त रूपोंके साहश्यपर वना होगा, यथा—

करि [ न् ]-करिया : : हरि-हरिया : : भानु-भानुना

चतुर्थी एकवचनमें 'ए' विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, जिसे प्रा० मा० यू० \*श्रद्ध तथा \*एइ का विकसित रूप माना जाता है। ग्रीकमें चतुर्थीके एकवचनमें श्रोइ का प्रयोग होता है, यथा लागोइ [logoi] [श्रर्थ, शब्दके लिए]। श्रकारान्त शब्दोंके रूपोंमें यह 'ए', 'आय' का रूप धारण कर लेता है, यथा देवाय। ईकारान्त रूपों [स्त्रीलिंग रूपों] में यह ऐ के रूपमें विकिष्तित देखा जाता है, यथा देव्यै [देवीसे चतु० ए० व०]। श्राकारान्त [स्त्रीलिंग] शब्दोंके चतुर्थी एकवचन रूपोंमें मूल शब्द तथा सुप् प्रत्ययके वीचमें श्राय अंश जोड़ दिया जाता है, यथा सूर्यायै [सूर्या से चतु० एकवचन]।

पञ्चमी एकवचन तथा पष्ठी एकवचन दोनोंके रूपोंकों साथ-साथ ही लिया जा सकता है। जैसा कि स्पष्ट है, इन दोनोंका विभक्तिनिह्न अस् है। इसका अपवाद हम केवल अकारान्त शब्दोंके रूपोंमें पाते हैं, जहाँ पञ्चमीमें आत् तथा पष्ठीमें स्य विभक्तिनिह्न पाये जाते हैं। पञ्चमीके इस आत् को हम आा भा यू श्रेष्ट्र [तथा अपद्] से जोड़ सकते हैं। यह अबद्, आद् के रूपमें लैतिनमें भी पाया जाता है। अक्रमें वस्तुतः पञ्चमी [Ablative] का ही अभाव हैं। लैतिनमें तो सम्भवतः यह स्त्रीलिंग शब्दोंमें भी पाया जाता होगा। लैतिनके 'मेन्साद् [mensad] [रेबुलसे], अबोद् [ annod] [वर्षसे], इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि संस्कृतके 'देवान-द' के

<sup>ा</sup> देखिए परिशिष्ट ख।

सदश विभृक्तिचिह्न वहाँ पाया जाता हैं। षण्ठीके एकवचनमें प्रा॰ भा॰ यू॰ में उप्त तथा श्रास् विभक्तिचिह्न की कल्पना की गई है, जो पञ्चमीका भी विभक्तिचिह्न था। संस्कृतका 'अस्' विभक्तिचिह्न इसीसे विकसित हुश्रा है, जो हरे: [हरि + अस्], विष्णोः [विष्णु + अस्] में स्पष्ट है। यहाँ यह रूप पञ्चमी तथा षण्ठी दोनोंके एकवचनमें पाया जाता है। संस्कृत श्रकारान्त शब्दोंके षष्ठी एकवचनका स्य विभक्तिचिह्न वस्तुतः सर्वनाम शब्दों के षष्ठी एकवचनका विभक्तिचिह्न था। धीरे धीरे तस्य, यस्य के साहश्य देवस्य श्रादि रूपोंका विकास हुवा है। पष्ठीका विभक्तिचिह्न स् के रूपमें श्रीक तथा लैतिनमें भी विकसित हुवा है। पष्ठीका विभक्तिचिह्न स् के रूपमें श्रीक तथा लैतिनमें भी विकसित हुवा है:—ग्रीक, खोरास् [khoras] [देशका], पांतिश्रास् [polios] [पुरीका, सं॰ पुरः, पुर्याः], लैतिन, मेन्सास [mensas] [टेबुलका], सिउइस् [ciuis] [नागरिकका]। यह संस्कृत पञ्चमी-पष्ठी विभक्तिचिह्न अस् इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंमें एः तथा औः रूप धारण कर लेता है। श्रुकारान्त शब्दोंमें यह उः [सं॰ पितुः] पाया जाता है।

सतमी एकवचनका चिह्न 'इ' है। यह 'इ' विभक्तिचिह्न मनिसं, निरं, विशि, तिन्व में तथा दूरे, इस्ते, देवे [अ + इ = ए] में स्पष्ट है। इलन्त शब्दोंके सत्तम्येकवचन रूपोंमें भी यह 'इ' विभक्तिचिह्न पाया जाता है। इस 'इ' का विकास कहीं-कहीं ग्रीक भाषामें भी मिलता है, यथा ग्रीक पांकि [poli] [सं० पुरि]। वैदिक संस्कृतमें कई ऐसे सत्तम्यन्त [एकवचन] रूप भी मिलते हैं, जिनमें कोई विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता। वस्तुतः इन रूपोंमें "श्रूप-विभक्तिचिह्न" [zero-inflexion] होता है। वैदिक भाषामें इकारान्त, उकारान्त, ईकारान्त तथा 'ग्रन्' अन्त वाले शब्दों के सत्तमी एकवचनके रूपोंमें कोई ध्वन्यात्मक विभक्तिचिह्न [phonetic inflexion] नहीं पाया जाता, उदाहरराके लिए, "परमे ब्योमन्" यहाँ

<sup>1.</sup> Atkinson: Greek Language p. 82.

च्योमन् वस्तुतः सप्तम्यैकवन्वनान्त रूप है, जो लौकिक संस्कृतमें च्योग्नि वन जाता है। कुछ ऐसे भी हलन्त शब्दोंके सप्तमी ए० व० रूप हैं, जो शूत्य रूपोंसे लगते हैं, यथा ग्रहर्। इन अर् ग्रन्तवाले रूपोंको सप्तम्यन्त माना जाय, या स्वर् की भाँ ति केवल क्रियाविशेषण् १ वस्तुतः ये सभी शूत्य रूपवाले ग्रथवा शूत्य विभक्तिन्तिह्न रूप ग्रारम्भमें क्रियाविशेषण् ही थे। वादमें ग्राकर इनके साथ भी सुप् प्रत्यय इ का प्रयोग होने लग गया होगा। किन्तु अन् ग्रन्तवाले शब्दोंमें भारत-ईरानी वर्गतक यह इ का प्रयोग नहीं पाया जाता। वेदोंमें यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है, यथा अहन्, अजमन् जो सत्तम्यन्त रूप हैं। वैदिक भाषामें ईकारान्त तथा ककारान्त [स्रीलिंग] शब्दोंके सप्तमी एकवचन रूपोंमें "शूत्य" [O] विभक्तिनिह्न पाया जाता है, यथा नदी, तन्, चम् । इन रूपोंको ग्रकारान्त शब्दोंके रूपोंके साहस्थपर जित माना जा सकता है। उदाहरण्के लिए संस्कृत दम शब्दका सप्तमी एकवन्वनका दमे तथा वहुवन्वनका दमेषु रूप होता है; इसी ग्राधारपर ये रूप यों वने होंगे—

दमे : दमेषु : : नदी : नदीपु : : चमू : चमूषु : : तनू : तनूषु

संस्कृत इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंके रूपोंमें पाया जानेवाला श्री [हरी, भानी] पा० मा० यू० न होकर भारत-ईरानी वर्गकी विशेषता है। यह \*श्री अवस्तामें श्रो तथा श्रव के रूपमें पाया जाता है। यह \*श्री विभक्तिचिह्न श्रारम्भमें केवल उकारान्त शब्दोंकी ही विशेषता थी, तथा इकारान्त शब्दोंका विभक्तिचिह्न \*आइ रहा होगा। धीरे-धीरे साहश्यके श्राधारपर अग्नो, गिरो, इष्टो में भी यह चिह्न पाया जाने लगा। इस \*आइ का संकेत हम वैदिक संस्कृतके कुछ सप्तमी ए० व० रूपोंमें, जैसे श्रवा, अग्ना में पा सकते हैं, जहाँ यह चिह्न ध्वनिपरिवर्तनके कारण केवल 'श्रा' रह गया है। इनका प्राचीन रूप हम \*श्रुताइ, \*श्रग्नाइ मान सकते हैं ।

<sup>?.</sup> Bloch: L'Indo-Aryen P. 119.

सतमी विभक्तिके एकवचनमें स्त्रीलिंग रूपोंमें एक ग्रौर विभक्ति चिह्न पाया जाता है;—"ग्राम्"। यह श्राम् ग्राकारान्त, साथ ही हस्व एवं दीर्घ इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंके रूपोंमें पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति प्रा॰ भा॰ यू॰ \*श्राइ श्रा + हो से मानी जा सकती है, जिसका प्रयोग श्राकारान्त शब्दोंमें पाया जाता था। यह \*श्राइ विभक्तिचिह्न भारत-ईरानी वर्गमें श्राकर \*श्राया के रूपमें विकसित हुग्रा, तथा श्रवेस्तामें "श्रय" के रूपमें पाया जाता है। संस्कृतमें श्राकर इसमें अम् जोड़ दिया गया है, श्रौर इस तरह यह विभक्तिचिह्न ठीक उसी तरह आयां [श्राया + श्रम] वन गया है, जैसे श्रवेस्ताका तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी द्विवचनका विभक्ति-चिह्न व्य [bya] संस्कृतमें भ्याम् हो गया है। सत्तमी एकवचनके ये रूप दोनों भाषात्रोंके इन समानान्तर उदाहररणोंमें देखे जा सकते हैं:—

# सं श्रीवायाम , अवेस्ता श्रीवय [griwaya]

संबोधन एकवचनके रूपोंमें प्रायः सूत्य विभक्ति रूप ही पाया जाता है। संस्कृत अकारान्त राब्दोंके इन रूपोंमें सूत्य विभक्तिचिह्न पाया जाता है। किन्तु श्रीकमें इनके समानान्तर श्रोकारान्त राब्दोंके संबोधनके एकवचन रूपोंमें ए [e] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, यथा छाग [loge] [हे राब्द]। किन्तु अन्य अन्तवाले श्रीक राब्दोंके इस विभक्तिके ए० व० रूपोंमें कोई चिह्न नहीं पाया जाता, जब कि संस्कृतके आकारान्त राब्दोंके रूपोंमें कोई चिह्न नहीं पाया जाता, जब कि संस्कृतके आकारान्त राब्दोंके रूपोंमें 'ए' अन्तवाले रूप [सं०रमे = रमा + इ], इकारान्त तथा उकारान्तोंमें ए तथा को अन्तवाले रूप [हरे / कहिर + आ = कहिरा + ही, [भानी / कमानु + आ = कमाना | नी, तथा ईकारान्त रूपोंमें दीर्घ ईकारका हस्य इ पाया जाता है, [देवि, निद]। हलन्तोंमें ये रूप प्रायः मृल रूप या

<sup>1.</sup> Wackernagel: Altindische Grammatik Vol. III. P. 43§16 [i]

२. वर्णविपर्यंय हो गया है।

शूत्य विभक्ति चिह्न युक्त ही पाये जाते हैं। तैतिन भाषाके संबोधन एक-वचन रूपोंमें केवल कुछ ही शब्दोंके साथ ए विभक्तिचिह्न पाया जाता है। इस संबंधमें '—वन्त' शब्दोंमें संबोधन एकवचन रूपोंमें प्रायः 'स्' पाया जाता है, यथा इन रूपोंमें—चिकित्वः, ऋतत्वः, श्रोजीयः।

## द्विवचन रूप

संस्कृतके द्विवचन रूप, भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे देखा जाय, तो त्राठ विभक्तियों में केवल तीन ही तरहके पाये जाते हैं। प्रथमा, द्वितीया तथा संबोधनमें त्रौ विभक्ति चिह्न [यथा, देवौ], तृतीया, चतुर्थी, तथा पञ्चमीमें भ्याम् विभक्तिचिह्न [ यथा, देवाभ्याम् ], षष्ठी तथा सप्तमीमें योः विभक्ति चिह्न [यथा देवयोः] पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि द्विवचन संस्कृतमें एक भिन्न वचनके रूपमें पाया जाता है, फिर भी रूपोंकी बहुलता तथा समस्त विभक्तियोंमें अलग-ग्रलग रूपोंका न होना, भविष्यमें द्विवचन-के लोपका पूर्विचिह्न कहा जा सकता है। लैतिनमें तो यह द्विवचन सर्वथा लुप्त हो गया है। लिथुत्र्यानियन, गॉथिक तथा प्राचीन ग्रीकमें इसके चिह्न मिलते हैं। ग्रीकमें भी संस्कृतकी भाँति द्विवचनके रूप संकुचित ही हैं। सारी छः विभक्तियोंमें केवल दो ही द्विवचन रूप पाये जाते हैं। उदाहररणके लिए 'लागास्' [logos] शब्दके प्रथमा [nominative], द्वितीया [accusative], तथा संबोधन [vocative] के द्विवचनके रूपोंमें लागो [logo]; तथा शेव विभक्तियोंके रूपोंमें लागाइन [logoin] रूप पाये जाते हैं। द्विवचनकारूप वस्तुतः प्रा० भा० यू० में बहुत कम रहा होगा। इसका प्रयोग उन दो वस्तुः श्लोंके लिए पाया जाता होगा जो युग्मोंमें पाई थीं। वो हाथ, दो पैर, दो कान, दो श्रॉखके युग्मोंके श्राधारपर द्विवचन-का जन्म हुआ। धीरे धीरे वैदिक संस्कृतमें उन दो देवतास्त्रोंके लिए भी

<sup>1.</sup> Otto Jespersen: The Philosophy of Grammar P. 205.

यह द्विचचन प्रयुक्त होने लगा, जो युग्म रूपमें आहूत किये जाते थे, मित्रावरुणा, नासत्या, अश्विना, इन्द्राग्नी, द्यावाप्टथिवी । आगे जाकर माता-पिता, पित-पत्नी आदिके युग्मके लिए भी पितरी, दम्पती जैसे द्विचच-नान्त रूपोंका प्रयोग होने लगा । इसके बाद तो द्विचचनका प्रयोग किन्हीं दो चीजोंके भाव-बोधनके लिए होने लगा ।

संस्कृतके श्रकारान्त तथा हलन्त शब्दोंमें श्रा [श्रौ] विभक्तिचिह्नका प्रयोग प्रथमा, द्वितीया तथा संत्रोधनमें पाया जाता है। यह श्रा प्रा० मा० यू० रूश्रो [ व् ] से विकित्ति हुशा है, जो ग्रीकमें श्रो [ 0 ] तथा भारत-ईरानी वर्गमें श्रा पाया जाता है। उदाहर एक रूपमें हम इन द्विचचन रूपोंकों ले सकते हैं; वैदिक संस्कृतके रूप—नासा, नरा, श्वाना, पादा [पादो], पितरा [पितरो], बृहन्ता, हस्ता [इस्तो] । इस संबंधमें यह कह दिया जाय कि श्रवेस्ता में जहाँ श्राकारान्त शब्दोंके इन विभक्तियोंके द्विचचन रूपोंमें श्रो पाया जाता है, वहाँ हलन्त शब्दोंके इन रूपोंमें श्रा पाया जाता है, यथा—

श्रवेस्ता जस्तो [zasto] वै॰ संस्कृत हस्ता [हस्तौ]

,, स्पान [spana] [\*स्पाना] ,, श्वाना

,, नर [nara] \*\* [\*नरा] ,, नरा

इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंकी इन विभक्तियोंके द्विवचनरूपोंमें ई तथा ज ग्रन्त वाले रूप पाये जाते हैं। इन्हें हम प्रा० भा० यू० 'श्वा'

१. ये सब वैदिक संस्कृतके रूप हैं। लौकिक संस्कृतमें विभक्ति चिह्न सदा 'त्रौ' होता है।

२. श्रवेस्तामें यह द्विचन चिद्ध 'श्रा' हस्व होकर अ के रूपमें पाया जाता है जैसे नर [\*नरा], स्पान [\*स्पाना]। कुछ विद्वानोंके मतानुसार यह अवेस्ता ग्रन्थकी लिपिकी विशेषताके कारण हो गया है, वस्तुतः यह दीर्घ [आ] ही है।

\*'अ' \*[ə] से विकसित मान सकते हैं। पती, अग्नी, बाहू, मानू में यह दीर्घंत्व पाया जाता है। श्राकारान्त शब्दोंमें ए श्रान्त वाले रूप पाये जाते हैं, जो प्रा॰ मा॰ यू॰ \*अइ का विकसित रूप है। यह रूप संस्कृतके यमे, उवंरे, उमे में पाया जाता है। नपुंसकलिंग शब्दोंमें [ श्रकारान्तको छोड़कर ] ई का प्रयोग पाया जाता है, यथा वचः से वचसी। इकारान्त, उकारान्त तथा ऋकारान्त नपुंसक शब्दोंके इन रूपोंमें बीचमें 'न्' श्रन्तः प्रत्ययका प्रयोग होता है, यथा अचि-णी; मधुनी, जानुनी, कर्नुणी।

तृतीया, चतुर्थी, तथा पञ्चमीका विभक्तिचिह्न भ्यां है। अवेस्तामें इसका व्यम तथा ब्यां [\*ब्या] रूप पाया जाता है। प्राचीन फारसीमें आकर यह रूप विया हो गया है। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमें बता आये हैं, प्रा॰ भा॰ यू॰ में \*"भ्" के साथ ही ऐसे सुप् प्रत्ययों में \*"म्" वाले रूप भी पाये जाते थे, तथा ये \*म् वाले रूप बाल्तो स्लाविक वर्गको भाषाओं में विकसित हुए हैं। इस संबंधमें अवेस्ता तथा संस्कृतके रूप विशेष समीप हैं, यथा संस्कृत पिनृभ्याम्, अवेस्ता नरब्य [ narabya ] [सं॰ नराभ्याः; नृभ्याः;]; बवल्यम् [ brawatbyam ] [सं॰ बुवद्गवाम् ]। अवेस्तामें किन्हीं शब्दों [ प्रायः अकारान्त शब्दों ] के इन स्पोंमें स्वरको दीर्घ करनेके स्थानपर ध्वनियुग्म [diphthong] का प्रयोग पाया जाता है; जब कि संस्कृतमें मूल शब्दका आंतिम स्वर दीर्घ हो जाता है; संस्कृत हस्ताभ्याम्, अवेस्ता जस्तएंब्य [zastaebya], प्राचीन फारसी दस्तइबिय [dastaibiya]।

संस्कृतमें षष्ठी तथा सप्तमी द्विवचनका विभक्ति चिह्न श्रोस् [अयोः] दो प्रा॰ भा॰ यू॰ विभक्ति चिह्नोंका सम्मिलित रूप माना जाता है। भारत-ईरानी \*श्रास् श्रवेस्ता श्रस्, जो कमशः सप्तमी तथा षष्ठीके विभक्तिचिह्न हैं, प्राचीन संस्कृतमें श्रयोः के रूपमें विकसित हो गये थे। श्रतः इसकी उसक्ति प्रा॰ भा॰ यू॰ -\*[ श्राय् ],

र्म् <mark>ओडस् से मानी जाती हैं ।</mark> यह विभक्तिन्विह्न ग्रीककी विभाषात्र्यों में आइओइस् [oiois] के रूपमें विकसित हुवा है ।

जैसा कि हम श्रष्टम परिच्छेदमें देखेंगे भारतीय श्रार्थ भाषाश्रोंमें प्राकृत-कालमें श्राकर द्विवचन सर्वथा जुत हो गया है। वहाँ द्विवचनका स्थान बहुवचनमें ले लिया है। लौकिक संस्कृतमें द्विवचन श्रवश्य पाया जाता है।

## बहुबचन रूप

लौकिक संस्कृतके प्रथमा बहुवचनमें 'श्रः' [श्रस्] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है वैदिक संस्कृतमें श्रकारान्त शब्दों में प्रथमा बहुवचनमें "असः" विभक्तिचिह्न भी पाया जाता है, यथा देवासः [देव + असः] में । संस्कृतके इस श्रस् को प्रा० भा० यू० क्श्रास् से विकसित माना जा सकता है। श्रीकके प्रथमा बहुवचनमें इ तथा एस् दो तरहके विभक्तिचिह्न वाले रूप पाये जाते हैं। जहाँ तक संस्कृतके श्रसस् वाले रूपका प्रश्न है, उसका संबंध इस एस् से जोड़ा जा सकता है। सोस्यूर तथा बुगमानके मतानुसार संस्कृतके ये दोनों चिह्न प्रा० भा० यू० क्श्रास्-एस् के विकसित रूप हैं। वैदिक संस्कृतमें श्रस् तथा श्रसस् वाले दोनों रूप एक साथ पाये जाते हैं, यथा,

ते अज्येष्ठा अकिनष्ठासः [ऋ. वे. ५.५६-६] अज्येष्ठासो अकिनष्ठास एते [ऋ. ५.६०-५] हैर्पमाणासो धणिता महत्वः [ऋ. १०-६४-१] हर्पमाणा हृषितासो महत्वन् [अथ. वे. ४.३१-१]

हलन्त शब्दरूपोंमें केवल श्रस् विभक्तिचिह्न ही पाया जाता है, जो उसी प्रा॰ भा॰ यू॰ चिह्नका रूप है, यथा श्रापः, धीमन्तः । यह श्रस् श्रकारान्त

<sup>3.</sup> Wackernagel: Altindische Grammatik. Vol. III p. 57 § 22 [C]

<sup>2.</sup> Wackernagel: Altindische Grammatik p. 101 § 41 [d]

तथा श्राकारान्त शब्दोंके श्रतिरिक्त श्रन्य श्रदन्तोंमें भी पाया जाता है, यथा गिरयः, भानवः, गावः, नावः । प्रथमा वहुवचनकी दृष्टिसे नपुंसकिलंगके रूपोंका विशेष भाषावैज्ञानिक महत्त्व है । लौकिक संस्कृतमें इनमें इ विभक्ति-चिह्न पाया जाता है, जिसके पूर्व एक श्रनुनासिक [न] श्रन्तःप्रत्ययका समावेश पाजा है । इस प्रकार श्रदन्तोंमें, —"…आनि", …"ईनि" "…जनि" "…जरिण" श्रन्त वाले रूप पाये जाते हैं । इन रूपोंको हम प्रथम कोटिके नपुंसक प्रथमा वहुवचन रूप मानते हैं । द्वितीय कोटिमें वे शब्द श्राते हैं, जो हलन्त हैं । इनके प्रथमा-द्वितीया बहुवचनका विभक्तिचिह्न भो इ ही है तथा उसमें भी श्रनुनासिक तत्त्व पाया जाता है, —आनि, अञ्चि, अन्ति । जिन नपुंसक हलन्त शब्दोंमें पदान्त व्यञ्जनके पूर्व कोई श्रनुनासिक तत्त्व होता है, वहाँ प्रथमा-द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें पदान्त व्यञ्जनके पूर्व श्रनुनासिक तत्त्व होता है, वहाँ प्रथमा-द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें पदान्त व्यञ्जनके पूर्व श्रनुनासिक तत्त्वका समावेश कर दिया जाता है, —"आंसि [यथा पयस्, पयांसि], ईषि [हविष्, हवींषि], जंषि [धन्त्वि], यह तीसरी कोटि है । चौथी कोटिमें शक्, युज् जैसे हलन्त शब्द श्राते हैं, जिनके शिक्क, युज्जि कैसे रूप वनते हैं । ये पहले तृतीय कोटिमें ही रहे होंगे।

वैदिक संस्कृतके नपु सक लिंगके प्रथमा तथा द्वितीया बहुवचन सर्वथा भिन्न रूपमें मिलते हैं। प्रथम कोटिके रूपोंमें नि के प्रयोगके साथ साथ केवल आ, ई, ऊ श्रन्तवाले रूप भी मिलते हैं, जिनमें नि विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता, यथा 'नामानि गुह्या [६.४१.५] अप्रती वृतानि [१.१६५.७]; उरू वरांसि [१०.८६.२]। द्वितीय कोटिके शब्दोंमें वेदमें आ तथा श्रानि दोनों श्रन्तवाले रूप पाये जाते हैं, यथा नामा, नामानि । वैदिक संस्कृतमें तृतीय कोटिके रूप तो पाये जाते हैं, पर चतुर्थ कोटिके नहीं। श्रतः वैदिक संस्कृतके रूपोंको दो कोटियोंमें विभक्त किया जा सकता है:—[१] हलन्त शब्दोंके रूपोंमें इ विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, जैसे,

१. यथा, ज्ञानानि, वारीणि, मधूनि, कतृ<sup>°</sup>णि ।

२. यथा नामानि, प्रत्यञ्जि, जगन्ति ।

चर्त्वारि; [२] अर्दन्त शब्दोंमें प्रायः अंतिम स्वर ध्वनिको दीर्घ कर दिया जाता है; किन्तु कभी कभी इ, उ हस्व रूप भी पाये जाते हैं; यथा भूरि वृतानि ['सूरीिख वृतानि', के स्थानपर]। इनके अतिरिक्त नि [न् + इ] वाले रूप भी पाये जाते हैं; जो संभव है, हलन्त शब्दोंके सादृश्यपर बने होंगे, क्योंकि ग्रन्य भाषात्र्यों में इनका कोई चिह्न नहीं मिलता। यह 'इ' श्रवेस्तामें पाया जाता है, सं नामानि, अवे नाम्अनि [nameni]। यूरोपीय आर्य भाषात्रींमें यह इ नहीं मिलता, इसके स्थानपर ऋ मिलता है, यथा श्रीक आनामत [onomata], छै॰ नोमिन [nomina] गाँथिक, नम्न [namna]। यह तथ्य इस बातका संकेत करता है कि प्रा॰ भा॰ यू॰ में नपुंसक लिंग शब्दोंके प्रथमा-द्वितीया बहुवचनका चिह्न "श्वा"--[\*अ] [\* Ə] रहा होगा । संस्कृतमें इस विभक्तिचिह्नमें जो 'न् [+ इ]' पाया जाता है, वह संभवतः उन शब्दोंके रूपोंके त्राधारपर जोड़ा जाने लगा हो<mark>गा,</mark> जिनमें मूल रूपमें अनुनासिक ध्वनि अन्तमें थी; यथा नाम [न्]— नामानि :: फल-फलानि । इस प्रकार नामानि के सादृश्यपर फलानि रूप वने होंगे। धीरे घीरे यह न्, इ में जुड़कर नि के रूपमें एक विभक्तिचिह ही बन गया । त्र्रारंभमें आ, ई, ऊ रूप इसी 'श्वा' [Ə] के कारण पाये जाते हैं, धीरे-धीरे इनमें भी 'नि' जोड़ा जाने लगा।

संस्कृत श्रदन्त पुलिंलग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनके रूपों "आन्" विभक्तिचिह्न पाया जाता है। हलन्तों में यह विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता, वहाँ द्वितीया बहुवचनका विभक्तिचिह्न "अस्" है, जो प्रथमा बहुवचनमें भी पाया जाता है। स्नीलिंग शब्दोंके रूपों में भी यह विभक्तिचिह्न "अस्" [स्] के रूपमें ही पाया जाता है। इस प्रकार संस्कृतमें "आन्" विभक्तिचिह्न केवल श्रदन्त पुलिंग शब्दोंकी ही विशेषता है। किन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यह चिह्न प्रा० भा० यू० में स्नीलिंग शब्दोंके रूपों में भी प्रयक्त होता रहा होगा। इस विभक्तिचिह्नका विकास प्रा० भा० यू० मन्स् या मन्स् [माइ, माइ] से माना जा सकता है। प्रीकमें जाकर द्वितीया बहुवचनका

यह विभक्तिचिह्न अस् के रूपमें विकसित हो गया; यथा ग्रीक पतरस् [pater-as] [ सं० पितृन् ] ।

संस्कृतमें ग्रदन्त स्त्रीलिंग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनमें एक विशेषता पाई जाती है, जो संस्कृतमें बादमें उत्पन्न हुई है, किन्तु इसके बीज हम प्रा॰ भा॰ यू॰ में ही पा सकते हैं। संस्कृतके इन स्त्रीलिंग शब्दोंमें हम देखते हैं कि द्वितीया बहुवचनमें न् श्रन्तवाले रूप नहीं पाये जाते। वहाँ आः, ईः, कः, ऋः [यथा रमाः, रुचीः, उरूः, मातृः] ग्रन्तवाले रूप पाये जाते हैं। अन्य भारोपीय भाषात्रोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि पा० भा० यू० ईन्, अन्, ऋन् का प्रयोग स्त्रीलिंग शब्दरूपों में रहा होगा। प्रा० भा० यू० \*आ, \*ओ-कारान्त शब्दों में जिनसे संस्कृतमें क्रमशः पुल्लिंग श्रकारान्त तथा स्त्रीलिंग श्राकारान्त शब्दोंका विकास हुवा है, द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें परस्पर भेद था। पुल्लिंग शब्दोंके रूपोंमें <del>\*ंन्स्</del> विम क्तचिह्नका प्रयोग रहा हो<mark>गा, जब कि स्त्रीलिंग त्राकारान्त शब्दींके</mark> द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें अनुनासिक तत्वका अभाव रहा होगा, तथा कोरा \*'स्' विभक्तिचिह्न ही प्रयुक्त होता होगा। यही विभक्तिचिह्न ग्रीकमें आस् तथा गाँथिकमें श्रोस् के रूपमें विकसित हुत्रा है। किन्तु इकारान्त, उकारान्त, ऋकारान्त शब्दोंके रूपोंमें ऐसा विभक्तिचिह्न प्रयुक्त नहीं होता था, तथा उनमें न वाले रूप ही प्रचलित थे। बादमें संस्कृतमें स्राकर स्राकारान्त रूपों के सादृश्य पर इन स्त्रीलिंग शब्दोंसे भी न् वाले रूप हेटा दिये गये ।

तृतीया बहुवचनका विभक्तिचिह्न भिस् है। श्रकारान्त शब्दोंमें यह विभक्तिचिह्न ऐः भी पाया जाता है। यह विशेषता श्रवेस्तामें भी पाई जाती है, जहाँ तृतीया बहुवचनमें 'बिश्' [bis'] तथा 'श्रइश्' [ais'] दोनों विभक्तिचिह्न पाये जाते हैं, यथा सं मत्यें, मत्येंभिः; श्रवेस्ता मश्यइश् [mas yais'], प्राचीन फारसी मतियइबिश् [martiyaibis']। होमरकी ग्रीकमें इस भिस् के समानांतर फि रूप मिलता है, बादकी ग्रीकमें

<sup>9.</sup> Wackernagel. Altindische Grammatik. vol III. p. 59 §25.

त्राकर यह तृतीया विभक्ति जुत हो गई है। होमरमें 'नउफि' [nauphi] रूप पाया जाता है, जो संस्कृतमें नौिकः है। भिस् के संबंधमें एक वात यह बता दी जाय कि अकारान्त शब्दोंमें इसका रूप एभिस् [देवेभिः] पाया जाता है। यह ए वस्तुतः सर्वनामोंमें प्रथमा बहुवचनमें पाया जाता है [सर्वः, सर्वे]। यह ए वहुवचन-मात्रका वोधक समका जाकर एभिः, एभ्यः के रूपमें तृतीया, चतुर्थी-पञ्चमीके बहुवचनके रूपोंमें जोड़ा <mark>जाने लगा । इसी प्रकार द्विवचन रूपोंके भ्याम्</mark> मैं भी आ जोड़कर आभ्या<del>म्</del> विभक्तिचिह्न बना दिया गया, जहाँ आ [देव:, देवा] ठीक उसी तरह द्विचनका बोधक माना गया, जैसे ए बहुवचन का। किन्तु ये वैकल्पिक प्रयोग केवल अकारान्त शब्द रूपोंमें ही वैदिक संस्कृतमें पाये जाते हैं। अन्य शब्दोंमें केवल भ्याम्, भिस्, भ्यस्, [विष्णुभ्यां, विष्णुभिः, विष्णुभ्यः] का ही प्रयोग होता है। जैसा कि हम बता आये हैं, बेदमें अकारान्त शब्दोंमें देवैः तथा देवेभिः जैसे दोनों रूप पाये जाते हैं। ऋग्वेदमें दोनों रूपोंका समान प्रयोग पाया जाता है, किन्तु ग्रथवंवेदमें ग्राकर एभिः वाले रूप कम हो गये हैं । तैत्तरीय संहिता [यजुर्वेंद] के गद्यभागमें 'एभिः' के रूपोंका सर्वथा अभाव है। लौकिक संस्कृतमें श्राकर ये रूप सर्वथा लुप्त हो गये हैं। वेदसे इन वैकल्पिक रूपोंके ये उदाहरण दिये जा सकते हैं :---

> यातं अश्वेभिरश्विना [ऋ० ६.५.७] ग्रादित्यें र्यातमश्विना [ऋ० ६.३५.१३] श्रद्धिरोभिरा गहि यज्ञियेभिः [ऋ० १०.१४.५] श्रद्धिरोभिर्याज्ञयेरा गहीह [अ० वे० २६.१.५६]

चतुर्थी-पञ्चमीका बहुवचन विभक्तिचिह्न भ्यस् है, जो अकारान्त शब्दोंके पूर्व एभ्यः पाया जाता है, इसे हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। ग्रीकमें यह रूप नहीं मिलता, क्योंकि वहाँ पञ्चमी विभक्ति नहीं पाई जाती, चतुर्थी बहुवचनके चिह्न वहाँ 'अइ', 'एइ' दो तरह के हैं। लैतिनमें इसका रूप बुस मिलता है, यथा पित्र-खुस् [patri-bus] [सं० पितृभ्यः]। बाल्तो-स्ला- विकमें 'म्' के ्स्थानपर म्—[मुस्] रूप पाया जाता है। इसका प्रा० मा० यू० रूप मास्माना जा सकता है। इस संबंधमें यह कह दिया जाय कि तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमीके द्विवचन तथा बहुवचनके सुप् चिह्नोंमें वास्तिविक विभक्तयंश भि है। यही भि, भ्याम् [भि+श्राम्], भ्यः [भि+श्रस्] के रूपमें पाया जाता है।

षष्ठी बहुवचनका विभक्तिचिह्न श्राम है, जो प्रा॰ मा॰ यू॰ \*भोम से विकसित हुवा है। श्रवेस्तामें यह श्रम, ग्रीकमें श्रोन् [on], तथा लैतिनमें उम [um] के रूपमें पाया जाता है। संस्कृतके श्रदन्त शब्दोंमें यह आम श्रानुनासिक श्रान्तः प्रत्ययसे युक्त होकर नाम के रूपमें मिलता है। इन शब्दोंके षष्ठी बहुवचन रूपोंमें मूल शब्दकी श्रांतिम स्वर ध्वनि दीर्घ हो जाती है—देवानाम, हरीणाम, भानुनाम, पितृणाम। श्रवेस्तामें भी श्रदन्त शब्दोंके रूपोंमें यह 'नम' पाया जाता है, जब कि हलन्त शब्दोंके रूपोंमें केवल श्रम ही पाया जाता है।

सं ि गिरीणाम् य्रवे गइरिनम् [gairinam] अपाम् श्रपम् [apam] बृहताम् व्अर्अज्ञतम् [bərəzatam]

सप्तमीका बहुवचन विभक्तिचिह्न सु है। यह विर्माक्तिचिह्न अवेस्ता तथा प्राचीन फारसीमें सु, शु तथा हु के रूपमें पाया जाता है। प्रीकमें यह विभक्तिचिह्न सि [si] पाया जाता है; जो प्रायः चतुर्थी बहुवचन [Dative plural] के अर्थमें प्रयुक्त होता है। वस्तुतः यह सप्तमीका ही रूप है, जो चतुर्थीमें घुल-मिल गया है। प्राचीन चर्च स्लॉविक [सतं वर्गकी एक भाषा] में यह विभक्तिचिह्न शु के रूप में मिलता है। इस तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट है कि सप्तमी बहुवचन का प्रा० भा० यू० चिह्न मस् था। इस मस् में बादमें ग्रीकमें इ [स् + इ = सि], तथा सतं वर्गकी भाषाओं में उ [स् + उ = सु] जोड़ दिया गया। धुर्नेसन नामक पाश्चात्य विद्वानके मतानुसार ये इ, उ वस्तुतः सामीप्य तथा दूरताको बतानेवाले अव्यय थे,

जिनका प्रयोग सतम्यन्त रूपोंके साथ हुवा करता था। धीरे-धीरे ये सतम्यन्तके ग्रंग वनकर एक श्रोर सि तथा दूसरी ग्रोर सु के रूपमें विकसित हो गये। संस्कृतमें यह 'सु' इ, उ, ए, करठ्य ध्विन तथा रेक्से परे होनेपर खु के रूपमें पाया जाता है। ग्रा तथा ग्राके परे होनेपर यह सु ही रहता है, यथा देवेषु, हिरेषु, भानुषु, पिनृषु; पयः सु, रमासु, ।

सम्बोधन व० व० के रूप संस्कृतमें ठीक वहीं हैं, जो प्रथमा व० व० में पाये जाते हैं।

## विशेषण

संस्कृतमें विशेषणके रूप संज्ञा शब्दोंकी तरह ही चलते हैं। विशेषण शब्द सदा अपने विशेष्यके लिंग एवं वचनका बहन करता देखा जाता है, यथा, कृष्णः सर्पः, कृष्णा सर्पिणी, रक्तो घटः, रक्तः पटः, नीलं नभः, नीलं वस्त्रं आदि में। तुलनाबोधक रूपोंमें संस्कृतमें इनके साथ तरप्, तमण्; ईयस्, इष्ठ प्रत्यय जोड़े जाते हैं। संस्कृत शब्द-रचनाका संकेत करते समय हम इन दोनों तरहके प्रत्ययोंका संकेत कर आये हैं। यहाँ उनका सोदाहरण विवेचन किया जा रहा है।

१ [अ] तर-तम [तरप्-तमप्], ये दोनों तुलनाबोधक तद्धित प्रत्यय हैं। इनमें से प्रथम 'तरप्' प्रत्यय दो वस्तुग्रोंकी तुलना कर किसी एककी उत्कर्षता द्योतित करता है। ग्रीकमें इसका—'तरा—रूप मिलता है, जो पिस्तातरास् [pistoteros], अवधस्तरास् [alethesteros] में पाया जाता है। लैतिनमें इसका—तर—' रूप मिलता है, जो नास्तर [noster], दक्स्तर [dexter] में पाया जाता है। यही—तरप् प्रत्यय सार्वनामिक रूप 'कतरः' में मिलता है। थुम्बने सं० अन्तर ले० इन्तर [इन्तेरिग्रोर], ग्रं० इंटर, इन्टीरियर [inter, interior], ग्रीक एन्तर [entera]; सं० इतर,

Wackernagel: Altindische Grammatik vol. III p. 72-73 § 29 [e]

लै॰ इतरुम् [iterum], तथा संस्कृत क्रियाविशेषण 'नितराम्' तकका संबंध इसी 'तर[ प्]' से जोड़ा है । इनके उदाहरण निम्न हैं :—

दूरतर, त्रियतर, विलोखतर, श्रुचितर, धनितर, धिनिन्—] धर्मभुक्र [धर्मबुध्—], प्रत्यक्तर [प्रत्यञ्च्—], सुमनस्तर [सुमनस्—], उद्चिष्टर [उद्चिष्—], सत्तर [सन्त्—] भगवत्तर [भगवन्त्—], विद्वत्तर [विद्वांस्—]।

१ [ग्रा] तमप् [तम] की उत्पत्ति प्रा० मा० यू० \*तमा से मानी जा सकती है। जैसा कि हम पहले संकेत कर त्राये हैं तरप, तमप् तिर, तम] में बस्तुतः दो प्रत्ययोंका मेल है : त + र = तर, त + म = तम। त प्रत्ययका सम्बन्ध संस्कृत 'त' [क्त] प्रा० भा० यू० \*ता [स्] से जोड़ा जाता है। र तथा म भी दो स्वतन्त्र प्रत्ययके रूपमें पाये जाते हैं, जिनका विकास संस्कृत तथा यूरोपीय क्लैसिकल भाषात्रीं दोनोंमें देखा जाता है। सं॰ अधर [नीचा], लै॰ इन्केरि [inferi]; गाँ॰ उन्दर [undar] स्रंग॰, अन्डर [under],सं०ग्रधम, है० इन्फिमुस् [infimus];सं० ऋपर, गॉथिक श्रफ्र [afar], सं० श्रपम-, सं० श्रवर, अवम-, श्रीक हुपरास् [huperos] है॰ सुपरि [superi] ग्रंग॰ सुपर [super], लै॰ सुम्मुस् [summus] [मि॰ अं॰ summit] गाँ॰ डफरो [ufaro]; सं॰ परम, मध्यम, चरमः में ये दोनों प्रत्यय पाये जाते हैं । तम- तिमप् ] प्रत्यय छै॰ में 'तिमुस' तथा गाँथिकमें 'तुम' पाया जाता है । सं अन्तम, लै इन्तिमुस [intimus], उल्तिमुस् [ultimus] [मि॰ त्रुंगरेजी, श्रन्टिसेटम [ultimatum]], गॉथिक, श्रफ्तुम् [aftum] [श्रन्तिम], इफ्तुम [iftum] [ग्रन्तिम] !

<sup>9.</sup> Thumb: Handbuch des Sanskrit. [Formenlehre] § 388 p. 267.

<sup>7</sup> Thumb: Handbuch des Sanskrit § 388 [footnote] P. 268.

तम-के उदाहरण निम्न हैं:-

दूरतम, त्रियतम, विलोलतम, श्रुचितम, धनितम, [धनिन्-], धर्म-भुत्तम [धर्मेबुध्-], त्रत्यक्तम [प्रत्यञ्च् ], सुमनस्तम, [सुमनस्-] उदर्चिष्टम [ उदर्चिष्ट् ], सत्तम [सन्त्-], भगवत्तम [भगवन्त्-], विद्वत्तम [विद्वांस्-]।

तर-, तम-से बने कतिपय संज्ञा शब्द तथा कियाविशेषण भी देखें जाते हैं:—गजतम, उत्तर, उत्तम [संज्ञा शब्द]; अतितराम, प्रतराम, प्रतमाम, उत्त्वेस्तराम, सुतराम, सुतमाम, पचिततराम, पचिततमाम [क्रियाविशेषण]। ये क्रियाविशेषण प्रायः उपसगाँ, ग्रब्ययों तथा क्रिया रूपोंले बने हैं।

र. [अ] ईयस् तथा इष्ठ प्रत्ययोंका संकेत भी संस्कृत शब्दरचनाके संयंधमें किया जा जुका है। ईयस् का विकास प्रा॰ भा॰ यू॰ — \*यस्, \*यास्से माना जाता है। इसके समानान्तर रूप ग्रीक तथा लैतिनमें भी हैं। लैतिनमें इसके इत्रार, इउस् रूप मिलते हैं, सिनिआर [सन्यार] [senior] [अंगरेजी सीनियर [senior], मिल्यार] [melior] मिलउस् [मल्युस्] [melius] [नपुंसक रूप]। ग्रीकमें इसके ईश्रास्, यास् रूप मिलते हैं, हेदीक्रो [hedio] हेदीक्राउस् [hedious] ∠ \*हेदी [य्] आ [स्]—अ—एस् [hedio] [प्र] ० [s]-a es] [सं॰ स्वादीयस्], ब्रादीओ [bradio] [सं॰ ऋदीयस्]। इसके उदा-हरण निम्न हैं:—

अव्पीयस् , वरीयस् [उरु-], चेपीयस् [च्छ्य-] गरीयस् [गुरु-] द्वहीयस् [ट्टट-]; द्वाघीयस् [दीर्घ-], पटीयस् [पटु-], पापीयस् [पप्-], प्रथीयस् [प्रथु-], प्रथस् [छ्य-], वलीयस् [विलन्-], महीयस् [महान्त्-], स्रदीयस् (मृदु-], यवीयस् [युवन्-], स्थेयस् [हिथर-]।

२. [ग्रा] -इष्ट का श्रीक रूप-इस्ता [-isto] मिलता है; क्रतिस्तास् [kratistos], ग्रालिगिस्तास् [oligistos]।

इसके उदाहरण निम्न हैं:--

अिंपष्ठ, वरिष्ठ [उस्—], त्तेषिष्ठ [त्त्रिप्र—] गरिष्ठ [गुरु—], द्रविष्ठ [हट्ट—], द्राविष्ठ [दीर्घ—], पिट्ठ [पटु—], पाषिष्ठ [पाप—], प्रथिष्ठ [प्रथु—], प्रषेष्ठ [प्रय—], व्रविष्ठ [यिय—], व्रविष्ठ [मटु—], व्रविष्ठ [मटु—], व्रविष्ठ [युवन्—], स्थेष्ठ [रिथर—]।

इनके त्र्रातिरिक्त कुछ त्र्रापवाद रूप भी पाये जाते हैं, जिन्हें थुम्बने 'इरेंग्यूलर' या 'देफेक्तिव' माना है।'

[अंतिक], नेदीयस् , नेदिष्ट । [अल्प], कनीयस् , कनिष्ठ । प्रशस्य, श्रेयस् , श्रेष्ठ, ज्यायस् , ज्येष्ठ । बहु, भूयस् , भूयिष्ठ,

वृद्ध, वर्षीयस् , वर्षिष्ठ,

संस्कृतमें कतिपय रूप ऐसे भी देखे जाते हैं, जिसमें एक साथ दो-दो तुलनाबोधक प्रत्यय पाये जाते हैं, यथा,

पापीयस्-तर [पापीयस्तर], पापिष्टतर, पापिष्टतम, श्रेष्ठ, श्रेष्टतर, श्रेष्टतम।

## सर्वनाम शब्दोंके रूप

सर्वनाम शब्दोंको हम दो प्रकारकी कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं:—
[१] वैयक्तिक सर्वनाम [ ग्रस्मत् , युष्मत् ] [२] विशेषणीभूत सर्वनाम,
[ यत् , तत् , इदं, एतत् ग्रादि] । इनमें वैयक्तिक सर्वनामोंमें लिंग भेद
नहीं पाया जाता, जबिक विशेषणीभूत सब्दोंमें तीनों लिंग पाये जाते हैं।
सभी सर्वनामोंमें संबोधन विभक्ति नहीं होती।

<sup>9.</sup> Thumb: ibid § 389 P. 269.

पंस्कृतके अहम तथा त्वम जो वैयक्तिक सर्वनाम शब्दोंके प्रथमा विभक्तिके एकवचन रूप हैं, अवेस्तामें अज्ञान [azəm] तथा तुवम् [buwam] के रूपमें पाये जाते हैं। ग्रीकमें इनके रूप एगो [ego] तथा 'सु' [प्रा॰ रूप तु] [su / \*bu] पाये जाते हैं। इस तुलनासे स्पष्ट है कि इनमें प्रयुक्त "अम्" वस्तुतः सर्वनामोंका विभक्तिचिह्न है, जो भारत-ईरानी वर्गमें पाया जाता है। संस्कृतमें 'त्वम्' के स्थानपर केवल तु भी पाया जाता है। वैदिक संस्कृतमें यह प्रयोग मिलता है:—आ तू गहि प्र तु इव [६.१३.१४]। दितीया एकवचनके रूपोमें मां, त्वां तथा मा, त्वा जैसे वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। अवेस्तामें भी ये वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं:—

मस्, मा  $[ ext{mam}, ext{ma}]$  ; थ्वम्, थ्वा  $[ heta_{ ext{wam}}, heta_{ ext{wa}}]$ । तृतीया विभक्तिके एकवचनमें इनके रूप मया एवं स्वया [तुत्रया] होते हैं । चतुर्थींमें इनमें भ्य [ग्रवे॰ व्य] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है; जो संस्कृत तुभ्यं में पाया जाता है, 'श्रस्मत्' शब्दभें यह 'हा' हो जाता है। ऋग्वेदभें कहीं-कहीं तुभ्यं, महां के स्थानपर तुहा, महा रूप भी पाये जाते हैं। श्रवेस्तामें दोनोंमें 'ट्य' पाया जाता है, यथा तइट्य [taibya], महट्य [maibya]। किन्तु लैतिनमें मत् के साथ 'ह' तथा व्वत् के साथ ब विभक्तिचिह्न मिलता है, मिहि [mihi] सिं॰ महां], तिबि [tibi] सिं॰ तुभ्यं]। इससे अनु-मान होता है कि प्रा॰ भा॰ यू॰ में ही उत्तम पुरुष एकवचन शब्दकी चतुर्थी विभक्ति 'ह' रही होगी, तथा मध्यम पुरुषकी 'भ'। पञ्चमीमें इनमें अत् पाया जाता है। प्रा॰ भा॰ यू॰ में इसका रूप \*ऐत [et] था, जो संस्कृतमें मंत्रात् होना चाहिए था। ग्रतः संस्कृतके मत्, व्वत् रूपोंको \*मात् , \*त्वात् जैसे किल्पत रूपोंसे विकसित समफना चाहिए । तव, मम जैसे षष्ठी एकवचनके रूप भारत-ईरानी वर्गको ही विशेषता है। ग्रीकर्म इनके रूपोंमें आस् विमक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, यही चिह्न लैतिनमें उस् के रूपमें प्रयुक्त होता है, यथा ग्रीक तन्नास [teos] एमास [emos],

लैतिन तूस [tus] । संस्कृतके चतुर्थां षष्ठीके मे, ते जैसे वैकल्पिक रूप अन्य मा॰ यू॰ भाषाओं में भी पाये जाते हैं । ये वैकल्पिक रूप श्रीक तथा लिथुत्रानियनमें भी उपलब्ध होते हैं — ग्रीक माइ [moi] ताइ [toi] तथा लिथुत्रानियन मि [mi], ति [ti] । संस्कृतमें सतमी ए॰ व॰ में 'मिय' रूप पाया जाता है, किन्तु युष्पत् [त्वत्] शब्दका 'त्विय' वालारूप प्राचीन न होकर बादमें मिय के साहश्यपर विकसित हुवा है । इसका प्रयोग सर्व प्रथम श्रथवंवेदमें मिलता है। ऋग्वेदमें इसका प्राचीन रूप त्वे मिलता है।

संज्ञात्रों के रूपोंकी भाँति यहाँ भी द्विवचनके रूप सीमित ही पाये जाते हैं। संस्कृतमें इनके प्रथमा-द्वितीया द्विवचनरूप आवास तथा युवास पाये जाते हैं। वस्तुतः ये रूप केवल द्वितीया विभक्तिके ही थे। प्रथमा विभक्तिमें इनके रूप आवं तथा युवं पाये जाते थे, जो प्राचीन वैदिक मन्त्रों में उपलब्ध होते हैं; किन्तु बाद के वैदिक साहित्यमें स्नावां तथा युवां दोनों ही विभक्तियों में प्रयुक्त होने लगे हैं। ठीक इसी प्रकार तृतीया, चतुर्थी, पञ्चभीके प्राचीन रूप स्नावभ्यां तथा युवभ्यां हैं, किन्तु ये भी साहश्यके द्वाधारपर वादमें आवाभ्यां तथा युवभ्यां हो गये हैं। इन शब्दोंके द्विवचन रूपोंमें मूल रूप स्नावभ्यां तथा युवभ्यां हो गये हैं। इन शब्दोंके द्विवचन रूपोंमें मूल रूप स्नावभ्यां स्था युव–ही थे, इसकी पृष्टि षष्ठी सप्तमीके द्विवचन रूप स्नावयोः, युवयोः से भी हो जाती है। इन विभक्तियोंके वैकल्पिकरूप नौ तथा वास पाये जाते हैं। ये रूप द्विवस्तामें भी ना [na] तथा वा [va] के रूपमें मिलते हैं। संस्कृतके वां का स्रानुनासिक तत्त्व संस्कृतकी निजी विशेषता है। संस्कृत नौ के समानान्तर रूपमें प्रीकमें नो [no] पाया जाता है, जो वहाँ प्रथमा [nominative] तथा द्वितीया [accusative] के द्विवचनमें प्रयुक्त होता है।

इन शब्दोंके बहुवचन रूपोंमें प्रथमा विभक्तिमें श्रम विभक्तिचिह्न पाया जाता है, यथा वयम, यूयम । श्रवेस्तामें मध्यम पुरुष सर्वनाम शब्दका बहुवचनरूप "यूज्श्रम" [ yuzəm] पाया जाता है । श्रन्य सभी विभक्ति रूपोंमें इनमें स्म विभक्तिचिह्नका प्रयोग पाया जाता है, — श्रस्मान्, युप्मान्; श्रस्मत्, युप्मत् श्रादि । यह स्म श्रवेस्ता तथा ग्रीकमें भी क्रमशः हा तथा स्म के रूपमें पाया जाता है, श्रवे० अहा [ahma], ग्रीक श्रम्म [amme] । यह विभक्तिचिह्न श्रन्य सर्वनामोंके एकवचन रूपोंमें भी पाया जाता है, तस्मै, तिस्मन् । किन्तु षष्टी बहुवचनके रूपोंमें इन उत्तम पुरुष तथा मव्यमपुरुषके रूपोंमें स्म के साथ आक्रम् भी जोड़ दिया जाता है, श्रस्माकम्, युप्माकम् । श्रवेस्ताके श्रह्माक्श्रम् [ahmakəm], श्रव्माक्श्रम् [yusinakəm] शब्दोंके श्राधारपर यह कहा जा सकता कि यह स्म + आकं विभक्तिचिह्न भारत-ईरानीं वर्गकी ही विशेषता रही होगी।

यहाँ इतना कह दिया जाय कि भा॰ यू॰ भाषात्रों में ग्रन्य पुरुष [प्रथम पुरुष] के शब्दों को व्यक्तिवाचक या पुरुषवाचक सर्वनामीं [Personal-pronouns] की तरह न मानकर पदरचनाकी दृष्टिसे निर्देशात्मक सर्वनामीं [demonstrative pronouns] की तरह माना जाता है। संस्कृतमें भी इसीलिए तत् शब्दके रूपमें तीनीं लिंग पाये जाते हैं। तत् शब्दके इन रूपीपर हम ग्रागे संकेत करेंगे।

संस्कृतमें स्व का आत्मने प्रयोग मिलता हैं। इसका प्रयोग सर्वनामके रूपमें मिलता है। ऐसा प्रयोग ग्रीक, लैतिन तथा अवस्तामें भी देखा जाता है, ग्रीक हास् [hos], हआस् [heos], लैतिन सूस [suus], अवस्ता ह्व [hwa]। इसका प्रयोग प्रायः 'आत्मने' [reflexive] के अर्थमें पाया जाता है। संस्कृतमें इसीके स्वयं, स्वतः आदि रूप मिलते हैं। आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में इसके समानान्तर लैतिन सूस के विकसित रूप से [se] का फोंच भाषामें बहुत प्रयोग मिलता है। फोंचकी कई कियाएँ ऐसी हैं, जिनके साथ इस से का प्रयोग अवश्य होता है। ये कियाएँ "रिफ्लेक्सिव" [reflexive verbs] कहलाती हैं। यह प्रयोग प्रायः संस्कृतके आत्मनेपदी सा है। यथा, "आँ से भी ता ताडल [on se

mit a table] [प्रत्येक [व्यक्ति] स्वयं टेबुलपर वैठ गया; ऋर्थात् सब टेबुलपर बैठ गये।] में यह से संस्कृतके स्व का समानान्तर ही है।

संस्कृतके मध्यम पुरुष 'त्वं' के लिए ग्रादरणीय ग्रार्थमें भवान् का प्रयोग पाया जाता है, जो प्रथम पुरुष क्रियाके साथ प्रयुक्त होता है, भवान् गच्छित । यह भवान् वाकेरनागेलके मतानुसार संस्कृत शब्द भगवान् का ही वैकल्पिक संचित्त रूप है । इस वैकल्पिक रूपके लिए उसने फोंच भाषासे एक ऐसा ही उदाहरण दिया है । ठीक इसी ग्रादरणीय ग्रार्थमें फोंच भाषामें माँसेको [monseigneur] तथा 'माँखो' [माँखो] [monsieur] दोनों प्रकारके रूप पाये जाते हैं, जहाँ द्वितीय रूप प्रथमका ही संचित्त वैकल्पिक रूप है । इसी प्रकार संस्कृतका भवान् , भगवान् का ही संचित्त वैकल्पिक रूप है ।

निर्देशात्मक तथा विशेषणोभृत सर्वनामों [demonstrative prenouns and articles] में स, सा, तत् का संबंध ग्रीकके हा [ho]
हे [he] [ग्रा॰ ६० हा-] ha] तथा ता [to] से जोड़ा जा सकता है, जो
कमशः पुल्लिग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग शब्दोंके मूल रूपोंके साथ
ग्रीकमें टोक वैसे हीं प्रयुक्त होते हैं, जैसे ग्राँगरेजीमें ए, एन, दि [0, an,
the]। ग्रीकमें ये 'ग्रार्टिकल' कहलाते हैं। इसका विकास प्राचीन भारतयूरोपीय सो-सा [so,-sa], तो-ता [to, ta] से माना गया है। इनके श्रतिरिक्त कुछ प्रश्नवाचक सर्वनाम भी संस्कृतमें प्रयुक्त होते हैं। संस्कृतके कः,
का, कि, चित्र का संबंध ग्रीक पा [po], तिस् , ति [तिद्] [tis.ti [tid];
लैतिन क्वोद् [quo-d], क्विद् [qiu-d], क्वास् [quos]
ग्राइरिश किआ [cia], वेल्श चिव्र [pwy], तथा ग्रंगरेजी हू [who]
से जोड़ा जा सकता है। इन सबका विकास प्रा॰ भा॰ यू॰ \*क्वास्

<sup>■ .</sup> Wackernagel: Altindische Grammatik P. 487 § 139 [C]

[\*k"os] से हुआ है। संबंधवाचक सर्वनाम यः या, यत् का संबंध प्रा॰ मा॰ यू॰ यो [yo], [ya] से जोड़ा जाता है। इन शब्दोंके विभक्ति चिह्न प्रायः संज्ञाओंके ही विभक्ति चिह्नोंसे विकसित हुए हैं।

### संख्यावाचक शब्द

प्रा० भा० यू० में गणनाका ढंग 'दस' से होता था। उसमें एकसे लेकर चार तककी संख्याके शब्दोंके रूप सभी लिंगोंमें सविमक्तिक चलते थे, जब कि पाँच से दस तकके शब्द अपरिवर्तित रूप वाले अव्यय थे। १० से १६ तकके शब्द इसके साथ एक, दो, तीन, चार...इत्यादिके वाचक शब्द जोड़कर बनाये जाते थे। प्रा० भा० यू० से विकसित भाषाओं में १० से ऊपरके संख्यावाचक शब्द कई ढंगसे बनाये जाते हैं। कहीं तो ये समस्त शब्द-से होते हैं, विथा, एकादश, द्वादश, त्रयोदश या अं० थटीन [thirteen], या वेल्श 'पिमथेग' [pymtheg]। कहीं-कहीं वीच में समुचय बोधक श्रव्ययका प्रयोग कर इस तरहकी संख्याका बोध कराया जाता था, यथा, संख्या द्वाविंशत् [ द्वे विंशति च पुरुषाः ] ग्रीक एइकासि-दुग्रा [eikosiduo], श्रथना दुश्रा कइ एड्कासि [duo kai eikosi]। यद्यपि पा॰ भा॰ यू॰ गणना 'दस' से ही होती थी; किन्तु ऐसे भी चिह्न दिखाई पड़ते हैं, जहाँ 'नौ' वाली गणना देखी जाती है। केल्तिक तथा अन्य दूसरी यूरोपीय भाषात्रोंमें ये संकेत मिलते हैं। वेल्शमें 'ग्रठारह' के लिए 'द्युनव' [dennam] शब्दका प्रयोग होता है, जिसका श्रर्थ होगा, "दो नौं"। श्रीकमें १६, २६, ३६... त्रादि के लिए 'एक कम वीस' अर्थवाले प्रयोग मिलते हैं, यथा 'हनास् दुआन्तस् एइकोसिन्' [hnos deontes eikosin] [सं॰ एक-ऊन-विंशत्; एकोनविंशत्]। कुछ लोग यहाँ भी वाली गणनाका संकेत हूँ हनेका प्रयत्न करें, पर यह ठीक न होगा; यहाँ पर वस्तुतः 'दस' <mark>वाली गर्</mark>णना ही है। वैसे संस्कृतमं ''नौ'' वाली गर्णना के संकेत कई स्थानों पर मिलते ऋवश्य हैं, यथा—'नवद्वयद्वीपपृथग्ज-

यश्रियाम्' [नैषध, प्रथमसर्ग], जहाँ 'ग्रठारह' के लिए 'नवद्वय' का प्रयोग हुम्रा है, जो बेल्श 'द्योनव' के समानान्तर है ।

संस्कृतके एकसे दस तकके संख्यावाचक शब्द तथा सौका संख्यावाचक शब्द प्रा० भा० यू० शब्दोंसे विकसित हुए हैं। बाकी संख्यावाचक शब्द मिलाकर बनाये हुए शब्द हैं। हम इन प्रमुख शब्दोंकी तालिका देते हैं:—

१ एक \*श्राइनास् लै॰ उनो [uno] ग्रीक श्राइन्रास् [oios]

```
२ द्वि *दुयोउ ,, दुए [due] ,, दुस्रो [duo]
  ३ त्रि *त्रेयेस् ,, त्रे [tre] ,, त्र इस् [treis] ४ चतुर् *क्वत्यारस् ,, क्वात्र [quatre] ,, ततारस्
         रूपन्क्व ,, क्विक्व [quinque] ,, पन्त
  ह षट् *स्यक्स् " सह [sei] " ज़स-[zes-]
७ सप्त *सप्तम् " सप्त [sept] " हप्त
         ≠आक्तोड " ओक्ता [octo] "आक्तो
                    ,, नोवेम [novem] ,, एन्-नश्र
 १० दश *दनम ,, देकेम [decem] ,, दक [deka]
१०० शतम् *वव्मताम् "सेन्तुम [centum] "हकतान्
                                             [hekaton]
```

१००० सहस्र 🗙 फारसी हज़ार

ग्रीक खीलि<mark>ग्रोइ</mark> [khilioi]

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं पा० भा० यू० में एकसे चार तकके संख्यावाचक शब्द लिंग व विभक्तिके अनुसार बदलते थे; यथा एकः, एका, एकं; हो, हे, हे; त्रयः, तिस्तः, त्रीणि; चत्वारः, चतसः, चत्वारि । इसी तरह विभक्तियोंमें भी एकः, एकं, एकेन...ग्रादि हो, हो, हाभ्यां, हयोः, त्रयः, त्रीन्, त्रिभिः त्रादि, चत्वारः चतुरः, चतुर्भिः, चतुर्भ्यः, चतुर्णाम्, चतुर्षु रूप चलते हैं। इसी तरह स्त्रीलिंग रूपोंके तथा नपुंसकलिंग रूपोंके भी विभक्तिरूप पाये जाते हैं । पञ्च तथा ग्रन्य संख्यावाचक शब्दोंमें लिंग नहीं होता; पञ्च पुरुषाः, पञ्च नार्यः, पञ्च फलानि: दश घटाः, दश लताः, दश पुस्तकानि । किन्तु इनमें विभक्ति रूप पाये जाते हैं, यथा पञ्च, पञ्च, पञ्जभिः; षट्, षड्भिः, षड्भ्यः, षण्णाम्, षट् सु । श्रतः यहाँपर इन्हें ग्रव्यय नहीं माना जा सकता। यद्यपि इन शब्दोंमें लिंगका ग्रामाव यह संकेत करता है कि ये मूल रूपमें ऋन्यय [indeclinables] थे, तथापि ऐसा अनुमान होता है कि संस्कृतमें आकर ये शब्द एक, द्वि, त्रि, चतुर् के सादृश्यपर सिवेमिक्तिक वन गये। यह संकेत कर देना स्त्रनावश्यक न होगा कि एक के रूप केवल ए० व० में, ह्रौ के केवल द्वि० व० में, तथा **क्रि'** श्रादि शेष संख्यावाचक शब्दोंके रूप केवल बहुवचनमें पाये जाते हैं।

बीससे लेकर नव्ये तकके संख्यावाचक स्त्रीलिंग नाम शब्द हैं, तथा उनके रूप केवल ए० व० में ही चलते हैं। इनके साथ जिस वस्तुकी संख्या बनाना होता है, उसे पष्ठी व० व० में रखा जाता है यथा, 'नवितं नाच्यानाम' ''जल—पोतोंकी नवित [नव्ये पोत]", कभी कभी इनका प्रयोग इस तरह भी किया जा सकता है कि [१] संख्यावाचक शब्द वस्तु [विशेष्य] की विभक्तिमें तो हो किंतु वचनमें नहीं, यथा 'विशव्या हरिभिः' 'वीस घोड़ोंके साथ', अथवा [२] कभी कभी संख्यावाचक शब्द

विशेषणकी तरह विशेष्यकी विमक्ति तथा वचनका वहन करता है, यथा 'पञ्चासिक्रिक्रों' 'पचास वाणोंके साथ'। इनके समानान्तर रूप ये हैं। २०-५० सं० विशक्ति-, अवे० वीसइति, अीक एइकासि [eikosi], लै०

वीगिती [viginti]

सं॰ त्रिंशत् , अवे थिसँस् [Grisas] [कर्म ए॰ व॰] थ्रिसत्त्रम्

[ hetarisatəm], है । त्रीगिता [triginta]

सं विश्वारिशत् , अवे विश्वार्भसत्अम् [caθwaresatem], श्रीक तत्तर-कान्ता [tettara-konta] है कदागित

[quadraginta]

सं पञ्चाशत् , अवे पन्शासत् [pans asat], श्रीक पन्ते कान्ता [pentekonta] है किकागित [quinqua-

ginta]

इन संख्यावाचक रूपोंमें '-शत्' तत्त्व पाया जाता है। इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० यू० '\*क्य्मत्' [kmt] से मानी गई है, जो वस्तुतः \*'द्क्मत्' [dkmt] का हस्य रूप है, जिसका प्रयोग प्रा० भा० यू० में 'दस' के ब्रार्थ में पाया जाता है।

६०-६०; षष्ठि, सप्ति, अशीति, नवति—इन शब्दोंकी रचना पूर्व-वर्ती संख्यावाचक शब्दोंसे सर्वथा भिन्न है। इनमें भाववाचक —'ति' प्रत्ययका प्रयोग पाया जाता है। यह विशेषता केवल भारत-ईरानी वर्ग में ही पाई जाती है। पुरानी स्लावोनिकमें भी 'शिश्व' [s'es'ti] में इसका चिह्न देखा जा सकता है, जो संस्कृत "षष्ठि' का समानान्तर है। ग्रवेस्तामें इनके रूप ये हैं:—' ख्रवदित' [xs'vas'ti], हसाइति [haptaiti], ग्रशाइति [as'aiti], नवइति [navaiti]।

१०० का संख्यावाचक शब्द 'शतम्' प्रा० भा० यू० 'क्य्म्ताम्' [kmtom] से विकसित है, जिसके समानान्तर ग्रन्य भाषागत रूपोंके संकेतके लिए दे० पृष्ठ ५१। १००० का संख्यावाचक शब्द 'सहस्र' है, जिसका त्र्रवेस्तामें 'हजंत्र' [hazangra] तथा फारसीमें 'हजार' [hazar] रूप मिलता है । ग्रीकमें इसका 'खीलिओइ' [khilioi] रूप है। इससे स्पष्टतः है कि इसकी ऋारंभिक ध्वनि 'स' प्रा० भा० यू० 'स्म्'  $[\mathrm{sm}]$  से विकसित है, जो 'एक' का वाचक है। इसी संबंधमें यह भी कह दिया जाय कि पा॰ भा॰ यू॰ में 'एक' के प्राचीन रूपके त्रातिरिक्त इसके बोधनके लिए <del>श्रत्य शब्द भी था जिसका मूल रूप \*'सम्'</del> [sem] था। इसका विकास थ्रीकके हेड्स् [heis] तथा मित्रा [mia] में देखा जा सकता है। संस्कृतमें भी इसके चिह्न 'सकृत' 'एक बार' [अवे॰ हक्अर्अत hakərət] में देखे जा सकते हैं। 'सहस्र' का संबंध भी इसी \*'सम्-\*स्म' से है।

क्रमात्मक संख्यावाचक विशेषण [ordinals] के रूप संस्कृतमें ये हैं:— १. सं० प्रथम, अवे० फ़त्अम [fratəma].

२. ,, द्वितीय, अवे॰ दइबित्य, बित्य, पु॰ फार॰ दुवितिय

र. ,, तृतीय, श्रवे॰ थ्रित्य [θritya], लै॰ तितिंउस् [tertius].

४. [क] चतुर्थं, ग्रीक ततर्तास् [tetartos], लिथु॰ केल्वरर्तस्

[ketvirtas]

[ख] तुरीय, तुर्य-, अवे॰ तृह्र्य [tuirya]

पू. [क] पक्थ [ऋग्वेद १०, ६१, १], अवे० पुरुद [puxsa]; श्रीक, पेग्सोस् [pemptos]

[ख] पञ्चथ [काठकसंहिता], पुरानी वेल्श पिम्फेत [pimphet]. गि] पञ्जम, पहलवी [मध्य कारसी] पंजुम [panjum]

६. षष्ठ, ग्रीक हक्तास् [hektos], लै॰ सक्स्तुस् [sextus] ७. [क] सप्तथ, [ऋग्वेद], ग्रवे॰ हप्तथ [haptasa] [ख] सप्तम, फारसी हप्ततम, ग्रीक हब्दामास् [hebdomos] लै॰ संतिमुस्

८. श्रष्टम, ग्रवेस्ता अश्त्अम [astəma]

६. नवम, अवे॰ नश्राम [naoma], पु॰ फारसी नवम.

१०. दशम, श्रवे० दस्त्रम [dasəma], लै० दिक्सुस् [decimus] इससे स्पष्ट है कि क्रमात्मक संख्यावाचक शब्द बनानेमें मूलतः प्रा० भा० यू० में 'श्र' प्रत्ययका प्रयोग होता है, जैसे सतम् श्र [सतम], दशम् श्र [दशम] में। इसके बाद 'म' ही प्रत्यय बन गया तथा उनमें भी जोड़ा जाने लगा, जिनमें मूलतः 'म्' अंश नहीं था, यथा श्रष्ट-म, नव-ममें। इसके श्रातिरिक्त संस्कृतमें 'थ' प्रत्यय भी है, इसका विकास प्रो० वरोने 'ता' निश्र [धिमेटिक स्वर] से माना है, जिसमें भारतेरानी वर्गमें प्राण्ताका प्रयोग होने लगा है, वे 'चतुर्थ' की उत्पत्ति \*चतुर्ता + अ से मानते हैं।

<sup>1.</sup> T. Burrow: Sanskrit Language. P. 262.

# संस्कृत पद-रचना [िकया तथा कियाविशेषण]

संस्कृतकी कियाएँ अन्य भारोपीय भाषात्रोंकी भाँति वाच्य, लकार, काल, पुरुष तथा वचनसे युक्त हैं। इनमें तीन प्रकारकी वाच्यता पाई जाती है, कर्नु वाच्य, कर्मचाच्य तथा स्ववाच्य [त्र्यात्मनेपदी], जिन्हें भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिसे ग्रलग-ग्रलग कोटिमें मानना होगा। संस्कृतमें दस लकार, तीन काल, तीन पुरुष तथा तीन वचन पाये जाते हैं। प्राचीन भा० यू० के विषयमें हम देख चुके हैं कि वहाँ क्रियाके विभिन्न लकार वस्तुतः क्रिया <mark>के प्रकार विशेषका बोध कराते थे।</mark> साथ ही ये क्रिया रूप न केवल क्रि<mark>याका</mark> ही बोध कराते थे, त्र्रापितु उसी पदके द्वारा कर्ताका भी बोध कराते थे, जिससे कर्ताके पुनः प्रयोगकी आवश्यकता ही न थी; यदि उसकी आव-श्यकता होती थी तो प्रथम पुरुष में। उदाहर एके लिए भवसि तथा भवामि में कर्ता स्वयं अनुस्यूत है, अतः स्वं तथा श्रहम् के बिना भी उसकी भावप्रतीति हो जाती है। यह तथ्य एक मनोवैज्ञानिक सत्यकी स्रोर संकेत करता है कि ब्रारम्भकी सामाजिक ब्रावस्थामें प्रा॰ भा॰ यू॰ का व्यवहार करनेवाले कर्ता तथा क्रियाके [ व्याकरणात्मक ] भेद्से स्पष्टरूपेण परिचित न थे। सभ्यताके विकासके साथ मानसिक विकास होनेपर इनका भे<mark>द</mark> ज्ञात हुवा है।

इसके पूर्व कि हम क्रियारूपोंका अध्ययन करें, आगम, धातु तथा विकरणको समभ लिया जाय। धातु किसी क्रियारूपका मेरुद्रण्ड है। इसी मूल रूपमें तिङ् प्रत्यय जोड़कर विभिन्न क्रिया रूपोंकी सृष्टि होती है। भूतकाल [लङ् तथा छुङ् दोनों ही] मैं क्रियाके मूल रूप [धातु] के पूर्व 'अ' का आगम होता है, जो संस्कृतमें भूतकालका द्योतक माना जाता है। यह अप्रा० भा० यू० \*ए से विकसित हुवा है, तथा यह लङ् [imperfect] और छुङ् [aorist] दोनोंमें भीकमें भी प्रयुक्त होता है, यथा

संस्कृत अभरम, अभरः, अभाषमः, श्रीक एफरान् [ epheron ], एफरस् [e-phere-s], ऐफ्रान् [e-phro-n]। विकरण संस्कृतमें उन अन्तः-प्रत्ययोंके लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है, जो कई गर्गों में, कई लकारों में, तथा कई अन्य प्रकारके रूपोंमें धातु तथा तिङ् प्रत्ययके बीचमें जोड़ा जाता है। उदाहरणके लिए भू धातुको लीजिये। इसके साथ वर्तमाने लट्का प्रथम पुरुष एक वचनका तिङ् प्रत्यय 'ति' जोड़नेपर 'भू + ति' रूप बनेगा । इस गणके [स्वादिगणके] धातुत्र्योमें वीचमें 'श्र' विकरणका प्रयोग पाया जाता है; इससे यह 'भू + श्र + ति = भवति' रूप हो गया है, जहाँ धातुकी श्रांतिम स्वर ध्वनि 'ऊ' में गुए होकर श्रव् रूप हो गया है। ये विकरए त्रारंभसे ही प्रा॰ मा॰ यू॰ की विशेषता रहे हैं, तथा ये ग्रीक स्नादि स्रन्य भारोपीय भाषात्रोंमें भी पाये जाते हैं। इन्हींके त्राधारपर ग्रीकके किया रूपोंको सविकरण [thematic], श्रविकरण [athematic] इन दो श्रेगियोंमें विभक्त किया जाता है। इन शब्दोंकी रचना 'थमास्' [ themos ] से हुई है, जिसका अर्थ वहीं है, जो संस्कृत वैयाकरणोंके विकरण का । संस्कृतमें ये विकरण संख्यामें २० के लगभग पाये जाते हैं। इन्हीं विकरणोंके त्राधारपर संस्कृत व्याकरणमें धातुत्रोंको भ्वादि दस गर्णोमें विभक्त किया गया है। संस्कृतके दस लकारोंका सार्वधातुक तथा आर्धधातुक श्रेग्री विभाजन पाया जाता है। संस्कृत धातुत्रों में कुछ ऐसे भी धातु हैं, जिनके साथ किसी भी विकरणका प्रयोग नहीं पाया जाता। संस्कृतके अदादिगणी धातु इस अविकरणात्मक कोटिमें आयँगे। उदाहरणके लिए इस गणके अस् धातु को लीजिये, जिसके वर्तमानके प्र० पु० एकवचनमें अस् + ति = अस्ति रूप पाया जाता है। इसी विकरण-प्रक्रियाके आधारपर संस्कृतमें एक ग्रौर विभाजन पाया जाता है, जो ग्रुनिट् तथा सेट्के नामसे प्रसिद्ध है। जिन धातुत्रोंके कुछ रूपोंमें 'इ' [इट्] विकरणका प्रयोग पाया जाता है, वे धातु 'सेट्' तथा अन्य 'ऋनिट्' कहलाते हैं। उदाहरराके लिए 'भू' तथा 'दा' इन दो धातुत्र्योंको ले लीजिये। 'भू' से भविता;

भवितुं, भविष्यिति स्रादि सेट् रूप वनते हैं, किन्तु 'दा' से दाता, दातुं, दास्यित रूप बनते हैं। स्रातः प्रथमं सेट् है, दूसरा 'स्रानिट्। इस इ विकरणका प्रा० भा० यू० रूप क्या रहा होगा, इस विषयपर स्रागे प्रकाश डाला जायगा।

पहले इन किया रूपोंके मेरुदएड, धातुपर ध्यान दे लिया जाय । संस्कृतमें सभी धातु एकात्त्रर [monosyllabic] पाये जाते हैं, ग्रार्थात् इन धातुग्रोंमें एक ही स्वर पाया जाता है। यह स्वर व्यञ्जनहीन हो सकता है, ग्राथवा इसके पूर्व तथा परमें एक या दो व्यञ्जन ध्वनियाँ भी पाई जा सकती हैं। इस प्रकार स्वरध्वनिके लिए V तथा व्यंजनध्वनिके लिए C चिह्नका प्रयोग करते हुए, इन संस्कृतके मूल धातु रूपोंको हम इन कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं:—

[१] V [यथा 'इ' [इण् गतो]]; [२] VC [आस् , आप्], [३] VCC [उच्]; [४] CV [ऋ]; [५] CCV [ऋ]] [६] CCVC [क्षर्], [७] CCVCC [सम्द], [८] CVCC [मन्द]।

भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत धातुत्र्योंको निम्न वर्गोंमें बाँटा जा सकता है।

- —- त्रर्-ऋ त्रंतवाले घातुः √ घ [-धर्], √ स्वर्
- —ग्रन् अंतवाले धातुः √क्षन् , √स्वन् , √खन् ,
- ग्रस्–स् ग्रंतवाले धातुः  $\sqrt{$  त्रस् ,  $\sqrt{$  अस् ,  $\sqrt{$  ध्वस् ,  $\sqrt{$  श्रुष् ,  $\left[\sqrt{$  श्रुष् ,  $\sqrt{$  वस् ,  $\sqrt{$  वस् ,  $\sqrt{$  वस् ,  $\sqrt{$  हास् ,
  - —श्रम् श्रंतवाले धातुः √द्रम्, √गम्, √क्षम्, √श्रम्,
- इ अंतवाले घातु: √ क्षि, √ क्षि, √ सि [√ सा मी है], √ शि,
  - —उ त्रांतवाले घातु : √्श्रु, √स्रु [बहना], √द्रु [दौड़नां]
- त्रा अंतवाले धातु; जो प्रा० मा० यू० में 'अ' + करटनालिक स्पर्श [laryngal] [a H/H] से संबद्ध है। √गा, √या, √प्सा,

[िनगल जाना], √द्रा [दौड़ना], √ज्या [√िज] [जीतना], √त्रा [रत्ता करना]

—त् अंतवाले धातु : √ कृत् [काटना], √ चित् [सोचना], √ म्रित् [टुकड़े होना], √ श्वित् [चमकना], √ धुत् [चमकना]

—थ् ग्रांतवाले धातु- √ प्रथ् [बढ़ना], √ ब्यथ् [कॉपना], √ स्तथ्

[बुसना], 🗸 श्रथ् [ढीला पड़ना], 🗸 प्रथ् [गूँथना]।

— द् श्रंतवाले धातुः √ क्षद् [बाँटना], √ छिद् [काटना], √ रुद् [रोना], √ मृद् [मसलना], √ पीड् [दवानाः ८ \*पिज्द्], √ स्यन्द् [बहना], √ कन्द्-√ कुन्द् [रोना, चिल्लाना]

— ध् अंतवाले धातुः 🗸 **मृध्** [ध्यान न देना], 🗸 ए<mark>ध्</mark> [बढ़ना],

√स्पृघ् [स्पर्धा करना], √श्चघ् [भूखा होना]

—प् अंतवाले धातुः √ दीप् [चमकना], √ म्लुप् [सूर्शास्त होना], √ रिप्-√ लिप् [लीपना], √ रूप्-√ लुप् [तोड़ना समाप्त करना], √ विप् [कॉपना], √ स्वप् [सोना]

—म् त्र्रंतवाले घातुः 🗸 शुभ् [चमकना], 🗸 स्तुभ् [स्तुति करना]

—च् त्र्रंतवाले धातुः √ म्लुच् [त्रास्त होना, दे० म्लुप्], √ याच् [माँगना], √ सिच् [सीचना]

ज् अंतवाले धातुः √ तर्जं [तर्जना देना, डराना], √ युज् [जोड़ना], √ रुज् [तोड़ना], √ विज् [कॉपना]

—ह् त्र्यंतवाले धातुः √ स्पृह् [इच्छा करना], √ द्रुह् [नुकसान करना, द्रोह करना]

डॉ॰ एलनने, प्राचीन भारत यूरोपीय घातुत्रोंके मूल रूपोंके विषयमें, जहाँ तक व्यक्षन ध्वनियोंका प्रश्न है, एक लेखमें प्रकाश डाला है। उनके मतानुसार इन घातुत्रों में प्रायः दो व्यक्षन  $[C_1C_2]$  पाये जाते थे, जिनमें तीसरे व्यक्षन  $[C_3]$  का भी कभी कभी समावेश हो जाता है। इसी घातु-

संघटनाके त्र्यन्तर्गत सदा एक ही 'स्वर' [V] होता है, जिसमें सन्ध्यात्मक [prosodic] तथा गुणात्मक [qualitative] परिवर्तन, विभिन्न रूपोमें पाये जाते हैं। ग्रतः व्यञ्जनयुक्त प्रा० भा० यू० धातुग्रांको डॉ० एलनने मौलिक दृष्टिसे दो तरहका माना है :— $C_1 V C_2 C_3$  तथा  $C_1 C_2 V C_3$ जहाँतक इन प्रा॰ भा॰ यू॰ धातुत्रोंमें प्राप्त 'स्' [s] तथा 'न्' [1] ध्वनियोंका प्रश्न है, वे इन्हें "ध्वनितस्व" [phonetic element] न मानकर "सन्ध्यात्मक तत्त्व" [prosodic element] मानते हैं। इन थातुत्रोंमें जहाँ भी कहीं कएठनालिक ''लेरिंजियल'' ध्वनि [\*२] का प्रयोग पाया नाता है, वहाँ उसे ध्वनितत्त्व ही मानना होगा। इस प्रकार वे प्रा॰ मा॰ यू॰ घातुत्र्योंके वास्तविक व्यंजन तत्त्व  $\mathrm{C_{1}C_{2}}$  ही मानते  $\overline{\mathsf{t}}$ , जहाँ  $\mathrm{C}_3$  के होनेकी भी संभावना है, जो कभी स्पष्ट रूपमें ख्रौर कभी सूत्य रूपमें पाया जाता है। इस प्रकार प्रा० मा० यू० धातुर्क्षोंके मूल रूपोंको वे सेमेटिक धातुत्र्योंके मूल रूपोंकी माँति मानते जान पड़ते हैं, जहाँ केवल तीन व्यञ्जन ही प्रमुख तत्त्व हैं, तथा उन्हींमें 'स्वर' तत्त्व जोड़कर विभिन्त पदोंकी सृष्टि होती है, उदाहरणके लिए प्रमुख सेमेटिक भाषा अरबीसे 'क़्त्ब्' [पढ़ना], क्त्ल् [मारना] इन दो धातुत्र्योंको लीजिये, इन्हींसे क़िताब, क़ुतुब, मक़तब, क़ातिब, यक्तुबु [मैंने पढ़ा], तथा कत्ल, क़ाति<mark>लं,</mark> यन्तुलु [मैंने मारा] स्रादि रूप वनते हैं।

प्रा० मा० यू० धातुश्रोंके मूल रूपोंका विचार कर लेनेके बाद श्रव हम उन प्रमुख विशेषताश्रोंको श्रोर श्रायँगे, जो संस्कृतके क्रियारूपोंमें पाई जाती है। संस्कृतके क्रिया रूपोंमें इन प्रमुख विशेषताश्रोंमेंसे एक दित्वकी विशेषता है, जहाँ धातुका दित्व रूप पाया जाता है। यह दित्व वैसे तो परोच्चभूत, सन्मन्त, यथा यङ् लुङन्तमें प्रायः सभी धातुश्रोंमें पाया जाता है, किन्तु कुछ धातुश्रोंके लट् तथा लुङ् श्रादिमें भी यह धातुका दित्व पाया

<sup>3.</sup> Dr. Allen: Indo-European primary Affix B[h]. P. 3. Transections of Philological society of G. B. 1950.

जाता है। उदाहर एके लिए संस्कृतके अभाव [√ भा] तथा अस्थाव [√ स्था] को ले लीजिये, जो दोनों लुङ्के रूप हैं। यहाँ दोनों द्वित्वविहीन रूप हैं। किन्तु वर्तमाने लट्में स्था को तिष्ठ आदेश होकर तिष्ठति रूप यनता है, जिसका काल्पनिक पूर्व रूप \*स्तिष्ठति माना जा सकता है, जहाँ स्पष्ट ही धातुका दित्व पाया जाता है। गा, दा, धा, पा [पिबति], धा आदि वे धातु हैं, जिनके कई लकारों के रूपों में दित्व पाया जाता है। ठीक यही वात ग्रीकमें पाई जाती है । उदाहर एके लिए संस्कृत दा तथा स्था धातु ग्रों के समानान्तर ग्रीक धातु ग्रों के इन रूपों को लीजिये—दिदोमि [didomi] [सं० ददामि], हिस्तेमि [histemi] [सं० तिष्ठामि], जहाँ धातुका दित्व रूप स्पष्ट है। यह दित्व दोनों ही भाषा ग्रों के परो च्यू ते लिट् [perfect] में नियत रूपसे पाया जाता है, यथा,

सं०	जजान	ग्रीक	गंगान	[gegona]
	दिदेश		देदइख	[dedeikha]
	रिरेच	33	बलाइप	[leloipa]
	बुभोज	37	पफउग	[pepheuga]

संस्कृतके सन्नन्त तथा यङ् लुङन्त रूपोंमें भी धातुका द्वित्व पाया जाता है, जो पिपाठेषति, ब्रभुक्ते, जिगमिषति, चिकीषति, वेविज्यते [ 

ि विज् से यङ् लुङम्त ], नेनीयते, मर्मृज्यते, चोश्लूयते त्रादि रूपोंसे स्पष्ट है। इस सम्बन्धमें संस्कृत धातुके द्वित्वके कुछ साधारण नियमोंका उल्लेख कर देना त्रावश्यक होगा।

<sup>9.</sup> ध्यान देने की बात है कि रचार्थक 'पा' धातुमें द्वित्व नहीं होता, वहाँ लट् के रूप 'पाति' श्रादि बनते हैं, पानार्थक 'पा' धातुमें द्वित्व होता है।

R. King and Cockson. Comparative Grammar of Greek and Latin. p. 136.

[१] घातुके केवल प्रथम अन्तरका ही द्वित्व होता है,  $\sqrt{ बुध्-बुबोध, }$   $\sqrt{ पट्-पपाठ ।}$ 

[२] घातुके प्रथम ध्वनिके महाप्राण होनेपर द्वित्व रूपमें प्रथम ध्वनि की प्राणता [aspiration] लुत हो जाती है, ग्रर्थात् वह ग्रल्पप्राण हो जाती है, यथा, √ भी-विभीते; √ धा-दधाति ।

[३] धातुके प्रथम ध्वनिके करुड्य [velar] होनेपर द्वित्व रूपमें प्रथम ध्वनि तालव्य पाई जाती है, यथा, 

[\*धन्]—जधान, 

खन्—चखान, 

कृ—चकार । इस ध्वनि परिवर्तनका कारण यह है कि प्रा॰ भा॰ यू॰ में इन द्वित्व रूपों में प्रथम अच्चरमें प्रथम अच्चरमें प्रयम् विक्षित हुई हैं, इसे हम चतुर्थ परिच्छेदमें देख चुके हैं । उदाहत हन् धातुकी इध्वनि भी वस्तुतः भाषावैज्ञानिक दृष्टि से घ है ।

[४] यदि धातुके त्रारंभमें दो व्यञ्जन ध्वनियाँ पाई जाती हैं, तो प्रथम ध्वनिका ही द्वित्व होता है, यथा √ क्रम्-चकाम ।

[५] यदि धातुके आरंभकी दो व्यञ्जनस्विनयों में प्रथम स्विन स है, तथा दितीय स्विन स्पर्श [अनुनासिक-भिन्न स्पर्श स्विन] है, तो दित्व उस स्पर्श-स्विनका ही होगा; यथा √ स्था-तस्थौ, √ स्कन्द्-चस्कन्द। किंतु यदि दितीय स्विन अनुनासिक [न, म] या अन्तःस्थ है, तो स का ही दित्व होगा, यथा √ स्वज्-सस्वजे, √ सिम-सिस्मिये।

[६] धातुका मूल स्वर द्वित्व होनेपर द्वित्वरूपमें [प्रथमाद्तरमें ] हस्व हो जाता है, जैसे √ दा-ददाति; ददौ, √ राध्-रराध।

इस संबंधमें यह भी कह दिया जाय कि संस्कृतमें कुछ ऐसी भी घातुएँ हैं, जिनमें नियत रूपसे द्विल पाया जाता है। संस्कृतके वैयाकरणोंने इन्हें तीसरे गर्स [जुहोत्यादिगरा] में स्थान दिया है। वैसे हम स्रागे देखेंगे कि कुछ नियत द्वित्ववाले धातु श्रन्य गर्णोमें भी पाये जाते हैं; जैसे √ स्था [तिष्ठति], म्वादिगर्णी है, जुहोत्यादिगर्णी नहीं ।

डॉ॰ ग्रलबेंत थुम्बने ग्रपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हेन्दबुख देस संस्कृत' में प्रा॰ भा॰ यू॰ धातुग्रींको १४ वर्गोंको बाँटा है, जिन्हें हम संस्कृतके दस ग्र्णोंमें समाहृत रूपमें देखते हैं। ये चौदह वर्ग निम्न हैं:—

- [१] प्रथम वर्गः इस वर्ग में शुद्ध घातुके साथ तिङ्ग्रत्यय जोड़ा जाता है । यह संस्कृतका अदादि गण है । अस्ति, स्मः, ग्रीक, एस्ति, हैतिन एस्त, सु-मुस, प्रा० भा० यू० \*एस्ति, \*स्मस्; सं० स्तौमि, स्तुमः
- [२] द्वितीय वर्गः—इस वर्गमें शुद्ध धातुके साथ 'श्र' [विकरण]
  [प्रा॰ भा॰ यू॰ \*ए] का प्रयोग पाया जाता है, तथा धातुका श्रपश्रुतिजनित रूप पाया जाता है। ग्रीकमें यह कभी ए तथा कभी श्रा मिलता है।
  भरामि, भरति, भरंति, श्रीक फरो, फरोउसि, छै॰ फरा, फरुंत,
  प्रा॰ भा॰ यू॰ \*भरो, \*भरति, भरान्ति; सं॰ बोधित [√ बुध्], श्रजिति
  [√ श्रज्].
- [३] तृतीय वर्गः—इस वर्गमें धातुका दित्व पाया जाता है। यह संस्कृतका जुहोत्यादि गण हैः—पिपिमं, पिपृमः, ग्रीक पिष्ठमन् [हम भरते हैं], प्रा० भा० यू० \*पिपिक्स, \*पिप्लृमोस्, सं० जुहोमि, जुहुमः, ददािम, दद्यः, ग्रीक दिदािम, दिदामन्, प्रा० भा० यू० \*दिदािम दिदािमो, \*दिद्मोस् [ददािम],
- [४] चतुर्थ वर्गः—इस वर्गमें धातुका द्वित्व तथा थिमेटिक 'श्र' [विकरण] [प्रा० भा० यू० \*ए] भी पाया जाता है:—तिष्ठामि, श्रवे० हिस्तइति, छै० सिस्तित्; सं० शश्चति; [प्रा० भा० यू० \*संस्ववित]
  - [४] पंचम वर्गः—इस वर्गमें प्रा॰ मा॰ यू॰ क्रियाओंमें [१]

\*ना-न्अ-न् विकरण द्राथवा [२] \*ना-ने विकरण पाया जाता है। प्रथम कोटिमें द्राश्नामि, श्रश्नीमः, अश्निन्त, कीरणिमः, कीर्णिमः, कीर्णिन्त रूपोंका समावेश होता है; द्वितीय कोटिमें संस्कृतके धातु नहीं पाये जाते, क्योंकि यहाँ द्राकार वे सभी प्रथम कोटिमें मिल गये हैं प्रीकर्में ऐसे रूपोंका द्रास्तित्व है। शुम्बने इसके द्रावशेष दो तीन संस्कृत क्रियाओंमें संकृत किये हैं:—मिनिति [वैदिक रूप], घूर्णिते, ऋषणते, किन्तु इनमें भी द्रान्तिम रूप तो नामधातुका है, जो 'कृषणवत् श्राचरित' से बना है।

[६] षष्ठ वर्गः—इस वर्गमें भी दो कोटियाँ मानी गई हैं:—[१] प्रथम कोटिमें \*नव् [नु] विकरण माना गया है, इसके ग्रपश्रुतिजनित \*न्व तथा \*नुव रूप भी होते हैं:—स्तृणोमि, स्तृणुमः, ग्रीक स्तार्नुमन् , प्रा॰ भा॰ यू॰ \*स्तृनव्मि, \*स्तृनुमास्।[२] द्वितीय कोटिमें 'नु' विकरणके साथ थिमेटिक 'त्रा' का भी प्रयोग पाया जाता है; चिन्वति, ग्रीक [होमर] सीनो [(\*तिन्वो], प्रा॰ भा॰ यू॰ \*विवन्वति।

[७] सप्तम वर्गः—इसमें भी दो कोटियाँ हैं:—[१] प्रथम कोटिमें भने/नू [सं०न] विकरणका प्रयोग पाया जाता है:—छिनिश्च, छिंग्चः, भुनिज्म, भुन्त्यमः, [२] द्वितीय कोटिमें 'न' विकरण धातुके मध्यमें पाया जाता है तथा ऋ विकरण भी जोड़ा जाता है, विंदािम, खुम्पति।

[न] अष्टम वर्गः — इस वर्गमें धातुके साथ \*स् ग्रथवा अस् [es] या इस् विकरण तथा थिमेटिक 'ग्र' पाया जाता है। यह विकरण वस्तुतः सन्नन्त [इच्छार्थक] रूपोंमें पाया जाता है, पिपासित, जिजीविषािम।

[१] नवम वर्ग :—इस वर्गमें प्रा० मा० यू० धातुके साथ \*स्का विकरण पाया जाता था, जो सं० च्छ [छ], ग्रीक स्का, तथा छै० स्क्-के रूपमें विकसित हुन्ना है, गच्छामि [\*ग्व्मस्को [-स्लो]], पृच्छामि [\*ग्व्यस्को]।

[१०] दशम वर्गः— इस वर्गका प्रा० मा० यू० विकरण \*ता
था। सं० स्फुटति = \*स्फृतित, प्रा० मा० यू० \*√ स्प्छ [स्फ्ल]+
ता + ति [स्फ्छतोति]। यह विकरण लैतिनकी साचीपर माना गया है:—
है० द्व को; जो ग्रीकमें 'को' के रूपमें विकसित हुआ है, ग्रीक द्व को।

[११] एकादरा वर्गः - इस वर्गका विकरण \*धा-\*दा है, जिसका संस्कृतमें ध-द रूप मिलता है। सं॰ योधित; क्देंति; क्रोडित [\*क्रिज़-द-ति]।

[१२] द्वादश वर्गः -- इस वर्गका विकरण \*इआ -य [सं०-य-] है; सं० पश्यति, अवे० स्पस्यइति, लै० स्पक्तिआ, भ्रीक पस्सो-भा० भा० यू० \*पक्वो; सं० कुप्यामि, मन्यते, दाम्यति।

[१३] चयोदश धर्म:—इस वर्गमें धातुका द्वित्व तथा साथमें \*या-य विकरण पाया जाता है संस्कृतमें इस वर्गका कोई किया रूप नहीं मिलता। प्राकृत ग्रीक [वलार ग्रीक] में इसका एक रूप मिलता है:—ग्रीक तितइनो [tataino], प्रा॰ भा॰ यू॰ \*ति-ल्न्-यो। थुम्बने पाद-टिप्पणीमें पुच्छ्चते, वन्द्यते जैसे कर्मवाच्यरूपोंके 'य' विकरणका संबंध इससे जोड़ा है।

[१४] चतुर्दश वर्गः इस वर्ग में \*एया-\* एय [सं०ग्राय-] विकरण पाया जाता है। इसका सबंध संस्कृतके शिजंत रूपोंके 'य'
विकरण तथा [चुरादि गणके भी विकरण] से जोड़ा जा सकता है।
संस्कृत तर्षयामि, कै॰ तार या [torreo], प्रा॰ भा॰ तास या।

सं लोक्यामि, लै॰ रहकुत्री [luceo] प्रा॰ मा॰ यू॰ लाव्स्वयो सं रप्रह्यामि, प्राकृत [वल्गर] ग्रीक, स्पेलीमइ [sperkhomai] संस्कृतमें ये सभी वैयाकरणोंके दस गणों समाहित हो जाते हैं।
यहाँ इन विभिन्न गणोंपर थोड़ा विचार कर लिया जाय। हम बता
चुके हैं कि विकरणोंके ग्राधारपर संस्कृत वैयाकरणोंने धातुओं को दस
गणोंमें विभक्त कर दिया है:—१. भ्वादि गण, २. ग्रदादि गण, ३. जुहोत्यादि गण, ४. दिवादिगण, ५. स्वादिगण, ६. तुदादिगण, ७. रुधादिगण,
८. कवादिगण, १०. चुरादिगण। वैसे कई ऐसे भी धातु
हैं, जिनमें इनके ग्रांतिरक्त स्वतन्त्र विकरणोंका प्रयोग पाया जाता है,
किन्तु उनका समावेश इन्हींमेंसे किसी एकमें कर दिया गया है।

भ्वादिगण:—प्रथम गणके धातुर्श्रोका विकरण 'श्र' है इन धातुर्श्रोमें धात्वंशमें उदात्त स्वर पाया जाता है, तथा उसकी स्वर ध्वनिमें गुग् हो जाता है। इसे हम √ जि, √ भू, √ बुध् के जयित, भवति, बोधित रूपोंमें देख सकते हैं, जहाँ वस्तुतः जि + श्र + ति, भू + श्र + ति, बुध् + अ + ति का विकास है। यह 'अ' विकरण श्रीकर्में भी पाया जाता है, किन्तु वहाँ यह कभी ए होता है; कभी आ, यथा, ग्रीक फरत [pherete] [सं॰ भरत], फरामन् [phero-men] [सं॰ भरामः]। इस तथ्यसे यह स्पष्ट है कि प्रा॰ भा॰ यू॰ में यह विकरण कभी उं तथा कभी उंग्रा रहा होगा। संस्कृतमें त्राकर ये दोनों आ के रूपमें विकसित हुए हैं। इसी संबंधमें भ्वादिगगुके दो धातु 🗸 यम तथा 🗸 गम का उल्लेख कर दिया जाय, जिनके वर्तमाने लट्में यच्छति तथा गच्छति रूप पाये जाते हैं। इन्हींके आधारपर प्रा॰ भा॰ यू॰ में एक विकरण \*स्ख [\*skh] की की कल्पना की जाती है। इन धातुत्र्योंके लुङ् [ aorist ] तथा लुङ् तिङ् चिह्नोंके स्राधारपर बने लकारोंमें यह विकरण नहीं पाया जाता, यथा स्रगमत्, गम्यात्, जगाम में। संस्कृत में यह \*स्ख विकसित होकर छ [च्छ] हो गया है, जो √यम, √गम, √प्रश् के यच्छ्रति, गच्छ्रति, प्र<del>च्छ्रति</del> जैसे रूपोंमें पाया जाता है। चूँिक यह विकरण संस्कृतके बहुत कम धातुत्रोंमें

पाया जाता है, श्रतः इसके श्राधारपर कोई श्रलगसे गण नहीं माना जाता, तथा इन्हें प्रथम या षष्ट गणके श्रंतर्गत ही समाविष्ट कर दिया गया है। गम् तथा यम् भ्वादिगणी धातु हैं, तो प्रश् तुदादिगणी धातु। श्रीक श्रादि माषाश्रोंमें भी इस \*स्व विकरणके चिह्न मिलते हैं। श्रीकमें यह स्क के रूपमें विकसित हुश्रा है। संस्कृत गच्छामि के समानान्तर रूप बस्को [basko] में यह विकरण स्पष्टतः परिलद्धित होता है।

संस्कृतमें भ्वादिगणी धातु सबसे ऋधिक पाये जाते हैं। प्रायः संस्कृत धातुश्रोंमें श्राधे भ्वादिगणी हैं। प्राकृत तथा ऋपभ्रंश कालमें भी यही गण धातुश्रोंमें प्रधान रहा है तथा शेष गण वहाँ लुप्त हो गये हैं। प्रा॰ भा॰ यू॰ भाषाश्रोंमें भ्वादिगणीमें थिमेटिक 'श्र' [विकरण] का प्रयोग पाया जाता है, जो प्रातिपदिक [nominal stems] में भी पाया जाता है। इसके समानान्तर कतिपय उदाहरण निम्न हैं:—

ग्रीक प्लवो [plewo] सं प्लवते, प्रवते [तैरता है], [मैं तैरता हूँ] हएइ [rheei] बहता है], ,, स्रवति [शब्द करता है], लैतिन » स्नवति सोनित् [sonit] [गर्जता है], ग्रीक स्तनइ [stenei] , स्तनित पडफामइ [peuphomai] [समकता है], ग्रीक ,, बोधति हप इ [herpei], लै॰ सपित [रेंगता है], ,, ,, सर्पति serpit [कॉंपता है, डरता है], ग्रीक त्रओ [treo] [मैं डरता हूँ] ,, त्रसति पंतामइ [petomai] ,, पति [गिरता है], 31 [हवन करता है], श्रवेस्ता ज़वहति [zavaiti], 17 हवते प्रा॰ स्ला॰ ज़ोवेतु [zovetu]

<sup>1.</sup> Atkinson: Greek Language p. 47.

हम देख चुके हैं कि इस गणमें धात्वंशपर उदात्त स्वर तथा धात्वंशके स्वरका गुण पाया जाता है, किंतु कभी-कभी कुछ धातुत्रोंमें वृद्धि भी होती है, जैसे बाधते, आजते, धावित, कामित [इसके ग्रात्मनेपदीरूप कमते हैं], आचामित में । इस गणके धातुत्रोंको पुनः चार वर्गोंमें बाँटा गया है:─ [१] अनुनासिक तत्त्व वाले धातु जैसे, 'निन्दित' [√ निंदृ]; [२]—व प्रत्यय वाले धातु, जैसे 'जीवित' तूर्वति; [३] च्छ विकरण वाले धातु गच्छित, यच्छित; [४] धातुके द्वित्यरूप वाले जैसे, तिष्टति [√ स्था], पिबति [√ पा], जिन्नति [√ मा]।

भ्वादिगणी धातुके रूपोंके निदर्शनके लिए हम 🗸 भू [होना] धातुके परस्मैपदी तथा ब्रात्मनेपदीके मुख्य तथा गौण तिङ् चिह्नोंवाले रूप दे रहे हैं:—

### परस्मैपदी, कर्नु वाच्य, वर्तमाने लट्:--

	प्रथम पु०	भवति	भवतः	भवन्ति
	मध्यम पु॰	भवसि	<b>भवथः</b>	भवथ
	उत्तम पु॰	भवामि	भवावः	भवामः
<b>ऋात्मनेपदी</b>	प्र० पु०	भवते	भवेते	भवन्ते
	म॰ पु॰	भवसे	भवेथे	भवध्वे
	ड॰ पु॰	भवे	भवावहे	भवामहे

### परस्मैपदी, कर्तु वाच्य, ग्रानद्यतनभूते लङ् [Imperfect]

	प्र॰ पु॰	अभवत् ्	श्रभवताम्	अभवन्
	म॰ पु॰	श्रभवः	अभवतम्	अभवत
	उ० पु०	श्रभवम्	अभवाव	श्रभवाम
<b>ऋात्मनेपदी</b>	प्र० पु०	ग्रभवत	अभवेताम्	अभवन्त
	म॰ पु॰	अभवथाः	अभवेथा <b>म्</b>	अभवध्वम्
	उ० पु०	अभवे	श्रभवावहि	अभवामहि

अदादि गणः — इस गण् के घातुश्रों में कोई विकरण नहीं पाया जाता, घातुके साथ ही तिङ् चिह्नांका प्रयोग पाया जाता है। संस्कृतमें लगभग १३० घातु इस गण्में पाये जाते हैं। श्रन्य मा० यू० माषाश्रों में ये श्रविकरण घातु प्रायः लुत हो गये हैं, तथा इनके स्थानपर सविकरण [थिमेटिक] रूप पाये जाते हैं। वैसे श्रविकरण घातुश्रोंके कुछ श्रवशेष श्रन्य मा० यू० माषाश्रोंमें छुटपुट मिलते श्रवश्य हैं। जैसे, सं० अस्ति, ग्रीक एस्ति, लै० इस्त ; सं० एमि, इमः, ग्रीक एइमि, [मैं जाता हूँ] इमन् [हम जाते हैं]; लिथु० एइमि; सं० श्राच्च, लै० इस्त , रूसी जस्त्य [jest'] [वह खाता है], सं० आसते, ग्रीक हेस्तइ [hestai] [वह वैठता है], सं० थेते, ग्रीक कइतह [वह सोता है]। इस प्रकारके श्रविकरण घातुश्रोंकी स्थिति हित्ताइत भाषामें स्पष्टतः देखी जाती है, जैसे सं० हन्ति, घनन्ति, हित्ताइत कुएब्ज़ि [kuenzi] [वह मारता है], कुनब्ज़ि [kunanzi] वि मारते हैं]; सं० विष्ट [√वस्], हित्ताइत वेक्ज़ि [wekzi] [वह चाहता है], सं० शस्ति [√शस्], हित्ताइत शाश्ज़ि [वह सोता है]।

इस गणके धातुत्रों में परस्मैपदी रूपों में धातुपर उदात्त स्वर पाया जाता है, तथा स्वरका गुण भी होता है, त्रात्मनेपदी रूपों में यह नहीं होता, वहाँ धातुका दुर्वल या मूल रूप [weak form] ही पाया जाता है तथा उदात्त स्वर तिङ् चिह्न पर पाया जाता है। हन्ति, चन्ति, विश्म, श्रस्म, समः; किंतु श्रास्ते, द्विष्टे, शेते, श्रासते, द्विषते, शेरते।

इस गण्के उन धातुश्रोंमें जिनमें श्रारंभमें व्यञ्जन ध्विन तथा बादमें 'उ' स्वर पाया जाता है, गुण्के स्थानपर दृद्धि होती है:— स्तौति [√स्तु], बौति [√शु]। वैसे कुछ अन्य धातुश्रोंमें भी दृद्धि होती है, जैसे मार्ष्टि [√स्ज्], प० पु० व० व० रूप सृजन्ति।

इस गर्णमें विकरणका प्रयोग न होनेके कारण तिङ् चिह्नोंके साथ धालंशकी संधि होनेसे नये ढंगके रूप देखनेमें आते हैं, जो ध्वनिसंबंधी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं। इसके कतिपय उदाहरण ये हैं:—√ दुह्ः दोह्ं+सि=धोचि, दोह्ं+ति=दोग्धि,√ लिह्ः लेहंं+ति= लेढि, √ शास्ः शास्+धि=शाढि।

इस गरामें कतिपय धातु ऐसे भी हैं, जो मूलतः श्रविकरण धातु नहीं थे, यथा √ त्रा [रत्ता करना], √ शास् [शासन करना], √ वस् [वस्र धारण करना]। ये घातु स्वर प्रिक्रयाकी दृष्टिसे ग्रपवाद रूप [इर्रेग्यूलर] हैं। कई द्वित्य रूपवाले घातु भी इस गण्में संग्रहीत हो गये हैं, जैसे √ वस् [खाना] [वस्ति, वसति, वस्त] [जो वस्तुतः एक विकृत [defective] थातु है],  $\sqrt{ जच् [निगलना, खाना [जित्तिति, जित्ति, जाय]$ [यह भी विकृत धातु है]। इस गर्णमें कितिपय धातु ऐसे हैं, जिनमें धातुके साथ 'इ' ग्रन्तःप्रत्यय या विकरणका प्रयोग पाया जाता है, जैसे  $\sqrt$  रुद् [ रोदिति ],  $\sqrt{}$  स्वप् [ स्विपिति ],  $\sqrt{}$  अन् [ साँस लेना ] [ अनिति ], 🗸 रवस् [श्वसिति], 🗸 जच् [जिचिति]। कुछ ऐसे भी धातु हैं, जिनमें वैदिक रूप 'इ' ग्रम्तः प्रत्ययवाले मिलते हैं, किंतु लौकिक रूपोंमें 'इ' का प्रयोग नहीं मिलता। विमित्ति [लौ॰ सं॰ वमित], जनिष्व [लौ॰ सं॰ जनस्व], विशाष्त्र, स्तनिहि, स्तथिहि; महाभारतमें शोचिमि रूप मिलता है। 'इ' के त्र्यतिरिक्त इस गएमें 'ई' विकरण भी पाया जाता है, <mark>जो केवल √ ब्र</mark> धातुमें पाया जाता है; पर यहाँ भी यह केवल सवल रूपोंमें ही होता है, दुर्बल रूपोंमें इसका 'बव्-' रूप ही मिलता है, यथा व्रवीति, अव्रवीत् [सवल रूप], अव्रवम्, बुवन्ति [दुर्वल रूप]। इस धातुके समानान्तर श्रवेस्ता धातु √ म्रव् के रूपोंमें यह 'ई' श्रन्तःप्रत्यय नहीं पाया जाता, अवस्ता मुख्रोइते [mraoite] [वह बोलता है], मुख्रोत् [mraot] [वह बोले] [ग्राज्ञा रूप] । वैसे इस ग्रन्तःप्रत्ययके चिह्न ग्रन्य यूरोपीय भाषात्रोंमें मिलते हैं:-लै॰ अउदीरे [ sudire ] प्रा॰ स्लावोनिक सुपितु [supitu] [ वह सोता है ], म्लुवितु [ mluvitu ] [बड्बड़ाता है] । हस्व 'द' श्रतः प्रत्यवनी भाँति यह प्रत्यय भी लौकिन संस्कृतमें प्रायः लुप्त हो गया है—केवल  $\sqrt{3}$  घातुमें ही इसका प्रयोग पाया जाता है। वैदिक संस्कृतमें कुछ छुटपुट निदर्शन देखे जा सकते हैं:—अमीति  $[\sqrt{3}]$  अम् 'हानि पहुँचाना'], तवीति  $[\sqrt{3}]$  अमीज्य  $[\sqrt{3}]$  शम् 'परिश्रम करना']।

अदादि गराके रूपोंके लिए निम्न निदर्शन देना पर्याप्त होगा:-धातु

<mark>√ द्विष्</mark> [द्वेष करना] ।

कर्तृवाच्य, परस्मैपदी' वर्तमाने लट्

प्रव पुरु ह्रेष्टि, ह्रिष्टः, ह्रिषन्ति, मरु पुरु हेस्ति, ह्रिष्टः, ह्रिष्टः, उरु पुरु हेस्ति, ह्रिस्टः, ह्

म्रात्मनेपदी, वर्तमाने लट् :--प्र० पु० द्विष्टे, द्विषाते, द्विषते; म० पु०

द्विचे, द्विषाथे, द्विड्ढ्वे; उ० पु० द्विषे, द्विप्वहे, द्विप्महे।

परस्मैपदी, अनद्यतनभृते लङ्:-प्र० पु० अहेर्, अहिष्टाम, अहिपन्, म० पु० अहेर्, अहिष्टम्, अहिष्टः, उ० पु० अहेपम्, अहिष्व, अहिष्म।

ग्रात्मनेपदी, ग्रानद्यतनभृतेलङ्ः—प्र० पु० अद्विष्ट, अद्विषाताम, ग्राहिषतः, म० पु० अद्विष्टाः, अद्विषाथाम्, श्रद्धिड्ट्वमः, उ० पु० अद्विषि, श्रद्धिष्वहि, श्रद्धिषमिहि ।

जुहोत्यादिगणः—इस गणमें लगभग ५० धातु पाये जाते हैं, जिनमेंसे लौकिक संस्कृतमें केवल १६ ही धातु इस गणके रूपोंका निर्वाह करते देखे जाते हैं। इस गणकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ धातुका दित्व हो जाता है। ग्रोक भाषामें भी ऐसे द्वित्व रूपवाले धातु पाये जाते हैं:—ग्रीक, पि [म] प्लेमि, [मैं पूर्ण करता हूँ, मैं भरता हूँ], [सं० पिपिमी], ग्रीक, पि [म] फ़मन् [हम भरते हैं] [सं० पिप्रमः], ग्रीक एइस्पिफनइ [धारण करना, परिचय देना] [सं० बिभिमी, बिम्हमः], ग्रीक दिदोमि. [मैं देता हूँ] [सं० ददामि], ग्रीक तिथिमि [धारण करता हूँ] [सं० दधामि], ग्रीक हिस्तेमि [उहरता हूँ] [सं० तिष्ठामि] [संस्कृतमें √ स्था धातु म्वादिगणी हैं]। ग्रान्य भा० ग्रूरोपीय भाषाग्रोमें ये रूप प्रायः जुत हो गये हैं।

धातुके द्वित्वरूपमें; जिन धातुओं में मूलतः इ या उ स्वर ध्विन पाई जाती है; ठीक वही ध्विन रहती है; चिकेति [ $\sqrt{$ की], जिहेति [ $\sqrt{$ ही], विवेष्टि [ $\sqrt{$ िवश् ], विभेति [ $\sqrt{$  मी], युयोक्ति [ $\sqrt{$  युज् ]। अन्य धातुओं में द्वित्वरूपकी प्रथम स्वर ध्विन या तो इ या अ पाई जाती है:— [१] जिन्नति [ $\sqrt{$  न्ना], पिपिति [ $\sqrt{$  प्र], बिभिति [ $\sqrt{$  स्र], जिगाति [ $\sqrt{$  गा जाना], मिमाति [ $\sqrt{}$  मा बैलकी तरह शब्द करना], शिशाति [ $\sqrt{}$  शा शस्त्रको तेज करना] सिपित्ति [ $\sqrt{}$  सक् ] [२] ददाति [ $\sqrt{}$  दा], दधाति [ $\sqrt{}$  धा], जहाति [ $\sqrt{}$  हा], बभित्त [ $\sqrt{}$  भस् खाना], वविते [ $\sqrt{}$  हो], ससिस्त [ $\sqrt{}$  सस् सोना]।

इस गणके धातु रूपोंमें उदात्त स्वरका कोई निश्चित स्थान नहीं है।
यह कभी तो धातुके सवल रूपोंमें धात्वंशपर पाया जाता है; जुहोति, जो
धातुके गुणवाले अपश्चित जिनत रूपमें पाया जाता है, अथवा यह कुछ
धातुओं में दित्वरूपपर भी पाया जाता है, जहाँ यह सदा प्रथमान्त्रपर होता
है; दधाति। वैदिक संस्कृतमें प्रायः उदात्त स्वर इनके प्रथमान्त्रर पर ही पाया
जाता है, जब कि परवर्ती संस्कृतमें यह वास्तविक धात्वंशपर पाया जाता है;—
बिभितिं [वैदिक रूप], बिभितिं [लोकिक रूप]। श्रीकमें उदात्त स्वर दित्वरूप
या प्रथमान्तरपर ही होता है; दिदोमि [didomi]। विद्वानोंने यह अनुमान
किया है कि मूलतः इस गराके धातुओंमें कर्तृ वाच्य [परस्मैपदी] रूपोंके
तीनों पुरुषोंके ए० व० में उदात्त स्वर धात्वंशपर ही पाया जाता था, तथा
इसके ब० व० रूपोंमें धातुके दुर्वल रूप होनेके कारण यह उदात्त स्वर

धातुके द्वित्व रूपोंमें; उन धातुत्रोंमें जहाँ यु या व् ध्वनि पाई जाती है, इनका सम्प्रसारण हो जाता है:—√ न्यच् [विविक्तः], √ ह्वर्

द्वित्व स्रंशवाले प्रथमाच्चरपर रहता थाः ददति, सरचति।

<sup>7.</sup> T. Burrow: Sanskrit Language P. 322.

जिहूथां:]; तथा √ सच् [सरचित] श्रौर √ भस् [बप्सित] धातुमें एक स्राच्यक्त लोप हो जाता है। 'आ' स्वरध्वितवाले धातुश्रोंके रूप अनेक तरहसे चलते हैं। इनमें साधारण कोटिके धातु √ दा तथा √ धा हैं, जिनके दुर्वलरूपमें स्वरध्वित लुप्त हो जाती है: — दहः, दशः, दधः, दधः। स्राच्य प्रकारके श्रा स्वरध्वितवाले धातुश्रोंमें धातु तथा तिङ् चिह्नके बीच इ या ई जोड़ दिया जाता है। जिह्नमः, जिहिहि [√ हा]; शिशीहि [√ शा], मिमीते [√ मा], ररीथा: [√ रा 'देना']।

इस गण्के रूपोंका संकेत √धा [धारण करना] धातुके निम्न रूपोंसे किया जा सकता है।

परस्मैपदी कर्तृवाच्य वर्तमाने लट्:—प्र० पु० दधाति, धत्तः, दधति, म० पु० दधासि, धत्थः, धत्थः, उ० पु० दधामि, दध्वः, दध्मः।

आत्मनेपदी, वर्तमाने लट्:—प्र॰ पु॰ धत्ते, दधाते, दधते; म॰ पु॰ धत्से, दधाथे, धद्ध्वे; उ॰ पु॰ दधे, दध्वहे, दध्महे।

परस्मैपदी कर्तृवाच्य, अनद्यतमभूते लङ्ः—प्र० पु० श्रद्धात्, श्रधत्ताम्, श्रद्धः, म० पु० भद्धाः, अधत्तम्, श्रद्धः, उ० पु० श्रद्धाम्, श्रद्धः, अद्धम ।

आत्मनेपदी, अनद्यतनभूते लङ्ः— प्र० पु० अधत्त, श्रद्धाः ताम, श्रद्धतः म० पु० अधत्थाः, श्रद्धाथाम, अधध्वमः, उ० पु० श्रद्धि, अद्ध्वहि, अद्ध्महि।

दिवादिगण: — संस्कृतमें चतुर्थ या दिवादि गणके धातुश्रोंकी संख्या लगभग १३० है। इस गणके धातुश्रोंमें य विकरणका प्रयोग पाया जाता है। यह य विकरण नामधातुश्रोंमें भी प्रयुक्त होता है। कर्मवाच्य रूपोंमें भी य विकरणका प्रयोग पाया जाता है, किंतु दिवादिगणके श्रात्मनेपदी रूपों तथा कर्मवाच्य क्रिया रूपोंमें यह वैषम्य है कि यहाँ उदात्त स्वर धात्वंश पर पाया जाता है, जब कि कर्मवाच्य रूपोंमें उदात्त स्वर विकरण पर पाया

जाता है, यथा तप्यते [ग्रात्मनेपदी, दिवादिगरा]; प्रद्यते [भ्वादिगरा]
√ पठ् धातुका कर्मवाच्य रूप]। दिवांदिगराी धातुत्रोंके रूपोंका निदर्शन
यह है:— कुप्यति, नृत्यति, दीव्यति, तुष्यति, कुध्यति, युध्यति, विध्यति
[ √ व्यथ्], हष्यति, पश्यति, नहाति, तप्यते।

'य' विकरणवाले धाद्यरूपोंके समानान्तर रूप हित्ताइत तथा ग्रीकमें भी पाये जाते हैं:—हित्ताइत वेमिएज़्ज़ [wemiezzi] [हूँ दृता है] [सम्भवतः सं० विन्द्ति], ज़िह्एज़िज़ [zahhiezzi] [युद्ध करता है] [सं० युध्यित]; ग्रीक मइनेतइ [पागल होता है] [सं० मन्यते 'मानता है]। लैतिन में 'य' विकरणवाले थिमेटिक रूपोंके स्थानपर 'इ' वाले ग्राथिमेटिक रूप पाये जाते हैं:—कुपित्रो, कुपित [मैं कुपित होता हूँ, वह कुपित होता है], [सं० कुप्यति]

इस गणके कितपय धातुश्रोंमें धातुके मूलस्वरकी वृद्धि पाई जाती है:— माद्यति, [√ मद्] श्राम्यति [√ श्रम्] । कुछ, ऐसे भी आ व्यनिवाले धातु है, जिन्हें वैयाकरणोंने गलतीसे म्यादिगणी मान लिया है, जैसे गायति [√ गा], ग्लायति [√ ग्ला], त्रायति [√ त्रा], ध्यायति [√ ध्या] । भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे ये धातु वस्तुतः दिवादिगणके ही माने जाने चाहिये, जहाँ य विकरण पाया जाता है, किन्तु संस्कृत वैयाकरणोंने इनमें आ स्वर-ध्यिन न मानकर ऐ स्वरध्यिन मानी है तथा इनके धातु रूप क्रमशः √ गै, √ ग्लै, √ त्रै, √ ध्यै माने हैं। वि

<sup>9.</sup> T. Burrow: Sanskrit Language p. 330.

२. देखिये:—ग्लै-म्लै हर्षचये ।...ग्लायति [सिद्धांतकौमुदी उत्तरार्धं ७·२·७३. ए० १८२]; गै शब्दे । गेयात् [दे० वही ए० १८४], ध्यै चिन्तायाम् [वही ए० १८३], त्रैङ्पालने त्रायते [वही ए० १६७]। सिद्धांतकौमुदीमें ये सभी धातु भ्वादिगणके ही प्रकरणमें निर्दिष्ट हुए हैं।

इस गर्णमें कितपय स्था ध्विन वाले धातु ऐसे भी हैं, जिनमें उदात्त स्वर विकरणांशपर पाया जाता है, तथा धात्वंशकी स्वर ध्विनका लोप हो जाता है। द्यित [√दा], [बाँधता है] इवित [√दा], [काटता है] स्वित [√सा], [बाँधता है] श्वित [√शा] [शस्त्र तेज करता है]। इस संबंध में भी यह संकेत कर देना आवश्यक होगा कि यहाँ भी वैयाकरणोंने इन धातुओंका मूलस्वर आ न मानकर ओ माना है:—√दो [अवखण्डने], हो [होदने], √शो [तन्करणे], √षो [√सो] [समापने]। वैसे संस्कृत वैयाकरणोंने इन्हें दिवादिगणमें ही माना है! इनके क्योंका उदाहरण निम्न है:—

प० वर्तमाने लट् :—प्र० पु० दोन्यति, दीन्यतः, दीन्यन्ति, म० पु० दीन्यसि, दीन्यथः, दीन्यथः, उ० पु० दीन्यामि, दीन्यावः, दीन्यामः।
[

दिवः 'जुद्रा खेलना']

श्रा॰ वर्तमाने लट्:—प्र॰ पु॰ दीप्यते, दीप्यते, दीप्यन्ते, म॰ पु॰ दीप्यसे, दीप्यथे, दीप्यध्वे, उ० पु॰ दीप्ये, दीप्यावहे, दीप्यामहे, ।
[√ दीप: चमकना]।

परस्मै लङ्ः — प्र० पु० श्रदीव्यत्, श्रदीव्यताम्, अदीव्यन्, म० पु० अदीव्यः, अदीव्यतम्, अदीव्यत्, उ० पु० श्रदीव्यम्, अदीव्याव, अदीव्याम ।

त्रा० लङ्ः — प्र० पु० अदीप्यत, अदीप्येतां, अदीप्यन्त म० पु० अदीप्यथाः, अदीप्यथाम्, अदीप्यध्वम् उ० पु० अदीप्ये, ऋदीप्याविह, श्रदीप्याविह ।

इसके पूर्व कि हम पंचम गएा [स्वादि गएा] को लें, सुविधाकी दृष्टिसे हम षष्ट तथा दशम गएोंको पहले निवटा देना ठीक समर्सेगे, क्योंकि ये गएा भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे इतने जटिल नहीं हैं।

षष्टगण, तुदादिगणः - इस गणके धातुरूप प्रायः भ्वादिगणके थातु रूपोंकी तरह ही चलते हैं। संस्कृतमें इस गणके धातु बहुत हैं, जिनकी संख्या लगभग १५० हैं। इसके उदाहरण ये हैं:— रुजाते, विशति, तुदति, किरति, स्जति, लिखति, सुवति, स्प्रशति, मृषति, पृच्छति, दिशति । त्र्रन्य मारोपीय भाषात्र्योंमें इस ढंगके धातु प्रायः नहीं पाये जाते । इस गणके कई धातुत्रोंमें धात्वंशमें त्रानुनासिक तत्त्वका प्रयोग पाया जाता है, जैसे सिञ्चति [ $\sqrt$  सिच्], मुञ्जति [ $\sqrt$  मुच्]; विन्दति  $\sqrt{\left[\sqrt{\alpha_{\rm q}}\right]}$ , क़न्तित  $\sqrt{\alpha_{\rm q}}$ , ज़्मिति  $\sqrt{\alpha_{\rm q}}$ , जिम्पिति भी पाया जाता है, जिसका संकेत हम पहले दे चुके हैं—इच्छिति [  $\sqrt{\,$  हण् $\,$ ], उच्छति  $[\sqrt{ वश् 'चमकना'}]$ , ऋच्छति  $[\sqrt{ ऋ 'जाना'}]$ । पृच्छिति [ 🗸 प्रश् ] में यह विकरण धातुका ही अंग वन गया है, जो लिट्के रूप पप्रच्छ से स्पष्ट है, तथा इस तरह संस्कृत वैयाकरणोंने इस धातुका मूल रूप ही  $\sqrt{$  प्रच्छू मान लिया है, यद्यपि भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे यह  $\sqrt{$  प्रश् है, जो संस्कृतके इसी धातुसे वने ग्रान्य रूप 'प्रश्नः' से स्पष्ट है। इस <mark>बातका</mark> पुनः संकेत करना श्रमावश्यक न होगा कि म्वादिगर्गी धातुके रूपोंसे इसमें यह अंतर है कि वहाँ उदात्तस्वर धात्वंश पर पाया जाता है, जब कि यहाँ [तुदादिगर्गी घातु रूपोंमें] वह विकरणांशपर पाया जाता है। भवति, पठति, गच्छिति [भ्वादिगणी रूप]; जिलाति, तुदति, दिशति [तुदादिगणीरूप]। इनके रूप प्रायः भ्यादिगणी जैसे ही होते हैं, ग्रातः रूपोंका संके<mark>त करना</mark> अनावश्यक होगा।

दशम गण; चुरादिगण:—इस गराके धातुरूप मी म्वादिगणी रूपोंकी तरह ही पाये जाते हैं। इस गराका विकरण 'श्रय' है तथा उदात्त स्वर इस विकरणांशके प्रथमात्तर पर पाया जाता है। संस्कृतमें यह 'श्रय' विकरण णिजंत [causative] तथा नाम धातु [denominative] किया रूपोंमें भी पाया जाता है। वैदिक संस्कृतमें इस गणके मूल धातु रूपोंको इन गौण कियारूपोंसे अलग रखनेका एक ढंग पाया जाता है। मूल धातुरूपोंमें वहाँ धातुके स्वरका गुण नहीं होता, जब कि नामधातु या णिजंत वाले गौण कियारूपोंमें धातुके स्वरका गुणीभाव पाया जाता है, चितयित, इषयित, तुरयित, चतयित रुचयित, पतयित, स्पृह्यित, मृडयित, सुभयित। चुरादिगणसे ही संबद्ध कुछ धातु ऐसे भी है, जिन्हें वैयाकरणोंने भ्वादिगणी मान लिया है।

ह्वयति [√ ह्व], श्वयति [√ श्व], धयति [√ ध], जिनमें वैया-करगोंने हमारे द्वारा कोष्ठकमें निर्दिष्टघातु न मानकर क्रमशः √ ह्वे, [ह्वेज् स्पर्धायां शब्दे च] √ श्वि [श्वि गतिवृद्धचोः] √ धे [धेट् पाने] धातुरूप माने हैं।

संस्कृतके गिजंत तथा नाम धातुत्रोंके रूप भी इसी गणके अंतर्गत ग्राते हैं:—कामयते, चोरयति, छादयति, श्रवलोकयति, दूष्यति, भूषयति, ताडयति, गमयति, तर्पयति, तोषयति, शाययति, चूर्णयामि, वर्णयामि, विष्नयामि, ग्रादि ।

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियोंने संस्कृत धातुत्रोंको श्रीक धातुत्रोंको तरह दो वर्गोंमें बाँटा है :—१. थेमेटिक [thematic] वर्ग; वे गण जिनमें अ विकरण [जिसे श्रीकमें थेमा [thema] कहते हैं] पाया जाता है। इस वर्गमें प्रथम गण [स्वादि], चतुर्थ गण [दिवादि], षष्ठ गण [तुदादि] तथा दशम गण श्राते हैं। हम देख चुके हैं कि चतुर्थ तथा दशम गणमें भी अ पाया जाता है:—य्+अ=य [चतुर्थ गण का विकरण], अय्+अ=अय [दशम-

यह विकरण 'या' के रूपमें लैतिनमें भी णिजंत तथा नाम धातुत्र्योंके साथ पाया जाता है, इस धातु वर्ग की वहाँ Yod-class कहा जाता है । दे० King and Cockson. p. 149.

गराका विकरण] । २. दूसरा वर्ग उन धानुश्रोंका है, जिनमें यह अ विकरण थिमा] नहीं पाया जाता। इन्हें ग्रीकमें 'श्रथेमेटिक' [athematic] कहा जाता है। इसके स्रांतर्गत द्वितीयगण, तृतीयगण, पञ्चमगण, सतमगण, ग्रष्टमगण तथा नवमगण ग्राते हैं। हमने यहाँ पाश्चात्य भाषाशास्त्रियोंके <mark>ढंगपर इन दो वर्गोंमें इन</mark>का वर्र्णन न कर सुविधाकी दृष्टिसे द्वितीय [श्रदादि] तथा तृतीय [जुहोत्यादि] गणका विवेचन पहले ही कर दिया है। ग्रव हमारे सामने चार गए। बचे रहते हैं, जो ग्रीकके ढंगपर 'ग्राथेमेटिक' <mark>कहे जा</mark> सकते हैं । इनके विकरण क्रमशः ये हैं :—'नु' [पंचमगण, स्वादि], 'न्' [ससमगण, रुधादि] 'उ' [अष्टमगण, तनादि], ना [नवमगण, ऋयादि]। <mark>इन चारों गर्गोके विकरण यद्यपि एक दूसरेसे भिन्न हैं, पर भाषाशास्त्रीय</mark> दृष्टिसे परस्पर संबद्ध हैं। पंचम तथा ऋष्टमगण दोनोंमें 'उ' विकरण समान है, यद्यपि पंचममें उसके साथ 'न्' [ = + ] मी है। इसी तरह पंचम, सतम एवं नवम तीनों गर्णोमें यह समानता है कि इनमें सभीमें अनुनासिक तत्त्व 'न्' विकरणांशमें पाया जाता है :—नु [न् + उ], न्, ना [न + आ]। श्रतः इसके पहले कि प्रत्येक गणका विवेचन किया जाय, इन विकरणोंकी भाषाशास्त्रीय न्युत्पत्तिपर एकसाथ संकेत कर देना त्र्यावश्यक होगा।

पहले हम पश्चम, सप्तम तथा नवम इन तीन गण्के धातुश्चोंके विकरणोंको ले छें। भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इन तीनों गणोंमें एक समानता पाई जाती है; इन तीनोंमें ही विकरणमें श्रनुनासिक ध्वनि 'न्' होती है। पश्चमगणका विकरण न, तथा नवमगणका ना है। इन सभीको प्राचीन भा॰ यू॰ विकरण \*न [\*नो] से विकसित माना जा सकता है। यह न विकरण श्रीक तथा लैतिनमें भी पाया जाता है, किन्तु वहाँ इसका संस्कृत जैसा बाहुल्य नहीं है। उदाहरणके लिए श्रीक तिनो [ti-n-0] [मैं चुनता हूँ; सं॰ चिनोमि] को ले सकते हैं। सबसे पहले

<sup>9.</sup> Atkinson: Greek Language pp. 86-7.

सतमगरण को लीजिये। इस गराके युनिक, सुनिक आदि रूपोंमें जो अनुनासिक तत्त्व पाया जाता है, वह वस्तुतः एक गौण तत्त्व है; क्योंकि इन्हींके युयोज, युयुजे; बुभोज, बुभुजे जैसे रूपोंमें इसका सर्वथा श्रभाव है। किन्तु पञ्चमगराके रूपोंमें; जैसे शृणोति में, यह अनुनासिक तत्त्व वस्तुतः भात्वंशका ग्राभिन्न ग्रंग-सा वन गया है। यहाँ यह 'तु' श्रत्तर है, जो सवल-रूप [वृद्धि; strong form] में 'नो' हो जाता है, तथा दुर्वलरूप [मूलरूप] में केवल 'न्' रह जाता है। किन्तु यहाँ भी लुङ् [Aorist] के रूपोंमें यह अनुनासिक तत्त्व नहीं पाया जाता, जो [श्रुधि], अश्रौषीत् आदि रूपोंमें स्पष्ट है। वस्तुतः इस प्रकारके धातुत्रोंमें, श्रारंभमें, प्रा॰ मा॰ यू॰ में न् विकरण नहीं पाया जाता था। उदाहरणके लिए संस्कृतके 🗸 स्तृ धातुको लीजिये, इसका प्राचीनरूप \*स्तर् [\*स्तरव्] रहा होगा। इसी रूपसे एक ग्रोर गॉथिक [Gothic] भाषामें ग्रनुनासिक विकरणविहीनरूप स्त्रीज [strauz] का विकास हुवा है, दूसरी स्रोर संस्कृतमें स्तृणोमि, स्तृखुमः [स्तृण्मः] जैसे रूपोंका, जिन्हें क्रमशः प्रा० भा० यू० \*स्तृ-नेव्—, \*स्त-न् \*स्तृ-न् से विकसित माना जायगा । इसके विषयमें यह कहा जा सकता है इस नु में वस्तुतः न् तथा **उ** इन दो विकरणोंका समावेश है। गाँथिकमें यह केवल उ रूपमें ही पाया जाता है। यही न् जो संस्कृतके पञ्चमग्रामें उ से मिलकर नु वन गया है, नवमग्रामें आ विकरणसे मिलकर ना हो गया है । यह ना दुर्वल रूपोंमें, व्यञ्जनके पूर्व नी तथा स्वरके पूर्व न हो जाता है, यथा गुम्णामि, गुम्णीमः, गुम्णन्ति, क्रीणाति, क्रीणीतः, क्रीणन्ति ।

तात्त्विक दृष्टिसे ग्रष्टमगणके घातुश्रोंमें भी श्रनुनासिक तस्व पाया जाता है, किन्तु यहाँ यह श्रनुनासिक तस्व विकरण न होकर धातुका ही श्रंश है। इस कोटिके श्रधिकतर धातुश्रोंमें यह 'न' धात्वंशमें पाया जाता है, जो  $\sqrt{\pi q}$ ,  $\sqrt{\pi q}$ ,  $\sqrt{\pi q}$  श्रादि धातुश्रोंमें स्पष्ट है। ये धातु लुङ् तथा उसके श्राधारपर बने लकार रूपोंमें भी श्रनुनासिक तस्वको नहीं छोड़ते,

चिनिष्ठाः, श्रमंस्त, श्रतन् । वस्तुतः संस्कृतके तनोति का तनो—प्रा॰ भा॰ यू॰ क्तन्व् से विकसित न होकर क्तन्ना से विकसित हुवा है। इससे यह स्पष्ट है कि मूलतः श्रष्टमगणके ये धातु पञ्चमगणके ही श्रंग हैं। किन्तु, धीरे-धीरे साहरयके श्राधारपर कुणोमि जैसे रूपोंके वैकल्पिकरूप करोमि के रूपमें पाये जाने लगे, श्रौर उन्हें तनोमि के समान मानकर इस श्रष्टमगणमें रख दिया गया।

स्रव यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह 'न्' ही वास्तविक विकरण था, या यह \*न / \*ना का दुर्वलरूप [weak form] था। इस संबंधमें रुषादि गणा [सतमगण] के रूपोंपर थोड़ा दृष्टिपात कीजिये। उदाहरराके लिए रुणद्धि तथा **मुञ्जति** [जो वस्तुतः षष्ठगरण-तुदादिगराका घातु है] इन दो रूपोंको लीजिये। ग्रारंममें ये दोनों रूप कुछ भिन्न प्रतीत होंगे, किन्तु इनके बहुवचन [प्र० पु० व० व०] रूप रुन्धन्ति तथा मुञ्जन्ति इस बातको स्पष्ट करते हैं, कि रुणिद्ध वस्तुतः न विकरण्युक्त रूप है, जब कि मुञ्जिति, न [ज्] विकरणयुक्त है। अर्थात् एकका अनुनासिक विकरण 'न' [ण] है, दूसरे का केवल न [ज्]। इस संबंधमें एक श्रीर महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देनेकी यह भी है कि 'श्र' विकरणका प्रयोग मुझति वाले रूपमें त्र्याचिक पाया जाता है । यही कारण है कि यहाँ उदात्त स्वर इस श्र विकरणपर पाया जाता है, मुझति, किन्तु रूणद्धि में उदात्त स्वर 'न' [रा] पर पाया जाता है। श्रौर श्रिधिक स्पष्टीकरणके लिए हम यह कह सकते हैं कि यदि रुध्का वर्तमान प्र० पु० ए० व० रूप् श्र विकरणसे युक्त पाया जाता अर्थात् यदि यह षष्ठगण्का धातु होता, तो \*रुव्धति रूप बनता, इसी प्रकार यदि 🗸 मुच् का यही रूप अ विकरण विहीन पाया जाता अर्थात् यदि यह सतमगणका धातु होता, तो \*मुनिक रूप बननेकी संभावना थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रुधादि धातुत्रोंके रूप वस्तुतः मुचादि धातुत्रोंके

ही 'ग्रा'-विकरणहीन रूप हैं, तथा यहाँ वास्तविक श्रनुनासिक तत्त्व 'न' [\*नं / \*नं] ही है, केवल 'न्' नहीं ।

पंचमगण, स्वादिगणः—संस्कृतमें इस गणके लगमग ५० घातु पाये जाते हैं। जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं, इस गणका विकरण 'नु' [न्+उ] है। इस 'नु' का सबल रूपमें 'नो' हो जाता है। ग्रीकमें इसका 'नु' [नू] रूप पाया जाता है:—संक ऋणोमि, ग्रीक भ्रोनूंमि [ornumi], संक स्तुणोमि, ग्रीक स्तानूंमि [stornumi], संक चिणोमि, ग्रीक प्रियनो [phthino], मिनोमि, लैतिन मिनुश्रो संक भूनोमि, ग्रीक थूनो [thuno] संस्कृतसे इस गणके भातुश्रोंके श्रन्य उदाहरण ये है:—चिनोति, हिनोति, वृणोति, श्रणोति, अश्नोति, श्राप्नोति, राध्नोति। इनमें से कई धातु ऐसे भी हैं, जिनमें 'नु' के स्थानपर 'ना' [नवमगणके विकरण] का वैकल्पिक प्रयोग पाया जाता है:—वृणोति-वृणाति, स्तुणोति-स्तृणाति, श्रिणोति-चिणाति।

श्रन्य भा० यू० भाषात्रोंमें इन घातुत्रोंमें से कई के समानान्तर रूपोंमें 'नु' के स्थानपर केवल 'उ' विकरण पाया जाता है। इसमें स्तृणोति के समानान्तर गॉथिक रूप 'स्त्रोज' का संकेत हम कर चुके हैं, श्रन्य रूप ये हैं:—सं० ऋणोति [वैकल्पिक ग्रीकरूप 'श्राराउस्रो [orouo]], श्रणोति [ग्रीक श्रासुस् thrasus]। स्वयं संस्कृतमें ही इनसे व्युत्पन्न कई नाम शब्दोंमें यह 'न्' वाला विकरणांश नहीं पाया जाताः—शृणोति—वस्त्र, जिनोति—जीव, साध्नोति—साधु। एक घातुमें यह 'उ' विकरणांश स्वयं घातुका ही अंग बन गया है; जो √श्रु घातुमें पाया जाता है। भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यहाँ √श्र [शर्—] घन्तु माना जाना चाहिये, जो इसके वर्तमानकालके रूपसे स्पष्ट हैः—'श्र-णो-ति' [√श्र—विकरण न् +ज-[तिङ् प्रत्यय] [प्रा० भा० यू० \*करु-न-णुउ-ति [kl-n-ou-ti]। इस वर्गके कुछ घातु

ऐसे भी है, जिनमें साथ ही साथ 'ग्र' विकरण भी पाया जाता है:— 'पिन्वति' दि० पिनुते, ग्रवे० पिनआइति], इन्वति [ वै क० रू० इनोति], हिन्वति [वैक० रू० हिनोति], जिन्वति [-जिनोति]।

रूपः—धातु √ सु. [उभयपदी] 'निचोडना, नहाना, मथना'।
वर्तमान, परस्मैपदीः—प्र० पु० सुनोति, सुनुतः, सुन्वन्तिः; म० पु०
सुनोषि, सुनुथः, सुनुथ, उ० पु० सुनोति, सुनुवः-सुन्वः, सुनुमः-सुन्मः।
वर्तमान, श्रात्मनेपदीः—प्र० पु० सुनुते, सुन्वाते, सुन्वते, म० पु० सुनुषे,
सुन्वाथे, सुनुध्वे, उ० पु० सुन्वे, सुनुवहे-सुन्वहे, सुनुमहे-सुन्महे।
लङ्, परस्मैपदीः—प्र० पु० असुनोत्, श्रसुनुताम्, श्रसुन्वन्, म० पु०
असुनोः, असुनुतम्, श्रसुनुतः, उ० पु० श्रसुनवम्, असुनुव-असुन्व,
श्रसुनुम-श्रसुन्म।

लङ्, ब्रात्मनेपदीः—प्र० पु० असुनुव, ब्रसुन्वाताम्, ब्रसुन्वत, म० पु० श्रसुनुथाः, ब्रसुन्वाथाम्, ब्रसुनुध्वम्; उ० पु० ब्रसुन्वि, ब्रसुनुवहि-ब्रसुन्वहि, असुनुमहि-ब्रसुन्महि ।

सप्तमगण, रुधादिगण:—इस गणके लगभग ३० धातु हैं। इस गणका विकरण अनुनासिक तन्व [न्] है। अन्य प्रा० भा० यू० भाषाओं में इस गणके धातुओं में अप विकरण जोड़ दिया गया है, तथा वे 'अथे मेंटिक' [athematic] वर्गके धातु नहीं रहे हैं। यह प्रवृत्ति कितपय धातुओं में संस्कृतमें भी पाई जाती हैं; सं० विन्दति; जब कि अवेस्तामें इसका समानान्तर रूप 'विनस्ति' है। यद्यपि इस गणको पंचम तथा नवम गणसे सर्वथा मिन्न माना गया है, किंतु मूलतः यह गण उन्हींका एक अंग है। इनमें भेद केवल इतना है कि यहाँ 'न्' विकरण धातुमें चुल मिलन्सा गया है। इसीलिये प्रो० टी० बरो ने इन तीनोंका विश्लेषण एक सा माना है:—पंचमगण: इन्न-एव्-ित [kl-n-nw-ti] [स० श्रणोति];

नवम गण—\*प्ट-न्-ए ?-ति [pl-n-e'H-ti] [सं॰ प्रणाति]; सतम गण \*-यु-न्-एग्-ति [yu-n-e'g-ti] [सं॰ युनांक्त]। प्रो॰ वरोने बताया है कि ये धातु मूलतः व्यञ्जनान्त न होकर स्वरांत थे। इसकी पुष्टि इस तथ्यसे होती है कि संस्कृतमें ही यातो इनके वैकल्पिक स्वरांत रूप पाये जाते हैं, या इनसे व्युत्पन्न रूपोंमें ग्रांतिम व्यञ्जन ध्वनि नहीं पाई जाती है:— सं॰ √ युज्, के साथ ही सं॰ √ यु [योक्ति] भी उसी अर्थमें प्रयुक्त होता है। √ छिद् से वैक॰ रूप 'छुवति' [काटता है] पाया जाता है, तथा इसका 'क्त' प्रत्ययांत रूप 'छित' [\*छित्त नहीं; वैसे इसका वैक ० रूप 'छुन्ना' भी है, जो \*छित का स्थानापन्न] है।

इस वर्गके धातुत्र्योंके कतिपय रूप ये हैं: ─ जिनिद्धा [√ छिद्] [ॐ॰ फिन्दो]; पिनष्टि [√ पिप्] [ॐ॰ फिन्दो]; पिनष्टि [√ पिप्] [ॐ॰ पिंसो], शिनस्ति [√ शिप्], भुनक्ति [√ भुज्], रूणदि— सन्धन्ति [√ रुप्], वृद्यक्ति-वृञ्जन्ति [√ वृज्]।

रूप :—√ भुज् [परस्मैपदी 'पालन करना', त्रात्मनेपदी 'खाना']। वर्तमानः परस्मैपदी :— प्र० पु० सुनक्ति, सुङ्कः, सुञ्जन्ति, म० पु० सुनज्ञि, सुङ्कथः, सुङक्थ, उ० पु० सुनज्ञिम, सुञ्ज्वः, सुञ्जमः।

वर्तमान त्रात्मनेपदी:—प० पु० सुङ्के, सुझाते, सुझते, म० पु० सुङ्के, सुझाथे, सुङ्ग्वे, उ० पु० सुन्जे, सुन्ज्वहे, सुन्ज्यहे।

लङ्-परस्मैपदी:—प्र०पु० अभुनक्, श्रभुङ्काम्, अभुञ्जन् , म० पु० श्रभुनक् श्रभुङ्कम्, श्रभुङ्क, उ० पु० श्रभुनजम्, अभुञ्ज्व, अभुञ्जम ।

<sup>3.</sup> हमने ? चिह्नका प्रयोग Laryngeal Sound के लिए किया है, जिसे प्रो॰ बरोने H चिह्न के द्वारा व्यक्त किया है।

<sup>3.</sup> T. Burrow: Sanskrit Language P. 327.

लङ् श्रात्मनेपदी—प्र० पु० श्रमुङ्क्त, अमुञ्जाताम्; श्रमुञ्जत, म० पु० अमुङ्क्थाः, अमुञ्जाथाम्, श्रमुङ्ग्ध्वम्; उ० पु० अमुञ्जि, अमु-ब्याहि, अमुञ्जमहि।

अष्टमगण, तनादि गण:--इस गणका विकरण नो-नु के स्थानपर ओ-उ पाया जाता है। इस गराके कई धातुत्रों में धात्वंशमें 'न्' पाया जाता है, यथा √ तन् धातुमें जिसका 'तनोति' रूप बनता है। इसी तरह ग्रन्य धातुत्रोंके उदाहररा ये हैं :—सनोति [√सन्], वनोति [ 🗸 वन् ], मनुते [ 🗸 मन् ], चर्णोति [ 🗸 त्नन् ]। इनके **अतिरिक्त इस ग**णमें एक धातु ऐसा भी है, जिसमें धात्वंशमें 'न्' नहीं है, यथा—√ क़ [ करोति, कुरुते]। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि यह 'न्' मूलतः धात्वंश न होकर विकरणांश ही था। इस तरह 'तनोति' का विकास क्त्न-नेउ-ित [tn-neu-ti] से माना गया है, जहाँ पा० भा० यू० धात्वंश 'न्' [त्न् ] का संस्कृतमें 'ग्र' हो गया है। जहाँ तक '√ 'कृ' [करोति] धातुके रूपोंका प्रश्न है, वहाँ 'नो' नहीं पाया जाता; किंतु वेद तथा श्रवेस्ता दोनोंमें ही यहाँ भी 'नु'-'नो' विकरण देखा जाता है: -- सं o ऋगोति-ऋगुते, अवेo क्अर्अनओइति [kerenaoiti], प्राचीन फारसी, श्रकुनवम् । इससे यह त्र्यनुमान होता है कि 'करोति' जैसे संस्कृत रूप वस्तुतः 'कृषोति' के ही वैकल्पिक रूप हैं, जिन्हें हम प्राकृत रूप मान सकते हैं। किंतु मजेकी बात तो यह है कि प्राकृतमें वैदिक रूपोंसे विकसित 'कुणइ' रूप भी मिलते हैं, जब कि लौकिक संस्कृतमें 'कृणोति' जैसे 'नु-नो' विकरणवाले रूप सर्वथा लुप्त हो गये हैं।

रूप :-√ 'कृ' 'करना' [उभयपदी]।

लट्, परस्पैपदी:—प्र० पु० करोति, कुरुतः, कुर्वन्ति, म० पु० करोषि, कुरुथः; कुरुथ, उ० पु० करोमि, कुर्वः, कुर्मः।

लट्, ब्रात्मनेपदी:—प्र० प्० कुरुते, कुर्वाते, कुर्वते, म० पु० कुरुषे, कुर्वाथे, कुरुध्वे, उ० पु० कुर्वे, कुर्वहे, कुर्महे।

लङ् , परस्मैपदी :—प्र० पु० अकरोत् , श्रकुरुताम्, अकुर्वन् , म० पु० श्रकरोः, अकुरुतम्, श्रकुरुत, उ० पु० श्रकरवम् , अकुर्वं, श्रकुर्मं।

लङ्, ग्रात्मनेपदी:—प० पु० अकुरुत, श्रकुर्वाताम्, श्रकुर्वत, म० पु० श्रकुरुथाः, श्रकुर्वाथाम्, श्रकुरुध्वम्, उ० पु० श्रकुर्वि, अकुर्वेहि, अकुर्महि।

मवमगण क्यादिगणः—इस गणका विकरण 'ना' है। इस गणमें लगभग ५० धातु पाये जाते हैं। इनके उदाहरण ये हैं: —क्रीणाति  $[\sqrt{n}]$  [ग्रायिरश 'केनइद' [crenaid], जिनाति  $[\sqrt{n}]$  श्लेषणे], [ग्रायिरश 'जेनइद' [lenaid] [चियकता है], शृणाति  $[\sqrt{n}]$  'नाश करना' [ग्रायिरश अर्-श्रिनत् [ar-chrinat] [वे नष्ट होते हैं]], श्रश्नामि  $[\sqrt{n}]$ , जानामि  $[\sqrt{n}]$ , प्रनामि  $[\sqrt{n}]$ , ज्ञानामि  $[\sqrt{n}]$ , श्रिणामि  $[\sqrt{n}]$ , श्रिणामि  $[\sqrt{n}]$ , श्रिणामि  $[\sqrt{n}]$ , स्तम्मामि  $[\sqrt{n}]$ 

इस विकरण में मूलतः दो विकरण हैं:—ना = न् + आ प्रा० मा० यू० न् + अ [n+aB-] । संस्कृतमें 'आ' विकरण [ऋन्तः प्रत्यय] कई रूपों में पाया जाता है; जो -'ग्राय' वाले रूपों में पाये जाते हैं:—गृभायित, मथायित, स्कभायित । ये वस्तुतः गृभणित, मथ्नाति, स्कभ्नाति के वैकल्पिक रूप हैं; तथा चुरादिगण्के रूप हैं । यह '-आ' विकरण कितपय स्थानोंपर धातुका ही अंग बन गया है, जैसे  $\sqrt{}$  ज्या [जिनाति],  $\sqrt{}$  प्रा [गृणाति] में ।

इस गराके उन धातुश्रोंमें जिनमें हस्व 'इ, उ, ऋ' स्वर पाये जाते हैं, दुर्वल प्रत्ययों के साथमें दीर्घ ई, ऊ, ऋ हो जाते हैं। यथा—पुनाति-पूत, पृणाति-पूर्ण। तिङ् रूपोंमें भी इन धातुश्रोंमें कई का मूल स्वर दीर्घ हो जाता है। इस तरह इन्हें दो वगोंमें बाँटा जा सकता है:—[१]—ना के पूर्व हस्व इ-उ स्वरवाले धातु; जिनानि, पुनाति, जुनाति श्रादि; [२]—ना के

<sup>3.</sup> T. Burrow: Sanskrit Language p. 325.

पूर्व धातुके मूल स्वरको दीर्घ करनेवाले; प्रीणाति, श्रीणाति, श्रादि । इनमें द्वितीय वर्गमें केवल 'इ' कारांत धातु ही पाये जाते हैं। कईमें दोनों तरहके रूप पाये जाते हैं: —िक्तनाति—क्लीनाति [√व्ली] 'दवाता है'। हम बता चुके हैं कि —ना— विकरण दुर्वल तिङ्रूपोंमें —'नी'— तथा स्वर वाली तिङ् विमक्तिके पूर्व —'न'— हो जाता है। यह विशेषता केवल संस्कृतमें ही पाई जाती है, श्रन्य किसी भा० यू० भाषामें नहीं।

रूपः — 🗸 क्री 'खरीदना' [उभयपदी]

लट्, परस्मैपदीः—प्र० पु० क्रीणाति, क्रीणीतः, क्रीणन्ति, म० पु० क्रीणासि, क्रीणीथः, क्रीणीथ, उ० पु० क्रीणामि, क्रीणीवः, क्रीणीमः।

लट्, श्रात्मनेपदीः—प्र० पु० क्रीग्रीते, क्रीग्राते, क्रीग्राते, म० पु० क्रीग्रीपे, क्रीग्राथे, क्रीग्रीध्वे, उ० पु० क्रीग्री, क्रीग्रीवहे, क्रीग्रीमहे।

लङ्, परस्मैपदीः—प्र० पु० अकीणात्, श्रकीणीताम्, श्रकीणन्, म० पु० श्रकीणाः, श्रकीणीतम्, श्रकीणीतः, उ० पु० श्रकीणाम्, श्रकीणीव, श्रकीणीव।

लङ्, श्रात्मनेपदीः—प्र० पु० श्रक्तीणीत, अक्रीणाताम, श्रक्रीणत, म० पु० श्रक्तीणीथाः, श्रक्रीणाथाम, श्रक्रीणीध्वम, उ० पु० श्रक्रीणि, श्रक्तीणीवहि, श्रक्तीणीमहि।

अब हम उन विकरणोंकी ओर याते हैं, जो किन्हीं विशेष लकारोंमें। प्रयुक्त होते हैं। जिस प्रकार न् विकरणके कई रूप हम अभी-अभी देख चुके हैं, उसी प्रकार संस्कृत धातुओं के लुङ् रूपों में स् विकरणके कई रूप पाये जाते हैं। इस विकरणके चार रूप पाये जाते हैं:—[१] स्, [२] इष्, [३] सिष्, [४] स। वैसे लुङ् लकारके कई रूपों में [५] विकरणहीन रूप, तथा [६] द्वित्ववाले रूप भी मिलते हैं।

इसके पूर्व कि हम लुङ्के रूपोंपर भाषावैज्ञानिक संकेत करें, हमें इस बातकी त्रोर ध्यान दे लेना होगा कि तिङ् चिह्नोंको भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे हम दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं, मुख्य तथा गौण । प्रथम परिच्छेदमें हम

<mark>इन दोनों प्रकारके तिङ् चिह्नोंका जिक्र प्रा० भा० यू० क्रियात्र्योंके संबंधमें</mark> कर चुके हैं । इस संबंधमें पहले यह समभ लिया जाय कि प्रमुख तथा गौण चिह्न दोनोंका प्रयोग वर्तमान कालके रूपोंमें पाया जाता है, जब कि लुङ् [ग्रयोरिस्ट] के साथ केवल गोण तिङ् चिह्नोंका ही प्रयोग होता है। इस <mark>दृष्टिसे इन दोनोंमें इसके अतिरिक्त कोई भेद नहीं माना जा सकता। वस्तुतः</mark>। ये 'अ' विकरण वाले लुङ् रूप वे वर्तमान रूप ही है, जिनमें गौण चिह्न प्रयुक्त होते हैं। यही कारण है कि इस प्रकारके लुङ्कप उन्हीं गणोंमें पाये जाते हैं, जो '[यू] अ—' विकरणसे युक्त पाये जाते हैं। स् विकरणवाले लुङ् रूपोंका संबंध इसी प्रकार स् विकरणवाले वर्तमान रूप वाले घातुस्रोंसे जोड़ा जाता है, किन्तु संस्कृतमें शुद्ध स् विकरणवाले धातु नहीं पाये जाते। यह स् वस्तुतः य से मिलकर स्य के रूपमें पाया जाता है, जो संस्कृतमें भविष्यत् के रूपोमें प्रयुक्त होता है। संस्कृतमें यह स्य, वच्यामि, तथा रेच्यति में स्पष्ट है। वस्तुतः ग्रारंभिक स्थितिमें ये स्य वाले रूप भविष्यतुके। ग्रर्थमें प्रयुक्त न होकर [सन्नन्त] वर्तमानके ग्रर्थमें प्रयुक्त होते थे। इन्हींसे स्य विकरण्याले लुङ्रूपोंका संबंध माना जाता है। त्र्यागे जाकर यह स्य भविष्यत्के द्रार्थमें प्रयुक्त होने लग गया । स् की मीमांसा हो जानेपर स की भी समस्या सुलभ जाती है, जो स् तथा श्र विकरणके योगसे बना है। स विकरणवाले लुङ्ख्पोंकी एक विशेषता है कि यह केवल नौ ही धातुत्रोंमें पाया जाता है, तथा उन धातुर्ग्रोंके ग्रन्तमें ज्, श्, स्, ह् ध्वनियाँ पाई जाती हैं। उदाहरणके लिए हम इन रूपोंको ले सकते हैं:--

## √ मृज्-त्रमृचत् , √ स्पृश्- अपृक्षत् , √ रुह् - त्रारुक्षत् ।

संस्कृतमें स्य वाले भविष्यत् रूपोंमें सेट् रूप भी पाये जाते हैं, जिन्हें हम करिष्यति, भविष्यति ग्रादिमें पा सकते हैं। ग्रार्थात् भविष्यत्के इन रूपोंमें 'इस्य' [इष्य] विकरण पाया जाता है। जिस प्रकार स् [छुङ् का विकरण] स्य से सम्बन्धित है, उसी प्रकार इष् [छुङ् का विकरण] \*इस्य' [इष्य] से सम्बद्ध है, जो वस्तुतः स् का ही 'सेट्' रूप है। ग्रासलमें यह

त्र्यलगसे विकरण न होकर **स्** के ही ग्रान्तर्गत है। इस सेट् <mark>लुङ् रूपका</mark> उदाहररा हम √ 'स्तर्' [-स्तृ]-ग्रस्तिरियम् दे सकते हैं। संस्कृतमें सिष् विकरणवाले लुङ् रूप भी पाये जाते हैं, किन्तु ये रूप बहुत कम पाये जाते हैं। इसकी उत्पत्ति एक समस्या है। संभव है, यह विकरण स् तथा इषु दोनोंके सम्मिश्रणसे बना हो। इसके रूप श्रयासिषम, अयासिष्टाम त्रादिमें देखे जा सकते हैं। इस सम्बन्धमें यह भी कह दिया जाय कि स् विकरणयुक्त लुङ् रूप ग्रीकमें भी पाये जाते हैं, तथा वहाँ कई धातुम्रोमें, लुङ्में, यह स् प्रयुक्त होता है। किन्तु जिन ग्रीक धातुत्रों के ग्रन्तमें र, ल या अनुनासिकध्वनि होती है, वहाँ यह स् लुप्त हो जाता है। स् विकरण-वाले रूप ग्रीकमें दुर्वल लुङ् [weak Aorist] कहलाते हैं, यथा ए-लु-स्-अ [एलुस] [e-lu-s-a]। वृसरे प्रकारके सवल ''ग्रयोरिस्टोंमें'' यह स् नहीं पाया जाता। यह उन धातुत्रोंमें नहीं पाया जाता, जिनके वर्तमानमें किसी विकरणका प्रयोग पाया जाता है। जहाँ वर्तमानके रूपोंमें कोई विकरण पाया जाता है, वहाँ लुङ् रूप सीधे मूल [धातु] रूपसे <mark>बनाये</mark> जाते हैं। वर्तमानके रूपोंसे भ्तकालके द्योतनके लिए [ ग्रनद्यतनभूते ] लङ् [imperfect] के रूप बनाये जाते हैं। 3ीक यही बात कई धातुत्र्योंमें संस्कृतमें पाई जाती है। उदाहरणके ∘िलए √ गम् धातुको लीजिये। इसके वर्तमानके रूपोंमें 'च्छु' [\*स्ख] विकरणका प्रयोग होता है, किन्तु लुङ्में इसके रूप सीधे गम् से ही बनते हैं, जब कि लर्ङ्में वर्त-माने लट्के रूपोंकी तरह ही स विकरणवाले रूप पाये जाते हैं। उदाहरराके लिए निम्न रूपों को लीजिये-

<sup>1.</sup> इन्हें श्रीकमें सिगमेटिक अयोरिस्ट [Sigmatic Aorist] भी कहते हैं। देo King and Cockson: Comparative Grammar of Greek and Latin p. 140

<sup>3.</sup> Atkinson: Greek Language pp. 90-91.

√गम्-गच्छामि [लट्], अगच्छम् [लङ्], अगमम् [जुङ्]। इसी धातुके समानान्तर ग्रीक धातुके निम्न रूपोंमें भी हम यही बात देखं सकते हैं:—बास्को [bosko] [मैं जाता हूँ], बा-स्कान् [boskon] [Imperfect] [मैं गया, लङ् रूप], बा-आन् [bo-on] [Aorist] [मैं गया, लुङ् रूप]। इस प्रकार सबल 'अयोरिस्ट' [लुङ्] प्रायः वहीं तिङ् चिह्न प्रयोगमें लाते हैं, जो 'इम्परफेक्ट' [लङ्] में होते हैं। इन दोनों का खास मेद यही है कि एकमें वर्तमानवाला विकरण प्रयुक्त नहीं होता, दूसरेमें वह प्रयुक्त होता है। उत्तम पुरुष एकवचनका 'लुङ्' [Aorist] का तिङ् चिह्न संस्कृतमें अम् है, ग्रीकमें 'आन्' [on]।

लुङ् रूपोंमें ग्रव जो श्रेणी बची रही, वह दिल्ववाली है, उदाहरएके लिए हम √ जन् धातुके ग्रजीजनत् रूपको ले सकते हैं। सर्वप्रथम, यह दिल्व एक समस्या उत्पन्न कर देता है, क्योंकि प्रायः लुङ् रूपोंकी रचना धातुके मूल रूपके ग्राधारपर ही बनती है, साथ ही जिन धातुओं [जुहोत्यादि गण्] के वर्तमाने लट्वाले रूपोंमें दिल्व पाया जाता है, वहाँ लुङ्में दिल्वका ग्रामाव है। वैसे पदरचनात्मक दृष्टिसे इनका संबंध गौण तिङ् चिह्न युक्त वर्तमानके दिल्व रूपोंसे जोड़ा जा सकता है, या दिल्ववाले [परोच्चभूते] लिट्के रूपोंसे। फिर भी ये रूप एक समस्या ही बने रहते हैं। इनके समानान्तर रूप केवल श्रवेस्तामें ही देखे जाते हैं, यथा, जीजनत् [ziza-nat] [सं० श्रजीजनत् ]। संभवतः इस तरहके लुङ् रूप भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता हैं।

लुङ् के इन विभिन्न रूपोंके दिङ्मात्र उदाहरण ये हैं:--

[अ] मूल धातुवाले लुङ्ः —√ दा-अदात् , अदाताम्, अदुः; √ भू-अभूत् , अभूताम्, अभूवन् ; आदि रूप।

[ग्रा] ग्रा विकरणवाले <mark>लुङ्ः—√ सिच्-[ परस्भैपदी ] श्रसिचत् ,</mark>

X

असिचताम्, असिचन् ; [ ग्रात्मनेपदी ] √ ग्रसिचत्, ग्रसिचेताम्, असि-चन्त ग्रादि रूप ।

[इ] दिल्ववाले लुङ् रूपः —  $\sqrt{ श्रि-य्रशिश्रयत् , यशिश्रियताम् , यशिश्रियत् , <math>\sqrt{ मील्-यिमीलम [उ० पु० ए० व०], <math>\sqrt{ द्रु-यहुद्रु-वम्, \sqrt{ जन्-<math>\sqrt{ अजीजनम , \sqrt{ मर्-यमीमरम , \sqrt{ दर्श-यदीहराम , }} }$  विश्-यवीविशम्,  $\sqrt{ युज्-ययूयुजम । }$ 

[ई]-स्-वाले लुङ् रूप:-√ रुध्-अरौत्सीत्, अरौताम्, अरौत्सुः [परस्मैपदी], अरुत्त, अरुत्साताम्, अरुत्सति [ ग्रात्मनेपदी ], √ नी-अनै-पीत्, अनैष्टाम्, अनैष्टः [परस्मैपदी], अनेष्ट, अनेषाताम्, अनेपत् [ त्रात्मनेपदी ]

[उ]-इष्–वाले लुङ् रूपः—√ ब्रथ्–अबोधीत् , अबोधिष्टाम्, अबोधिषुः [परस्मैपदी], अबोधिष्ट, अबोधिषाताम्, अबोधिषत [ग्रात्मनेपदी]।

्कि] —िसिष् वाळे लुङ् रूपः — √ या—अयासीत् , अयासिष्टाम् , अयासिष्टाः, ।

[ए] –स-वाले लुङ् रूपः—√ि दिश्-अदिचत् , अदिचताम्, अदिक्षन् [परस्मैपदी], श्रदिचत्, अदिचाताम्, अदिचन्त [ग्रात्मनेपदी]।

[ऐ] -इ वाले कर्मवाच्य क्रियाश्रोंके लुङ् रूप: -यह 'इ' विकरण केवल प्रथम पुरुषके ए० व० में ही प्रयुक्त होता है, जो उपर्युक्त विकरणोंसे सर्वथा मिन्न है। 'श्रज्ञायि' [√ ज्ञा से कर्मवाच्य रूप], श्रद्शिं [√ दश् से कर्मवाच्य रूप]। इ, उ या ऋ स्वर ध्वनिवाले धातुश्रोंमें इन लुङ् रूपोंमें स्वरध्वनिका गुणीभाव पाया जाता है—अचेति [√ चित् से कर्मवाच्य], श्रवोधि [√ खुध्], असर्जिं [√ सृज्]। श्रन्य स्थानोंपर वृद्धि रूप श्रविक पाया जाता है—श्रगामि [√ ग्रम्], श्रकारि [√ कृ], √ श्रस्तावि [√ स्त् ], √ श्रश्रायि [√ श्र्], गुण्यूक्प कम [ अजिन-√ जन्; श्रवधि-√ विध् ]। यह 'इ' ईरानी वर्ग में पाया जाता है, यथा श्रवेश

स्त्रावि [सं० श्रावि]; पु० फारसी अदारिय् [सं० अधारि], किन्तु अन्यत्र नहीं पाया जाता।

दिवादिगएके संबंधमें हम एक विकरएका उल्लेख कर आये हैं।
यह विकरए 'थ' है। वैसे यह विकरए हम पश्चित में भी देख सकते हैं,
जो संस्कृतमें दिवादिगणका धातु न होकर भ्वादिगएका धातु है। यह
पश्चित संस्कृतमें √ दृश् धातुका रूप माना जाता है, पर भाषा-वैज्ञानिक
दृष्टिसे इसका मूलरूप अलग धातु √ \*पश् रहा होगा। यह य विकरए,
जो इस धातुके वर्तमान रूपोंमें स्पष्ट है प्रा० भा० यू० से ही विकसित
हुआ है, यह तथ्य अवस्ता स्पस्त्यदृति [spasayeiti], तथा लैतिन
स्पेकिओ [specio] से स्पष्ट है। किन्तु संस्कृतके लुङ् रूपोंमें यह य नहीं
पाया जाता, इससे यह अनुमान होता है कि यह य वस्तुतः अ विकरएका
ही विकसित रूप है। इसीलिए कई धातुओंमें अ तथा य दोनों प्रकारके
वर्तमान रूप पाये जाते हैं, यथा, राधित, राध्यित; तृष्वित, तृष्यित ।
आगो जाकर यह य संस्कृतके कर्मवाच्य [भाववाच्य] रूपोंमें प्रयुक्त होने
लग गया, पठ्-पठ्यते, भुज्-भुज्यते, √ दा-दीयते, √ भू-भूयते। यह
य, [अ + य] के रूपमें िएजन्त रूपोंमें भी पाया जाता है, यथा पाठ्यति,
भोजयित, दापयित, भावयित।

ग्रव तक हमने वर्तमाने लट् तथा लुङ्का विचार किया, क्योंकि ये ही धातुग्रोंके दो प्रकारों— सार्वधातुक तथा ग्रार्धधातुक रूपोंके निर्णायक है। एक कोटि सार्वधातुक रूपोंकी भित्ति है, तो दूसरी ग्रार्धधातुक रूपों की। ये रूप निर्देशात्मक हैं। ग्रव हम हेतुहेतुमत्के रूपोंको छेंगे। इन रूपोंमें, वेदमें, प्रायः ग्रावकरणका प्रयोग पाया जाता है। इस संबंधमें यह बात ध्यान देने की है कि हेतुहेतुमत् [conditional] के रूपोंमें गौण तिङ् चिह्नोंका प्रयोग होता है। उदाहरणके लिए शृखवद् वचांसि में, में [शृख + श्र + त्] पाया जाता है। सेद्धान्तिक दृष्टिसे वर्तमाने लट् तथा लुङ् दोनोंके समान हेतुहेतुमत् रूप संस्कृतमें पाये जाने चिह्रए थे, किन्तु ऐसे रूप

वेदमें बहुत कम पाये जाते हैं, इसका एक उदाहरण ऊपर दिया गया है। भिमित्रक्षत् [लुट्] से प्रभावित हेतुहेतुमत् वाला [लुङ् वाला] रूप वेदमें केवल एक वार ही प्रयुक्त हुआ है, जो 'करिज्यः' [ लो॰ सं॰ अकरिज्यः; √ हा है। लुङ्के आधारपर बनाये गये हेतुहेतुमत्रूप भी बहुत कम पाये जाते हैं; उदाहरणके लिए 'नेषत्' [√ नी] को ले सकते हैं। लौकिक संस्कृतमें आकर हेतुहेतुमत्में केवल भविष्यत् [लुट्] से प्रभावित रूप ही पाये जाते हैं, जिनमें आरंभमें भूतकाल [लङ् तथा लुङ्] की तरह अ का आगम तथा अन्तमें गौण तिङ् विभक्तियाँ पाई जाती हैं।

मविष्यत्के लिए संस्कृतमें दो लकार पाये जाते हैं :—हृट् तथा लुट् । हृट्में धातुके गुणीभृत रूपके साथ स्य या—इष्य जोड़ दिया जाता है, यथा दास्यित, [√दा] धोरयित, [√दुह् ] पिठष्यित [√पट् ] गिमिष्यित हैं। स्य तथा इष्य वाले रूपोंके समानान्तर रूप केवल ख्रवेस्ता तथा लिथुत्र्यानियनमें पाये जाते हैं, जैसे :—ख्रवेस्ता वख्स्या [vaxs ya] मिं कहूँगा] सिं० वच्यामि], लिथुत्र्यानियन दुस्रोसिउ [du'osiu] [मैं हूँगा] सिं० दास्यामि]। श्रीकमें इसके —सो—या—से—वाले रूप मिलते हैं :—ग्रीक स्तेसो [ste-so] सिं० तिष्टामि], दो-सो [do-so] सिंस्कृत दास्यामि] तनसो [teneso] सिं० तिष्टामि]। आरंभिक संस्कृत मापामें यह लकार ख्रवेस्ताकी भाषाकी माति बहुत कम पाया जाता है, तथा भविष्यत् कालके वोधनके लिए वहाँ हेतुहेतुमत्का प्रयोग देखा जाता है, धोरे धीरे परवर्ती कालकी भाषामें इसका प्राचुर्य हो गया है।

इसके श्रतिरिक्त संस्कृतमें लुट्का प्रयोग भी भविष्यत्में पाया जाता है। इसका विकास संस्कृतके -तर् [-तृ] प्रत्ययवाले कर्नु बोधक प्रत्ययसे

<sup>.</sup> King and Cockson: Comparative Grammar of Greek and Latin. p.141.

हुस्रा है, जिनके साथ 🗸 श्रस् धातुके रूपोंका प्रयोग सहायक क्रियाके रूपमें पाया जाता है। प्रथम पुरुष ए० व०, द्वि० व० तथा ब० व० के रूप ठीक वही होते हैं, जो नाम शब्दके प्रथमा विभक्तिके रूप हैं: - कर्ता, कर्तारी, कर्तारः, दाता, दातारी, दातारः, गन्ता, गन्तारी, गन्तारः। शेष रूपोंमें प्रथम पुरुष ए० व० के रूपके साथ सहायक क्रिया जोड़ दी जाती है :—म० पु० कर्तासि [कर्ता + श्रसि], कर्ता-स्थः कर्ता-स्थ, उ० पु० कर्तास्मि [कर्ता + अस्मि], कर्ता-स्वः, कर्ता-स्मः । इसके आत्मनेपदी रूपोंमें प्र॰ पु॰ के रूप ठीक वही हैं, म॰ पु॰ तथा उ॰ पु॰ के रूप कुछ मिन्न हैं:—म० पु० कर्तासे, कर्तासाथे, कर्ताध्वे, उ० पु० कर्ताहे, कर्तास्वहे, कर्तास्महे । डॉ॰ चाटुर्ज्याने बताया है कि मविष्यत्के लिए प्रयुक्त ये यौगिक [ भविष्यत् ] रूप वस्तुतः संस्कृतपर प्राकृतका प्रभाव है । वैदिक संस्कृतमें ये रूप नहीं पाये जाते । यही नहीं, परवर्ती संस्कृतमें लिट् [या सम्पन्न भूतकाल] तथा हेतुहेतुमत् या संभाव्य भविष्यत्के रूप, जो क्रमशः आमंत्र-मामास, ग्रामंत्रयाञ्चकार, कारयामास, कारयाम्बभूव, कारयाञ्चकार तथा अभविष्यत् , श्रकरिष्यत् जैसे उदाहरणोंमें पाये जाते हैं, यौगिक रूप हैं, इन्हें भी डॉ॰ चाटुर्ज्याने त्रादिम प्राकृतोंका प्रमाव माना है। यहाँ यह संकेत करदेना अनावश्यक न होगा कि इनमेंसे वैदिक भाषामें केवल लिट के यौगिक रूप भिलते हैं, जो सबसे पहले यजुर्वेदमें पाये जाते हैं !

विधिलिङ् [optative] का प्रयोग दो ऋथोंमें पाया जाता है। प्रथम २० यह किसी ऐसी संभावनाके भावको घोषित करता है, जो निर्देशात्मक [Indicative] कोटिके द्वारा ऋभिव्यक्त तथ्य से विरुद्ध है, दूसरे यह किसी इच्छाकी ऋभिव्यंजना करता है। इन दोनों प्रकारके उदाहरण ये हैं:—

[१] विश्वे च क्षत्राय च समदं कुर्याम् । [मैं समाज तथा च्ह्रोंमैं परस्पर कलह कराऊँ ।]

[२] दम्पती अश्नीयाताम् । [पति-पत्नी भोजन करें।]

डाँ० चाटुज्याः भारतीय श्रार्थभाषा श्रौर हिंदी पृ० ६६ ।

विधिलिङ्का विकरण य है, जो दुर्बल रूपोंमें ई [)\*ंग] हो जाता है, यथा दद्याम [दद् [√दा]+य+यम]; ददीत [दद्+इ+त]। यही विकरण लैतिनमें भो पाया जाता है। ग्रीकमें यह विकरण आ से युक्त होकर आह [oi] के रूपमें पाया जाता है, यह ग्रीक फराइ [pheroi] [सं॰ भरेत]। संस्कृतमें यह \*आइ; ए [अ+इ] हो गया है, जो भरेत में स्पष्ट है। वैदिक संस्कृतमें लुङ् के ग्राधारपर स् विकरण युक्त विधिलिङ् के रूप भी पाये जाते हैं, जिनमें धातुका स्वर 'इ' वना दिया जाता है, यथा, दिपीय [√दा]। संस्कृतका ग्राशीर्लिङ् विधिलिङ्से केवल इसी बात में भिन्न है कि इसके रूप सदा लुङ् रूपोंके ही ग्राधारपर बनते हैं, जब कि विधिलिङ् वाले रूप वर्तमान रूपोंके ग्राधारपर बनते हैं। वैसे इन दोनोंके तिङ् चिह्न गौरा है, तथा प्रायः एकसे ही होते हैं। उदाहरराके लिए गच्छिति [लट्], गच्छेत् [विधिलिङ्], तथा श्रगमत् [लुङ्], गम्यात् [ग्रा॰ लिङ्] रूपों को देखिये, जिनसे यह मेद स्पष्ट हो जायगा।

विधिलिङ्में अ-विकरणहीन तथा अविकरण्युक्त रूपोंमें उदात्त स्वरको दृष्टिसे मिन्नता पाई जाती है। अ-विकरणहीन धातुओं में उदात्त स्वर तिङंशपर पाया जाता है, जब कि अ-विकरण्युक्त धातुओं में वह धात्वंश पर पाया जाता है:—भवेत्, भवेताम्, भवेयुः [पर०]; भवेत्, भवेयाताम्, भवेरन्; [आत्म०] द्विष्यात्, द्विष्याताम्, द्विष्युः [पर०]; द्विषीत, द्विषीया-ताम्, द्विषीरन् [आत्म०]

संस्कृतके लोट्वाले रूपोंमें वस्तुत: कई रूपोंकी खिचड़ी पाई जाती है। इसके प्रथम पुरुषके तीनों वचनके रूप हेतुहेतुमत् वाले [subjective] वैदिक रूप है; तथा मध्यम पुरुष तथा प्रथम पु॰ के दि॰ व॰ एवं म॰ पु॰ ए॰ व॰ के रूप निषेधार्थक वैदिक रूप [injunctive forms]। म॰ पु॰ ए॰ व॰, प्रथम पुरुष ए॰ व॰ तथा ब॰ व॰ के रूप विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। म॰ पु॰ ए॰ व॰ में थिमेटिक क्रियाओं में क्रियाका मृलधातु रूप ही प्रयुक्त होता है, वस्तुतः यहाँ 'शून्य' तिङ् चिह्न पाया जाता है। यह विशेषता यहीं नहीं अन्य भारतयूरोपीय भाषाओं में भी पाई जाती है:—सं॰ भर अवे॰ वर, श्रीक फर, आर्मीनियन बर, श्रॉथिक वहर, आयरिश बहर।

सं० प्रच्छ, लै० पास्कः, सं० श्रज, श्रीक, श्रग, लै० श्रग।

किंतु अयेमेटिक धातुओं में यहाँ -हि [-धि] वाले रूप पाये जाते हैं:— सं॰ इहि, अवे॰ इदि, प्रोक इथि; सं॰ विद्धि, ग्रीक इस्थि। इस -धि के अन्य उदाहरण जुहुधि [√हू], शृणुधि [√श्रु], गाधि [√गा], वृधि [√बृ] हैं। प्रथम पु॰ ए॰ व॰ व॰ व॰ में गौण तिङ् चिह्न-त्, -न्त् के साथ—उ जोड़ा जाता है:—'भवत्-उ' [भवतु], भवन्त्-उ [भवन्तु]। यह-उ तिङ् चिह्न हित्ती भाषामें पाया जाता है:—एश्तु [सं॰ अस्तु], कुएन्दु [सं॰ इन्तु], कुनन्दु [सं॰ धनन्तु]। आत्मनेपदी रूपोंमें म॰ पु॰ ए॰ व॰ में -'स्व' चिह्न पाया जाता है। यह तिङ् चिह्न केवल अवेस्तामें भिलता है:—अवे॰ क्अर्अ्अवा [सं॰ कुरूब], बरङ् ह [भरस्व]। प्रथम पु॰ ए॰ व॰ व॰ व॰ में —आम् तिङ् चिह्न पाया जाता है। यह अवेस्ताम्में—अम् पाया जाता है:—वॅरॅ ज्यतम्, ख्योसँन्तम्।

संस्कृत लिट् लकारके रूपोंकी दो प्रमुख विशेषतायें हैं, प्रथम तो इसमें धातुका द्वित्व पाया जाता है, दूसरे तिङ् चिह्न वर्तमानके मुख्य तथा र्जुङ् के गौग तिङ् चिह्नोंसे भिन्न होते हैं। लिट् लकारमें द्वित्ववाले ब्रच्स [पाणिनिने इसकी पारिभाषिक संज्ञा, 'अभ्यास' दी है] में प्रायः 'अ' स्वर [प्रा० भा० यू० \*ए] प्रयुक्त होता है, किंतु जिन कियाओं में मूल स्वर इ या उ होता है, वहाँ द्वित्ववाले ब्रच्सरें 'श्र' के स्थानपर क्रमशः इ या उ स्वर

१. पूर्वोऽभ्यासः । पाणिनिस्त्र ६-१-४.

पाया जाता है:—पपाठ  $[\sqrt{ पट् ]}$ , बभाज  $[\sqrt{ भज्]}$ , दिह्रेष  $[\sqrt{ द्विप् ]}$ , जिलेह  $[\sqrt{ द्विट् ]}$ , खुबोध  $[\sqrt{ द्वुध् ]}$ , खुक्रोध  $[\sqrt{ क्रुध् ]}$ । लिट् के दिखीकरणकी दृष्टिसे इन रूपोंको निम्न वर्गोंमें बाँटा जा सकता है:—

[१] वैदिक संस्कृतमें कतिपय लिट् रूपोंमें द्वित्वाच्त्रमें 'श्र' 'इ' 'उ' के स्थानपर दीर्घ स्वर 'श्रा' 'ई' 'ऊ' पाया जाता है, यथा दाधार [√ धृ], जागार [√ गृ], मामृजे [मृज्], पीपाय [√ पा], तूताव । वस्तुतः ये पौनःपुन्यार्थक बोधक द्वित्वके रूप हैं।

[२] 'ऊ' स्वरवाले दो धातुत्र्यों में द्वित्वरूपमें 'त्र्य' स्वर पाया जाता है:—बभूच [√भू], ससूव [√सू]।

[३] स्रादिमें 'श्र' स्वर ध्वनिवाले धातुश्रोंमें लिट् में आ [अ+अ] पाया जाता है । यथा, श्राद [∠\*ग्रश्रद] [√श्रद्], श्रास [∠\*ग्रश्रस] [√श्रास] । श्रादिमें अ ध्वनिवाले कतिपय धातुश्रोंमें द्वित्व रूपमें 'न्' ध्वनि मी पाई जाती है; श्रानञ्ज, श्रानजें [√श्रञ्ज्], श्रानंश, आनशें [√श्रश्] । इसके सादश्यपर श्रादिमें ऋ ध्वनिवाले धातुश्रोंमें भी यह 'न' तत्त्व पाया जाने लगा है: श्रानचें, आनुचें [√श्रच् श्रथवा √श्रचें] ।

[४] स्रादिमें इ या उ ध्वनिवाले धातुस्रों में इ-उ का दित्व होता है, दितीय स्रक्रमें इ, उ का गुण रूप 'ए'-'स्रो' पाया जाता है तथा प्रथम स्रक्षर एवं दितीय स्रक्षर के स्वरों में संधि रोकनेके लिए 'य' स्रथवा 'व' श्रुतिका प्रयोग किया जाता है; दुर्वल रूपमें इ तथा उ को ई तथा उ वना दिया जाता है। इयेष [इ+य+एब], ईषे [इ+इषे] [√ इष्], उबोच [उ+य+स्रोच], अबे [उ+उचे] [√ उच्]।

[५] य तथा कतिपय व वाले धातुःश्रोंमें भी इसी तरहका दिल पाया जाता है; यहाँ भी दुर्वल रूपमें क्रमशः ई-ऊ पाये जाते हैं:—इयाज-ईजे [ यज् ], उवाच - ऊचे [ यज् ]।

[६] जिन धातुत्र्योंमें 'श्र' व्यक्ति व्यञ्जन-मध्यग हैं, वहाँ द्वित्वरूपमें 'श्र'

<mark>ही पाया जाता है, प्रपात, बभाज, बभार [√ मृ-भर्], प्रपाठ, जगाम |</mark> इसके दुर्वल रूपमें वहाँ धातुके 'अ' के स्थानपर 'ए' हो जाता है<mark>ः तेने, पेचे |</mark>

[७] संस्कृतमें एक धातु ऐसा भी है, जिसमें लिट् में धातुका दित्व नहीं होता : सं० वेद [√ विट् ] । इसके अन्य भा० यू० समानान्तर रूप भी द्वित्वहीन ही है : ग्रीक ओइद [oida], गॉथिक वइत [wait]। वैदिक संस्कृतमें कतिपय अन्य द्वित्वहीन लिट् रूप भी मिलते हैं:—तक्षथु:, तक्षु:, स्कम्भथु:, स्कम्भु:।

भा॰ यू॰ परिवारकी कई भाषात्रों में लिट् [ परिपूर्ण भूत ] में यह द्वित्व प्रक्रिया नहीं पाई जाती । लैतिन तथा जर्मनीय वर्गमें द्वित्व प्रक्रिया नहीं है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि जिस तरह लुड़् एवं लड़्के रूपोंमें प्रा॰ भा॰ यू॰ में 'अ' आगमका प्रयोग अत्यावश्यक था उस तरह लिट्के रूपोंमें द्वित्व प्रक्रिया आवश्यक नहीं मानी जाती थी। वैसे ग्रीक तथा संस्कृतने लिट् रूपोंमें द्वित्व प्रक्रियाका पालन किया है, किंतु यहाँ भी सं॰ वेद, ग्रीक आइद जैसे द्वित्वहीन छुटपुट रूप मिल ही जाते हैं। भा॰ यू॰ भाषात्रोंके लिट्के समानान्तर रूपोंके कतिपय उदाहरण ये हैं:—

सं जजान, ग्रीक गंगान, सं द्रशं, ग्रीक द्राके; सं विच्छेद, चिच्छेद, कै स्किकिदी [scicidi], गाँथिक स्कइस्कइथ [skaiskaiß], दिदेश, दिदिशे, ग्रीक दंदइख [dedeikha], दंदइगमइ [dedegmai], रिरेच, रिरिचे, ग्रीक खंबाइप, खे लीक्वी [liqui], गाँथिक खइह [laihw], सं निनेज, निनिजे, ग्रापरिंश नेनइग [nenaig]।

सं॰ तुतोद, तुतुदुः, लै॰ तुतुदी [tutudi] गाँ॰ स्तइस्तौत [staitaut]।

<sup>1.</sup> T. Burrow: Sanskrit Language p. 342.

सं॰ वनर्त, लै॰ वार्ती, वर्ती [vorti, verti], गाँथिक वर्ध [warheta]।

सं॰ दथर्ष, गाँथिक गन्दर्स [ga-dars] सं॰ जघान, ग्रायरिश उ॰ पु॰ ए॰ व॰ गेगान [gegon], प्र॰ पु॰ ए॰ व॰ गेगाइन [gegoin]।

तिङ् चिह्न:--सर्वेष्रथम तिङ् प्रत्यय कर्नृ वाच्य [परस्मैपद] तथा। स्ववाच्य [ग्रात्मनेपद] के ग्राधार पर दो तरहके होते हैं। इसके बाद प्रत्येक कोटिमें मुख्यं तिङ्चिह्न तथा गौण तिङ्चिह्न इन दो श्रेणियोंको श्रौर माना जा सकता है। ये तिङ् चिह्न पुरुष तथा वचनके अनुसार मिनन भिन्न हैं, तथा प्रा॰ भा॰ यू॰ में 'ग्राथेमेतिक' तथा 'थेमेतिक' रूपोंमें भी ये तिङ् चिह्न भिन्न-भिन्न प्रकारके थे। किन्तु संस्कृतमें ग्राकर यह दूसरा भेद नहीं पाया जाता। [परोच्च भृते] लिट्के तिङ् चिह्न संस्कृतमें बिल्कुल अलग तरहके हैं। मुख्य चिह्नां तथा गौरा चिह्नोंमें जो प्रमुख भेद है, वह यह है कि मुख्य चिह्नोंमें तिङ् चिह्नोंका सवल रूप [strong form] पाया जाता है, जब कि गौए चिह्नोंमें उनका दुर्वल रूप [weak form] पाया जाता है। उदाहरराके लिए, उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, तथा प्रथम पुरुष एकवचनके मुख्य तिङ्चिह क्रमशः मि, सि, ति [अरामि, अरसि, भरति] है, जब कि गौण तिङ् चिह्नोंमें इनके दुर्वल [स्वरहीन] रूप; म, स्, त् [ अभरम्, अभरः, अभरत् ] पाये जाते हैं। यह दुर्नल रूप प्रा॰ भा ॰ यू ॰ में भी पाया जाता था। ग्रीकमें भी इसका ग्रस्तित्व है। संस्कृतके एक ग्रौर चिह्नको ले लें—प्रथम पुरुष बहुवचनका तिङ् चिह्न 'नित' है, जब कि गौरा रूपमें वह \*न्त् पाया जाता है। इस \*न्त् का त् अंश लुप्त हो जाता है, त्रौर इस तरह केवल न बचा रहता है, यथा भरन्ति; अभरन् [ \*श्रभरन्त् ]। विकरणहीन धातुश्रोंमें यह न्ति प्रायः अति के रूपमें परिवर्तित हो जाता है, यथा 🗸 दा-ददित । वस्तुतः व्यञ्जनके बाद यह नित, श्रति हो जाता है [\*दद्+ नित [)देद्-नृति]-दद्+

श्रात = ददिती । उत्तम पुरुष वहुवचनका मुख्य तिङ् चिह्न मिस है, जो संस्कृतमें मस् [मः], [यथा, पठामः में] पाया जाता है। श्रवेस्तामें यह 'मिह' [mahi] हो गया है। ग्रीकमें इसका समानान्तर 'मन्' [men] बादमें विकसित हुआ है। ग्रीककी एक विभाषा दोरिक [Doric] में यह मस् [mes] पाया जाता है। इसीका गौर्ण रूप केवल 'म' [आम] रह गया है, जो अपठाम, अभराम, अगच्छाम ग्रादि रूपोंमें स्पष्ट है। वर्तमाने लट्के मध्यम पुरुष व० व० का 'थ' तिङ् चिह्न संभवतः लिट्का प्रभाव हो; मिलाइये—भरथ, पठथ। द्विचचनके तिङ् चिह्नोंका विकास प्रत्येक भाषामें स्वतन्त्र रूपते पाया जाता है, अतः भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इनके विकासपर कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता। वैसे ये चिह्न तस्, थस्, वस् [तः, थः, वः] तथा ताम, तम, व हैं।

परोत्त भूते लिट्के तिङ्चिह्न सर्वथा भिन्न हैं और ये चिह्न प्रा० मा० यू० लकार चिह्नों से ही विकसित हुए हैं। प्रथम तथा उत्तम पुरुष ए० व० का चिह्न य है, जो सं० वेद, ग्रीक [वा—] आइदा [w]oida] में पाया जाता है। इसका प्रा० भा० यू० रूप \*आ [\*0] था। मध्यम पुरुष ए० व० का चिह्न थ है, जो ग्रीकमें भी थ ही है; किन्तु ग्रीक थ का विकास प्रा० भा० यू० \*ध से भी हो सकता है, अतः इसका प्रा० भा० यू० रूप अनिश्चित ही है। संस्कृतमें लिट्के प्रथम पुरुष ए० व० का चिह्न उः [)उर्] है, जो जग्मुः, पेटुः आदि रूपोंमें स्पष्ट है। यह 'उर्' अवेस्तामें अर्अश् तथा लैतिनमें एरे पाया जाता है। लिट्के अन्य चिह्न प्रायः वर्तमानके चिह्नोंसे विकसित हुए हैं।

प्रा० भा० यू० में स्ववाच्य [ ग्रात्मनेपद ] ए० व० के तिङ् चिह्न ग्रंग्रइ, ग्रंसइ, श्रंतइ हैं। इन्हींसे संस्कृतके ए [भाषे], से [भाषसे], ते [भाषते] विकसित हुए हैं, किन्तु ग्रीकमें अइ, सइ, तइ ही रहे हैं। प्र० पु० व० व० में प्रा० भा० यू० तिङ् चिह्न श्रंतइ है, जो संस्कृतमें-न्ते [भाषन्ते] पाया जाता है, किन्तु जुहोत्यादि धातुश्रोंमें यह चिह्न केवल अते [दद् + श्रते = ददते] ही है ! उत्तम पु० बहु० व० में मुख्य तिङ् चिह्न महे [भाषामहे, भरामहे], तथा गौण तिङ् चिह्न 'महि' [श्रभाषामिह] है ! मध्यम पु० बहु० व० का मुख्य तिङ् चिह्न ध्वे [प्रा० भा० यू० \*ध्वइ] है, जो श्रवेस्तामें दुये हो गया है । इसीका गौण चिह्न ध्वम है, जो श्रवेस्तामें 'दूम' है । श्रात्मनेपदके गौण तिङ् चिह्नोंमें संस्कृतमें छुङ्के उ० पु० ए० व० का चिह्न इ पाया जाता है, जो श्र विकरणसे मिलकर ए भी हो जाता है, यथा  $\sqrt{ हृ-अकि, \sqrt भृ-श्रभरे । यह इ वस्तुतः भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है ।$ 

श्राज्ञार्थे लोट्के म० पु० ए० व० में सिवकरण धातु प्रायः श्रूप तिङ् चिह्न होता है, यथा भू + श्र + ० = भर, किन्तु श्रविकरण धातुमें यह तिङ् चिह्न -द् [हि] होता है, यथा इहि, अद्धि । यह चिह्न प्रा० मा० यू० \*धि से विकसित हुन्ना है। लोट्के प्रथम पु० तथा मध्यम पु० के एकवचनमें तात् तिङ् चिह्न भी पाया जाता है, यथा पठतु—पठतात् , पठ—पठतात् । यह तात् लैतिनमें तोत् [tot] के रूपमें पाया जाता है, अतः इसका विकास प्रा० भा० यू० \*तोत् [\*tot] से माना जा सकता है; लै० वहितो [vehito], सं० वहतात् , लै० एस्तो [सं० स्तात् ] संस्कृतके आत्मनेपदी धातुग्रोंके कई रूपोंमें प्रथम पुरुष एकवचनमें एक 'र्' घ्विति तिङ् चिह्नके साथ-साथ पाई जाती है। यह ध्विन दुहाम, दुहताम, अस्ममृत्रम, श्रदुहन्, श्रशेरन् त्यादिमें देखी जा सकती है। यह 'रेफ' तच्च केहितक परिवारकी श्रायरिश तथा वेल्शमें विशेष पाया जाता है, वैसे लैतिनमें भी यह 'र्' मिडिल' तथा 'पेसिव' वोयस के लिए प्रयुक्त होता है।

<sup>1.</sup> उदाहरणके लिए lueto का मिडिल वायसका रूप lueto-r = lucitur पाया जाता है। देo King and Cockson : P. 148-49.

इसके कुछ रूप इलेतिक परिवारकी भाषात्रोंमें तथा तोखारिशमें भी पाये जाते हैं। संस्कृतके परस्मैपदी तथा त्रात्मनेपदी रूपोंमें कई स्थानपर 'र' पाया जाता है, यह हम देख चुके हैं। इतालिक तथा त्रायरिशके 'मिडिल' तथा 'पेसिव' रूपोंमें यह 'र्' तिङ् चिह्नोंके साथ प्रयुक्त होता है। कुछ उदाहरसा ये हैं:—

त्रायरिश बेरि-र् [beri-r] [उसे ले जाया गया है ।]

,, बेर्ति-र् [berti-r] [उन्हें ले जाया गया है ।]
वेल्श केनिर् [cenir] [संगीत चल रहा है, या संगीत चलेगा ।]

,, दिवेदिर [dywedir] [लोग कहते हैं ।]

वस्तुतः यह र् पुरुषहोन [impersonal] प्रत्यय [श्रथवा विकरण] था, जिससे केवल क्रियामात्रका बीध कराया जाता था।

यहाँ पर दो शब्द गीण धातुरूपों पर कह दिये जायँ। संस्कृतके गीण विश्वास रूपों में बाँटा जा सकता है—[१] कर्मवाच्य रूप, [२] यङन्त तथा यङ्जुगन्तरूप, [३] सन्नन्तरूप, [४] णिजंतरूप, तथा [५] नामधातु। कर्मवाच्य रूपोंमें 'य' विकरण पाया जाता है, इसका संकेत हम कर चुके हैं। इस दृष्टिसे ये रूप दिवादिगणी रूपोंके समान होते हैं। दूसरी विशेषता कर्मवाच्य रूपोंकी यह है कि ये सदा श्रात्मनेपदी ही होते हैं। इन रूपोंमें उदात्त स्वर सदा य विकरण पर पाया जाता है, जब कि दिवादिगणी रूपोंमें यह स्वर धात्वंश पर होता है—म्रियते, ध्रियते, सच्यते, क्षीयते। इस दंगके कर्मवाच्यरूप केवल अवेस्तामें ही मिलते हैं, अन्यत्र नहीं—अवे० किय इन्ते [kiryeinte] सं० कियन्ते । कर्मवाच्यके लिट् तथा लृट्के रूप प्रायः वही होते हैं, जो आत्मनेपदी किया रूपोंके पाये जाते हैं,

<sup>1.</sup> T. Hudson-Williams: A short Introduction to the study of Comparative Grammar, p. 75.

यथा, ददे [दिया गया], दास्यते [दिया जायगा]। यङ्कुगन्त रूपेंका **अ**स्तित्व छान्दस भाषामें भी पाया जाता है तथा वेदमें लगभग ६० धातु-र्ग्नोंके ऐसे रूप पाये जाते हैं। इसमें धातुका द्वित्व रूप पाया जाता है। इ या उ ध्वनिवाले धातुर्श्वोमें इसमें स्वरका गुर्णीभाव पाया जाता है:— <mark>नेनेक्ति–नेनिक्ते [ $\sqrt{}$ नी], वेवेक्ति [ $\sqrt{}$ विद्], देदिष्टे [ $\sqrt{}$ दिश् ], जोहवीित</mark> [√हू]। क्रियाके पौनःपुन्य वोधनके लिए संस्कृतमें उक्त यङ्खुगन्त रूपोंके अतिरिक्त यंङत रूप भी पाये जाते हैं, जिनमें 'य' [ यङ् ] विकरण का प्रयोग होता है, चूँकि उक्त रूपोंमें यह थ नहीं पाया जाता, ग्रतः उन्हें 'यङ् लुगन्त' [यङ्-लुंक्-ग्रन्त] कहा जाता है। य विकरणवाले रूप ये हैं:—जाजायते, जञ्जन्यते, जेन्नीयते, वरीवृत्यते, नरीनृत्यते। शिज्त रूपोंमें चुरादि गराके धातुत्र्योंकी तरह-'श्रय'-विकरण पाया जाता है। प्राचीन भाषामें इन दोनोंमें यह भेद था कि चुरादि गएके शुद्ध <mark>धातुत्रोंमें</mark> धातुका गुणीभाव नहीं पाया जाता, जब कि णिजंत रूपोंमें उसका गुणीभाव पाया जाता है—- द्युतयति-द्योतयति, रुचयति-रोचयति, पतयति-पातयति। इनमें द्वितीय रूप णिजंत प्रक्रियाके हैं। णिजंत रूपोंमें धातुका सदा गुणी-भाव पाया जाता है:—तर्पयति [√ तृप्], वर्धयति [√ वृध्], <mark>बोधयति</mark> [√ बुध्] । त्र्या त्रन्तवाले धातुमें ग्पिजंतमें-प्-विकरग्एका समावेश कर दिया जाता है :—दापयित [ $\sqrt{$ दा], स्नापयित [ $\sqrt{$ स्ना], मापयित [ 🗸 मा], यापयति [ 🗸 या] । कतिपय धातुर्द्योमें च्ल्, न्, ष्, त्, य् भी पाये जाते हैं :—पाछयति [ $\sqrt{\,}$ पा 'रज्ञाकरना'], पाययति [ $\sqrt{\,}$ पा 'पीना'], प्रीणयति [प्री]<mark>, भीषयते</mark> [√भी], घातयति [√हन् ] । सन्नन्त रूपमें <mark>ग</mark> विकरण पाया जाता है तथा घातुका द्वित्व होता है:—बिभित्सित, बुभुत्सामि, दिदन्तामि, विविदिषामि, दित्सामि  $[\sqrt{\,}$ दा],धित्सामि  $[\sqrt{\,}$ धा], शुश्रू-षामि [ $\sqrt{8}$ ु], जिगीषामि [ $\sqrt{3}$ जि]। नामधातुत्र्योंका विकरण भी  $^{'}$ य $^{'}$ है, तथा इनके रूप भी णिजंतकी तरह चुरादिगणी हैं। इनमें उदात्तस्वर विकरण पर ही होता है:—दुण्ड्यामि, श्रर्थयते, चूर्ण्यति, दोलायते, भिषज्यति, तपस्यति ।

इस संबंधमें थोड़ा विचार ऐसे धातुश्रोंपर कर लिया जाय, जो श्रारंभमें भिन्न थे, किन्तु बादमें जाकर परस्पर समाहित हो गये हैं। बैदिक संस्कृतमें कई ऐसे धातुश्रोंका संकेत मिलता है, जो एक ही श्रार्थमें प्रयुक्त होते थे। वैसे मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे इनके श्रार्थोंमें थोड़ा सूक्त भेद श्रावश्य था। धीरे धीरे वह भेद लुप्त हो गया तथा ये धातु एक दूसरेमें समाहित हो गये। उदाहरणके लिए प्रू-श्रम्; प्रश्-दृश्-स्पश्; प्रम-गा-इण् इन तीन वर्गोंको ले लीजिये। भू तथा अस् दोनों धातु सत्तार्थक हैं। श्रारंभिक स्थितिमें दोनों धातुश्रोंके सभी रूप भिन्न भिन्न पाये जाते होंगे। धीरे-धीरे प्रश्रम् धातु प्रमु में समाहित होने लगा, श्रीर श्राज इसके अस्ति, श्रस्तु, आसीत्, स्यात् ये ही रूप पाये जाते हैं, बाकी रूपोंमें प्रमु के रूपोंका ही प्रयोग होता है। यदि प्रश्रम् का भविष्यत् [ लुट् ] पूझा जाय, तो वैयाकरण भविष्यति बतायेगा, स्थरस्यित नहीं। किन्तु प्रभू धातुके स्वयंके सभी रूप सुरचित हैं, तथा वहाँ भवित, भवतु, भवेत, श्रमवत, भविष्यति, भविता, श्रमविष्यत् , भूयात् , बभूव, अभूत् सभी रूप पाये जाते हैं।

√ पश्—दश् तथा √ स्पश् तीनों धातुत्रोंका द्रार्थ 'देखना' है।

√ स्पश् धातु वेदमें पाया जाता है, किन्तु लौकिक संस्कृतमें इसका प्रयोग

एक प्रकारते नहीं पाया जाता, वैसे इससे बना नाम शब्द 'स्पशः' [स्पश् +
अच्] संस्कृतमें प्रयुक्त होता है, यथा 'शब्दिच्चेव नो भाति राजनीति

रपस्पशा' [माव, र सर्ग]। √ पश् तथा दृश् दो द्रालग द्रालग धातु

थे। किंतु वेदमें ही द्राकर हम देखते हैं कि √ पश् के लुङ्वाले रूप

नहीं पाये जाते। धीरे धीरे पश् [पश्य] वर्तमान तथा उससे संबद्ध लकारोंमें

√ दृश् के स्थानपर द्रादेश माना जाने लगा, पश्यति, पश्यतु, पश्येतु,

त्रपश्यत् । किन्तु लुङ् तथा उससे संबद्ध लकारोंमें यह दश् ही रहा, जैसे, इन्यति, श्रद्धाचीत् श्रादि ।

्राम्, गा तथा √ इण् इन तीनों धातुग्रोंका ग्रार्थ 'जाना' है।
√ 'गा' [गमनार्थक] धातु वेदमें पाया जाता है तथा यह 'जुहोत्यादिगण'
का धातु है, जिसके रूप जिगाति, जिगातु ग्रादि पाये जाते हैं। √ गम्
धातु संस्कृतमें स्वतन्त्र रूपमें पाया जाता है, किंतु √ गा धातु व्याकरणमें
√ इण् में ग्राकर समाहित हो गया है। संस्कृत व्याकरणके ग्रनुसार √ इण्
धातुके लुङ्में 'गा' ग्रादेश हो जाता है। पाणिनिके प्रसिद्ध सूत्र 'इणो गा
खुङि' के ग्रनुसार √ इण्—गतौ धातुके लुङ्के रूप श्रगात् ग्रादि बनते हैं।
यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है, क्या इस √ गा का √ गम् से कोई
संबंध है ? हमारे मतानुसार इस √ गा को भी उसी प्रा० भा० यू० घातु
\*ग्वम् से विकसित मानना संगत है। इस \*ग्वम् के, जो स्वयं शूल्यरूप
[zero—form] है, \*ग्वम् तथा \*ग्वेम् संस्कृतमें ग्राकर ध्विन-शास्त्रीय नियमोंके
जा सकते हैं। यह वृद्धि रूप \*ग्वेम् संस्कृतमें ग्राकर ध्विन-शास्त्रीय नियमोंके
ग्रनुसार गा हो जायगा।

असमाणिका किया [infinite verbs]:—ग्रत्र तक हमने समाणिका क्रियात्रों [finite verbs] का उल्लेख किया है। यहाँ संदोपमें ग्रसमाणिका क्रियात्रोंका संकेत कर देना ग्रावश्यक होगा। इन्हें मोटे तौरपर तीन वर्गोंमें वाँट सकते हैं:—[१] वर्तमानकालिक, भूतकालिक तथा भविष्यत्कालिक कृदन्त प्रत्यय; [२] तुमन्तरूप, [३] पूर्वकालिक क्रिया रूप।

१. [ग्र] वर्तमानकालिक कृदन्तं प्रत्यय —न्त्[—त्—], —मान, तथा —ग्रान हैं। इनमें '—न्त्' प्रस्मैपदी रूपोंके साथ जुड़ता है; शेष दो ग्रात्मनेपदीरूपोंके साथ। संस्कृत वैयाकरण इन्हें क्रमशः 'शतृङ्' तथा 'शानच्' कहते हैं। आन ग्रथेमेटिक [ग्र-विकरणहीन] ग्रात्मनेपदी धातुत्रोंमें प्रयुक्त होता है, श्रयानः, ददानः, द्धानः, जबिक—मान थेमेटिक [ग्र-विकरणयुक्त] ग्रात्मनेपदी धातुत्रोंमें प्रयुक्त होता है: — भाषमाणः, भरमाणः,

वर्तमानः, । इन प्रत्ययोंकी न्युत्पत्तिका संकेत हम कर चुके हैं। लैतिनमें इसके समानान्तर रूप क्रमशः—'एन्त्' [—न्त्] तथा —िमिनि, 'मनुस्' पाये जाते हैंः—रिगन्तः स् [reg-ent-es]; श्रह्णम्नुस् [alumnus] । ग्रीकमें कर्तृ वाच्य परस्मैपदी क्रियात्रोंमें—आन्—आन्त् वाले कृदंत रूप पाये जाते हैंः—फरान्त्; एसान्त् । कर्मवाच्य तथा श्रात्मनेपदी रूपोंमें ग्रीकमें —'मनास्' तथा—ग्ना प्रत्यय पाये जाते हैंः—फरामनास् [सं० भरमाणः], बल-म्नान् । संस्कृतसे इन प्रत्ययोंके उदाहरण ये हैंः—

भवत् [भवन्त्-], भवमान, द्विषन्त् , द्विषाण, यन्त्, इयान, जुह्वत् , जुह्वान ।

[ग्रा] भूतकालिक कर्मवाच्य छदंतः—'त [क्त]' तथा 'न'। इनकी व्युत्पत्तिका संकेत हम कर जुके हैं। इनका ग्रीकमें —'तास्' तथा लैतिनमें '—तुस्' रूप मिलता है:—ग्रीक 'बतास्' [सं॰ गतः], क्लुतास् [सं॰ श्रतः], है॰ (इन—) क्लुतुस् [सं॰ श्रुतः]। संस्कृतमें इस प्रत्ययसे निष्पन्न रूपोंमें व्यन्यात्मक तथा सन्व्यात्मक [prosodic] परिवर्तन पाये जाते हैं:—

दग्ध  $[\sqrt{ }$ दह्], नद्ध  $[\sqrt{ }$ नह्], मत्त  $[\sqrt{ }$ मद्], लब्ध  $[\sqrt{ }$ लभ् ], दिष्ट  $[\sqrt{ }$ दिश् ], सिक्त  $[\sqrt{ }$ सिच् ], श्रुत  $[\sqrt{ }$ श्रु], मृढ  $[\sqrt{ }$ सुह् ], शृच्छ्  $[\sqrt{ }$ श्रुच्छ् ], जात  $[\sqrt{ }$ जन्], खात  $[\sqrt{ }$ सन्], हित [-\*धित;  $[\sqrt{ }$ शा], मित  $[\sqrt{ }$ मा], दत्त  $[\sqrt{ }$ दा], शियत  $[\sqrt{ }$ शी], गिलत  $[\sqrt{ }$ गल्], मिलित  $[\sqrt{ }$ मिल्] गृहीत  $[\sqrt{ }$ प्रह्]

कतिपय धातुत्रों में कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत रूपोंमें 'न' प्रत्यय मिलता है। इसका ग्रीकमें 'नास' तथा लैतिनमें 'नुस' रूप पाया जाता हैः ग्री॰, हग्नास्, स्तुग्नास्; लै॰ प्लनुस्, दिग्नुस्। संस्कृतमें इस प्रत्ययके उदाहरण ये हैं:—खिक्क [√िखद्], भिक्क [√िभद्], विषणण [√िसद्], आपक्क [√िपद्], क्षीण [√ित्ती], हीन [√िही], गीर्ण [√गिर्], जीर्सं [√जर्], भग्न [√भञ्], सुग्न [√भुज्],

मग्न [√ मज्ज्], लग्न [√ लग्]

[इ] कर्तृवाच्य भूतकालिक ऋदंतः—इनमें-तवत् [तवन्त्] [सं॰ क्तवतू ] प्रत्यय पाया जाता है। जो वस्तुतः उक्त 'त' वाले रूपोंके साथ - 'वन्त' [वत्] जोडकर बनाया जाता है । उक्त-उक्तवन्त् [उक्तवान्], चिन्तित-चिन्तितवन्त् [ चिन्तितवान् ], आदिष्ट-ग्रादिष्टवन्त् [ग्रादिष्टवान् ] ।

[ई] भविष्यकालिक कर्मवाच्य कृदंत [Gerunds]:—इसमें संस्कृतमें तीन प्रत्यय पाये जाते हैं:— -य-, -तःय-,-अनीय-। इनमें प्रथमका संबंध प्रा॰ भा॰ यू॰ \*या [io] से जोड़ा जाता है, जो ग्रीक हम्यास् ['agios] से स्पष्ट है। इसके संस्कृत उदाहरण ये हैं:—ज्ञेय  $[\sqrt{\pi}]$ , ध्येय  $[\sqrt{2\pi}]$ , विक्रेय  $[\overline{q}+\sqrt{\pi}]$ , नेय  $[\sqrt{\overline{q}}]$ , भाव्य [ 🗸 भू]; पाक्य [ 🗸 पच्], वाच्य [ 🗸 पच्] । द्वितीय प्रत्ययका संबंध प्रा॰ भा॰ यू॰ \*-तवा [teno] से जोड़ा जाता है, जो ग्रीक 'दात्रश्रास्' [doteos] [सं दातन्यम्] से स्पष्ट है । इसके उदाहरणा ये हैं:--

स्थातच्य [√स्था], कर्तंच्य [√कृ], वर्तितच्य [√वृत्] । 'श्रनीयर्' [ग्रानीय] की व्युत्पत्ति संदिग्ध है, वैसे इसकी उत्पत्ति प्रा॰ मा॰ यू॰ \_\*एना, -\*ग्रानासे मानी गई है, जो संस्कृतमें 'श्रन'- [ल्युट्] के रूपमें भी पाया जाता है [पचनम्, मननम्, पठनम् आदिमें]। इसके उदाहरण हैं:—करणीय [ $\sqrt{\,}$ कु], दर्शनीय [ $\sqrt{\,}$ हश् ], भोजनीय [भुज् ], पठनीय  $[\sqrt{qz}]$ , पानीय  $[\sqrt{q}]$ ।

संस्कृतमें भविष्यत्के कर्नृ वाच्य कृदंत रूप भी मिलते हैं, जो वस्तुतः वर्तमानकालिक छदन्तोंमें ही -'स्य'- जोड़कर बनाये जाते हैं: - भविष्यत्, करिष्यमाणः ।

[२] तुमन्त ऋदंत मत्यय [Infinitives]:—वेदोंमें तुमन्त ग्रथमें कई प्रत्यय पाये जाते हैं, जिनका संकेत हम कर चुके हैं। लौकिक संकृतमें -'तुं' ही यचा है। इससे मिलता-जुलता तुमन्त कृदंत केवल लैतिन तथा लिथुत्र्यानियनमें पाया जाता है:—लै॰ दतुम [सं॰ दातुम], लिथु॰ देतुम [सं॰ धातुं],। इसके रूप ये है:—जेतुमं [ $\sqrt$  जि], भेतुम [ $\sqrt$  भी], श्रोतुम [ $\sqrt$  श्रु], वक्तुम [ $\sqrt$  वच्], गन्तुम [ $\sqrt$  गम्], रोहुम [ $\sqrt$  रह्], कुन्दुम [ $\sqrt$  हरा], भिवतुम [ $\sqrt$  सू], शियतुम [ $\sqrt$  शी], वर्तितुम [ $\sqrt$  वृत्], चेष्टितुम [ $\sqrt$  वेष्ट्], प्रहीतुम [प्रह्]।

[3] पूर्वकालिक किया रूप [Absolutives]:—पूर्वकालिक कियार्थमें संस्कृतमें दो प्रत्यय पाये जाते हैं:— 'त्वा', 'य' [ल्यप्]। इनमें प्रथम शुद्ध [ग्रनुपसर्ग] धातुके साथ जोड़ा जाता है, द्वितीय सोपसर्ग धातके साथ। दोनोंके उदाहरण क्रमशः ये हैं:—

जित्वा [ $\sqrt{$  जि], नीत्वा [ $\sqrt{$  नी], श्रुत्वा [श्रु], भूत्वा [भू], सुक्त्वा [ $\sqrt{$  सुच्], जिल्ह्या [ $\sqrt{$  साम्], त्यन्का [ $\sqrt{$  ताज्], ज्ञान्वा [ $\sqrt{$  सा], दुन्वा [ $\sqrt{$  दा], हित्वा [ $\sqrt{$  धा], पीत्वा [ $\sqrt{$  पा] ।

उपनीय [उप $+\sqrt{}$  नी], अव-तीर्थं  $[\sqrt{}$  तृ], नि-पत्य  $[\sqrt{}$  पत्], प्र-विश्य  $[\sqrt{}$  विश् ], आ-हूय  $[\sqrt{}$  हू], आ-ज्ञाय  $[\sqrt{}$  जा], आ-दाय  $[\sqrt{}$  दा], आ-गत्य  $[\sqrt{}$  गम्], अनु-मत्य  $[\sqrt{}$  मन्]।

#### क्रियाविशोषणः-

संस्कृत क्रियाविशेषणोंको हम दो वर्गोंमें विभक्त कर सकते हैं :—
एक वे क्रियाविशेषण जो मूलतः सविभक्तिक रूप थे; ये वस्तुतः संज्ञा शब्द,
विशेषण या सर्वनामसे वने वे सविभक्तिक रूप हैं, जो धीरे धीरे अव्ययके
रूपमें प्रयुक्त होने लगे हैं; दूसरे वे क्रियाविशेषण जो किन्हीं प्रत्ययोंसे वने हैं।
गीक तथा लैतिनमें दोनों तरहके क्रियाविशेषण पाये जाते हैं। वहाँ भी
कई सविभक्तिक शब्द क्रियाविशेषणोंके रूपमें प्रयुक्त देखे जाते हैं।

Atkinson: Greek Language Pp. 100-101. साथ ही Papillon: Comparative Philology applied to Greek and Latin Inflexions. Appedix II C-D. P. 253.

#### १. स्विभक्तिक क्रियाविशेषण :—

[अ] द्वितीया विभक्तिवाले क्रियाविशेषण :—

- [i] संज्ञा रूपोंसे वने किंयाविशेषण:—कामम्, समकालम्, श्रहर्नि-शम्, सुखम्, रहः।
- [ii] विशेषणोंसे वने क्रियाविशेषणः—अनन्तरम्, चिरम्, नित्यम्, प्रत्यक्षम्, बाह्यम्, साम्प्रतम्, आशु, साधु।
- [iii] सर्वनाम शब्दोंसे बने क्रियाविशेषणः—तत्, यत्, किस्, यावत् तावत्। ग्रीकमें भी द्वितीया विभक्तिवाले क्रियाविशेषण पाये जाते हैं:—दिकेन, खरिन्; इनके साथ ही तुलनात्मक विशेषण रूपोंके द्वितीया ए॰ व॰ व॰ व॰ के रूप ही क्रियाविशेषणके रूपमें प्रयुक्त होते हैं:—मकोन्। लैतिनमें भी संज्ञा सर्वनाम तथा विशेषणोंके द्वितीया ए॰ व॰ व॰ के रूप क्रियाविशेषणोंके रूपमें प्रयुक्त होते हैं:—क्वोम्, क्वम्, [ए॰ व॰] क्विअस् [व॰ व॰]।

### [आ] तृतीया विभक्तिवाले क्रियाविशेषण :—

[i] संज्ञावाले रूप :— चणेन, दिष्ट्या, सहसा।

[ii] विशेषणोंसे वने रूप: — दूरेण, दूरतरेण, तिरश्चा, उच्चैः, प्रोच्चैः, शनैः।

[इ] चतुर्थी विभक्तियाला केवल एक ही क्रियाविशेषण संस्कृतमें पाया जाता है:—अर्थाय।

[ई] <mark>पञ्चमी विभक्तिवाले</mark> क्रियाविशेषण प्रचुर हैं:---

[i] संज्ञावाले रूप:—बलात्, संचेपात्।

[ii] विशेषणवाले रूप:—अचिरात् , दूरात् , कुच्छूात् , साचात् ।

[iii] सर्वनामवाले रूप:—तात्, कस्मात्, ग्रीक तथा लैतिनमें स्रापादान [Ablative] वाले सविमक्तिक विशेषण प्रचुर हैं, कतिपय उदाहरण ये हैं:—ग्रीक होस् [सं० तात्]; हापोस् [सं० कस्मात्];

लैतिन रक्तेद् [rected], फिक्छमेद् [facillumed], मिरितोद्

संस्कृतमें पष्ठी विभक्तिवाले क्रियाविशेषण नहीं पाये जाते; लैतिनमें भी इनका स्रभाव है, ग्रीकमें कतिपय सर्वनाम शब्दोंके संबंध कारकीय [genitive] क्रियाविशेषण पाये जाते हैं, जैसे—हाउ [सं० तस्य], हपाउ [सं० कस्य]।

[ऊ] सप्तमी विभक्तिवाले क्रियाघिरोष्णः—

श्रये, श्रर्थे, ऋते।

ग्रीक तथा लैतिनमें ग्रधिकरण [locative] कारकवाले कियाविशेषण पाये जाते हैं; कुछ उदाहरण ये हैं:—ग्रीक हाइ [सं॰ तस्मिन् अथवा तत्र], पोइ [कस्मिन् अथवा कुत्र], हाथि [सं॰ तत्र] पाथि [सं॰ क्व, कुत्र]; लैतिन उनि, इबि [सं॰ तत्र, भ्रत्र]।

२. सप्रत्यय क्रियाविशेषण :—

[ग्रा]-वत् प्रत्यय, जो सादृश्यके ग्रार्थमें पाया जाता है: - खगवत्, पुत्रवत्, मूकवत्, चित्रकर्णवत्, यथावत्। इस प्रत्ययका संबंध पूर्वोक्त तिद्वत प्रत्यय 'वत्'-'वन्त्' से जोड़ा जा सकता है।

[ग्रा] -तः [ तसिल् ] प्रत्ययः - श्रतः, इतः, ततः, यतः, कुतः, परतः, पुरतः, सर्वतः, दूरतः, आदितः, अर्थतः, दैवतः।

इसकी व्युत्पत्ति प्रा॰ भा॰ यू॰ \*तास् से मानी गई है, जिसका रूप श्रीकमें \*तास् तथा लैतिनमें \*तुस् पाया जाता है। यथा, श्रीक एन्तास्, एस्तास्, लैतिन इन्तुस्, रादिकितुस्।

[इ] -ति प्रत्यय-'इति'।

[ई] -त्र प्रत्यय:--- श्रत्र, कुत्र, तत्र, यत्र, अम्यत्र, सर्वत्र ।

<sup>9.</sup> Thumb: Handbuck des Sanskrit § 403, p. 276.

इस प्रत्ययका वैदिक भाषामें — ब्रा रूप भी मिलता है, यत्रा। अवेस्तामें इसका अ रूप पाया जाता है: — अश्र [a bra], यश्र [ya bra]। इसका विकास गाँथिकमें भी पाया जाता है: — विश्र [vi bra] हिंद्रे [hidre] [यहाँ, मि॰ क्रॅंगरेजी हिंद्रर [hither]]। शुम्बने संस्कृत अन्तः [अन्तर्] [लै॰ इन्तेर [inter], प्रातः [प्रातर्] का भी इस 'त्र' से संबंध जोड़ा है, जिसका यहाँ 'तर्' रूप पाया जाता है, वस्तुतः ये दोनों [त्र तथा तर्] मृलतः प्रा॰ भा॰ यू॰ करेरा, तर' से संबद्ध हैं।

[उ]-था प्रत्यय [प्रकारवोधक]:-कथा, तथा, यथा, ग्रन्यथा, सर्वथा। इस प्रत्ययका ग्रवेस्तामें था-थ रूप पाया जाता है।

[ज]-थम् प्रत्यय [प्रकारवोधक] :—कथम्, इत्थम्, [इद् + थम्] । [ए]-दा प्रत्यय [कालबोधक] :—तदा, यदा, कदा, एकदा, सदा [स + दा]।

-दि प्रत्यय: - यदि [ प्राचीन फारसी यदिय् ]।
प्रीक्रमें इससे मिलते जुलते प्रत्यय रूप पाये जाते हैं: - - दोन् ,देन् ,-द, यद्यपि वहाँ ये प्रत्यय प्रकारबोधक हैं: - श्रपास्त-दोन् [ग्रलगसे],
इल-दोन् [भ्रुएडमें]।

पि]-शः प्रत्ययः - खराडशः, गणशः, शतशः, भागशः नित्यशः। प्राकृत ग्रीक [Vulgar Greek] में इसका 'खस्' रूप मिलता है:- अन्द्राखस् [androkhas], हेकस् [hekas]।

[श्रो]<mark>-व प्रत्ययः—इव, एव।</mark>

−ह प्रत्यय :—इह, कुह ।

वैदिक संस्कृतमें इस 'ह' प्रत्ययका घ रूप भी मिलता है: सध [लौ॰ सं॰ सह]। प्राकृतमें भी ह के स्थान पर घ प्रत्यय ही मिलता है,

<sup>9.</sup> Thumb: p. 277.

इथ [महाराष्ट्री प्रा॰] [सं॰ इह] । इससे यह अनुमान होता है कि ये दोनों मूलतः एक ही प्रत्यय हैं, वैभाषिक भेदसे वैदिक कालमें इसके दोनों रूप रहे होंगे । प्राकृतने ध वाला रूप सुरिक्तत रक्खा है, लौकिक संस्कृतने ह वाले रूपको अपनाया है ! भाषाशास्त्रियोंने इनका सम्बन्ध ग्रीकके —थ प्रत्यय तथा लैतिनके —द प्रत्ययसे जोड़ा है जो—ग्रीक, पाथि [pothi], ग्रांस्थ [न] [prosthen], एनथ [entha] लैतिन इन्दे [inde] में पाये जाते हैं ।

<sup>1.</sup> Thumb: Handbuch des Sanskrit § 407 p. 278

# संस्कृत वाक्य-रचना

जैसा कि हम प्रथम परिच्छेदमें बता ग्राये हैं, प्रा० भा० यू० भाषा की वाक्य रचनाके विषयमें भाषाशास्त्रियोंने कोई ग्रनुमान नहीं लगाये हैं। यद्यपि ध्विन तथा पदरचनाकी दृष्टिसे इस काल्पनिक भारोपीय भाषा [Grundsprache] का ग्रत्यधिक विवेचन हो चुका है, किन्तु इसकी वाक्यरचनापर कोई कार्य नहीं हुग्रा है। वैसे कुछ विद्वानोंने, जिनमें प्रमुख नाम श्लेखर [Schleicher] का लिया जा सकता है, इस काल्पनिक भाषामें हमें "एक भेड़ तथा एक घोड़ेकी कहानी" देनेकी चेष्टा की है। इसका एक वाक्य यहाँ इसलिए दिया जाता है कि इस काल्पनिक वाक्य-रचनाका थोड़ा संकेत पाठकोंको मिल जाय। यद्यपि श्लेखरने इसकी ध्वनियोंका प्राचीन रूप दिया है, पर हम यहाँ पर नये संकेतोंका प्रयोग करेंगे, जो ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे विशेष शुद्ध है:—

[\*आविस्...दृदाक एक्वम्स् तम् बाघ गरुम् वघन्तम्, तम् भार मेघम्.....आविस् एक्वभ्यम्स् अ वेवकत् ।]

[\*owis dedorke, ek"ms, tem, baghem, gerum, weghentem tem bharem, meghem,...owis ek"mb"yms a weweket]

सं० [ऋविः...ददर्शं अश्वं तं वाहं गुरुम् वहन्तं, तं भारं महान्तं,... श्रविः खश्वं स्रवोचत् ।]

किन्तु जैसा कि हम बता चुके हैं इस काल्पनिक भाषाके रूप सूत्रमात्र [formulae] हैं । ऋतः इस प्रकारके पुननिर्मित [reconstructed] वाक्योंकी कल्पना वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती, न इससे भाषाविज्ञानमें

तत्र तक कोई सहायता ही पहुँच सकती है, जब तक कि इस वाक्यरचनात्मक विशेषताकी पुष्टि हम किसी बाह्य प्रमाणिसे न दे सकें। ऋतः ऐसी कल्पनाओं की ऋवहेलना करना ही विशेष अयस्कर तथा वैज्ञानिक है। वस्तुतः प्रा॰ मा॰ यू॰ भाषाकी वाक्यरचनाके विषयमें हम कुछ भी नहीं कह सकते।

संस्कृतकी वाक्य-रचना विशेष जटिल नहीं है। प्रत्येक वाक्यमें प्रायः एक क्रिया तथा एक कर्ता होता है, यदि क्रिया सकर्मक है, तो कर्म भी होता है। विशेषण संज्ञाके साथ प्रयुक्त होते हैं तथा क्रियाविशेषणोंका भी प्रयोग होता है। प्रत्येक नाम शब्द वचन, लिंग, तथा कारकसे युक्त होता है। प्रत्येक क्रियामें वाच्य, लकार, पुरुष एवं वचन रहता है। कुछ ऐसे भी श्रव्यय संस्कृत वाक्योंमें प्रयुक्त होते हैं, जिन्हें वैसे तो हम संबंधबोधक परसर्ग [postpositions] कह सकते हैं, किन्तु संस्कृत वैयाकरणोंकी परिभाषामें इन्हें 'कर्मप्रवचनीय' कहना श्रधिक उपयुक्त होगा। ये 'कर्मप्रवचनीय' वाक्यकी क्रियाके साथ किसी कर्नु भिन्न संज्ञा या सर्वनामका संबंध व्यक्त करते हैं। शब्दों तथा वाक्योंको परस्पर कुछ श्रन्य प्रकारके श्रव्ययोंसे जोड़ा जाता है, जो समुच्चय बोधक होते हैं, यथा, च, परं, तथा, श्रथवा।

संस्कृतकी सबसे बड़ी वाक्यरचनात्मक विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक पदका पारस्परिक संबंध विभक्तिके द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसीलिए संस्कृत वाक्यमें किसी पदका ठीक उसी तरह नियत स्थान नहीं होता, जैसा हिंदी ख्रादि ख्राधुनिक भाषाख्रोंमें है। उदाहरणके लिए एक वाक्य छे लीजिये—"स पुरुषः तं श्वानमताडयत्" इस वाक्यको हम "स पुरुषोऽन्ताडयत्तं श्वानं" द्यायवा "तं श्वानमताडयत् स पुरुषः" के रूपमें भी रख सकते हैं। प्रत्येक दशामें इसका ठीक वही ख्रर्थ होगा—उस ख्रादमीने उस कुत्तेको पीटा। ठीक यही बात ग्रीक या लैतिनमें पाई जाती है। संस्कृतके इसी वाक्यके समानान्तर वाक्यको छे छें।

हा अन्थ्रोपास् तान् इन् एपताज़न्। [ho anthropos ton kun eptazen] [उस ब्राइमीने उस कुत्तेको पीटा।] इस वाक्यको यों भी रख सकते हैं:—[१] तान् कुन् एपताज़न् हो बन्धोपास् अथवा [२] हो बन्धोपास् एपताज़न् तान् कुन।

इससे यह स्पष्ट होता है कि ग्रारंभिक स्थितिमें प्रा॰ भा॰ यू॰ वाक्य-रचनाकी एक विशेषता यह रही होगी कि वहाँ पदोंकी कोई नियतस्थित न थी, उनका प्रयोग वाक्यमें कहीं भी हो सकता था, उनके संबंधका बोध विभक्तिके द्वारा करा दिया जाता था।

वाक्यरचनाकी दृष्टिसे सर्वप्रथम हम नाम शब्दोंको छेंगे। नाम शब्दोंकी पदरचनाको हम पूर्ववर्ती परिच्छेदमें देख चुके हैं। नाम शब्दोंके वचनके विषयमें दो बातें कह देना ब्रावश्यक होगा। संस्कृतमें द्विवचन पाया <mark>जाता</mark> हैं। वैसे वादमें प्राकृतमें ग्राकर यह वचन ठीक उसी तरह लुप्त हो गया है, जैसे 'हेलेनिस्टिक' कालमें ग्राकर ग्रीकका द्वियचन लुप्त हो गया है। जैसा कि हम बता चुके हैं द्विवचनका बीज उन दो वस्तुत्रींके वर्णनमें था, जो युग्म रूपमें पाई जाती थी। दूसरी विशेषता यह है कि वैदिक संस्कृतमें कहीं कहीं नपुंसक लिंगके बहुवचन कर्ताके साथ एकवचन क्रियाका प्रयोग पाया जाता है। यह सम्भवतः इसलिए कि नपुसक लिंग व० व० के 'त्राकारान्त' वैकल्पिक रूपको 'त्राकारान्त' स्त्रीलिंगके प्रथमा ए० व० के तुल्य माना जाता हो। यह हम देख चुके हैं कि नपुंसक लिंगके प्रथमा-द्वितीया व॰ व॰ का विभक्तिचिह्न 'ग्रा' भी था [भुवनानि विश्वा]। यह विशेषता ग्रीकमें भी पाई जाती है। होमरकी भाषामें तथा ग्रीककी एक विभाषा 'प्तिक' [Attic] में यह निशेषता पाई जाती हैं। 'हेलेनिस्टिक' कालमें त्र्याकर यह प्रयोग वहुत कम हो गया। संस्कृतमें भी इस तरहके प्रयोगका धीरे-धीरे लोप हो गया, तथा लौकिक संस्कृतमें यह प्रयोग नहीं पाया जाता |

संस्कृतमें वाक्यके कर्त्ताके लिए प्रथमा तथा तृतीया दोनों विभक्तियोंका प्रयोग पाया जाता है। तृतीयाका प्रयोग कर्मवाच्यमें होता है, प्रथमाका

<sup>3.</sup> Atkinson: Greek Language p. 104.

कर्तृ वाच्यमें । तृतीयाका प्रयोग कर्त्ताके त्र्रातिरिक्त करण्में भी पाया जाता है, तभी तो पाणि नने कहा है--कर्नुकरणयोस्तृतीया । कर्नु वाच्यके प्रयोगमें जहाँ सत्तार्थक क्रियाका [भू या ग्रस्का] वर्तमाने प्रयोग होता है, कभी-कभी यह किया प्रयुक्त नहीं होती। किन्तु ऐसी दशामें प्रायः विधेयको उद्देश्यके पूर्व रखते हैं या वादमें। साथ ही ऐसी दशामें विशेषक सर्वनामका सदा प्रयोग होता है। उदाहरणके लिए 'स पुरुषः शूरः' या 'शूरः स पुरुषः' में [म्रास्ति या भवति] क्रियाका प्रयोग करनेकी त्रावश्यकता नहीं, उसके विना भी काम चल सकता है। किन्तु, यदि विधेयका प्रयोग विशेषक सर्वनाम तथा कर्ता [उद्देशय] के बीच किया जायगा, तो कियाके प्रयोगके विना काम नहीं चलेगा। 'स द्युरः पुरुषः' [ श्रस्ति ], में 'श्रस्ति' की स्त्राकांचा बनी रहती है। ठीक यही विशोषता सीकमें पाई जाती है। उदाहरणके लिए, हा अन्थ्रोपास् कजास् [ho anthropos kalos] तथा 'कलोस् हो अन्थ्रोपास्' पूरे वाक्य हैं, किन्तु हो कलास् अन्थ्रोपास् में एस्ति [esti] की ग्रावश्यकता है। इस वाक्यका ऋर्य है, "यह पुरुष अच्छा है''। संबोधनके अर्थमें कभी कभी संस्कृतमें हे का प्रयोग पाया जाता है, हे देव, हे हरे, हे विष्णों। ग्रीकमें संबोधनके ऋथीं घो ि पाया जाता है, जो शब्दके पहले प्रयुक्त होता है, यथा ओ छम्रोस् [o leos] [हे सिंह], श्रो कीत [o krita] [हे न्यायाधीश]।

द्वितीया विभक्तिका प्रयोग प्रायः सकर्मक क्रियाके लिए पाया जाता है। यह वह वस्तु है, जो किसी क्रियाके कर्त्ताका ईप्सिततम कर्म है। 'कर्तुं तीप्सिततमं कर्म'। ईप्सिततम पदमें तमप् का प्रयोग इसलिए किया गया है कि प्रमुख कर्म करते समय जो ख्रीर कर्म होंगे, वे क्रियाके मुख्य कर्म न होंनेके कारण कर्म नहीं माने जायँगे, तथा उनमें द्वितीया विभक्ति नहीं होगी। यथा, दक्ष्ना ओदनं भुङ्के इस वाक्यमें केवल 'ओदन' ही कर्म

है, क्योंकि खानेवालेको ईप्सिततम वही है, दिध नहीं। कर्मवाच्यमें यह कर्म प्रथमा विभक्तिमें प्रयुक्त होता है। ठीक ऐसा ही कर्मवाच्य प्रयोग प्रीक्तमें पाया जाता है, जहाँ कर्म क्रियाका कर्त्ता [nominative] बन जाता है। किन्तु ध्यान रखिये जहाँ प्रीक्रमें कर्मवाच्यके कर्मको कर्त्ता माना जाता है, वहाँ संस्कृतमें इसे कर्त्ता नहीं माना जाता। हमारे वैयाकरणेंके मतानुसार यहाँ प्रथमा विभक्ति होनेपर भी कर्मत्व ही माना जायगा, "रामेण हन्यते वालिः" में "बालिः" प्रथमा विभक्तिमें होते हुए भी कर्म है; 'रामेण' की विभक्ति तृतीया है, किन्तु इस वाक्यका कर्त्ता यही है। यही कारण है कि हमारे व्याकरणमें प्रथमा तथा कर्त्ता, द्वितीया तथा कर्म, तृतीया तथा करणका ठीक वैसा ही ग्राविच्छेय संबंध नहीं है, जैसा ग्रान्य भाषात्रों में। वस्तुतः ग्रान्य भाष यू० भाषात्रोंमें प्रथमा, द्वितीया जैसी कोई गणना है ही नहीं।

कर्मका प्रयोग क्रियासे बने कई क़दन्तोंके साथ भी होता है। यथा शतृ तथा शानच्, क्त-क्तवत् ब्रादिके साथ कर्मकारकका प्रयोग पाया जाता है, यदि वे सकर्मक क्रियासे बने हैं:—

[१] द्धानमम्भोरुहकेसरद्युर्तार्जंटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् ।

[२] सुवर्णस्त्राकिताधराम्बरां विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम् ।

इसी तरह तुमुन्के साथ भी कर्मका प्रयोग पाया जाता है, वसति प्रिय-कामिनांप्रियास्वदते प्राययितुं क ईश्वरः। वैसे वैदिक संस्कृतमें तुमुन् तथा उसके समानान्तर तवे, तवे श्रादिके लिए द्वितीया, चतुर्थी तथा पञ्चमी तीनोंका वैकल्पिक प्रयोग देखा जा जाता है—अहये हन्तवे, परमेतवे। किन्तु लौकिक संस्कृतमें श्राकर केवल द्वितीया ही प्रयुक्त होने लगी।

संस्कृतमें कुछ कियात्रोंके साथ दो कर्म पाये जाते हैं। ये क्रियाएँ द्विकर्मक कहलाती हैं। इन कियात्रोंमें प्रमुख [कथित] तथा गौए [अकथित]

१० दुद्धाच्-पच्-दण्ड्-रुधि-पृच्छि-चि-ब्र-शास्-जि-मन्थ-मुषाम् ।
 कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीह-कृष्-वहाम् ॥

दोनों कर्म द्वितीया विभक्तिमें होते हैं। इसी बातको महर्षि पाणिनि अपने सूत्र 'अकथितक्क' में संकेतित किया है। यह अकथित कर्म प्रायः अन्य किसी कारकका रूप रहता है, जो द्विकर्मक कियाओं के साथ कर्म हो जाता है। यथा, गां दोग्धि पयः [गायसे दूध दुहता है।], माणवकं पन्थानं एच्छति [लड़केंसे मार्ग पूछता है], सुधां चीरनिधि मध्नति [समुद्रसे अमृत मथता है।] ग्रादि वाक्यों में गां, माणवकं, चीरनिधि में यह अकथित कर्मवाली द्वितीया विभक्ति ही है। ग्रीकमें भी कुछ क्रियाओं के साथ दो कमोंका प्रयोग देखा जाता है।

संस्कृत िएजनत प्रक्रियामें जहाँ द्विकर्मक क्रिया होती है, प्रमुख कर्म द्वितीयामें ही बना रहता है, किन्तु गौए कर्मका प्रयोग तृतीयामें होता है, यथा "अचीकरचार हयेन या अमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः" [नैषध, प्र० सर्ग] में प्रधान कर्म अमीः द्वितीयामें है, गौए कर्म हयेन तृतीयामें। जहाँ तक नी, ह, कृष् तथा वह्षातुका प्रश्न है, इनमें गौए कर्म विकल्पसे तृतीया तथा द्वितीया दोनोंमें होता है—भारं वाह्यति भृत्यं भृत्येन वा।

जैसा कि हम बता चुके हैं संस्कृतके कुछ अन्यय आदि ऐसे हैं, जो माषावैज्ञानिक दृष्टिसे परसर्ग [postposition] हैं, तथा जिनके साथ उनसे संबद्ध नाम शब्दोंमें द्वितीया विभक्ति पाई जाती है। जैसे, "द्या मन्तरा वसुमतीमिंप गाधिजन्मा, यद्यन्यमेव निरमास्यत नाकजोकम्" [नैषघ, ११ सर्ग], में 'अन्तरा' के योगसे 'द्यां' में द्वितीया विभक्ति पाई जाती है। पाणिनिके सूत्र 'अन्तरान्तरेण युक्ते' के अनुसार यहाँ द्वितीया विभक्ति होती है। इस तरहके शब्दोंको पारिभाषिक शब्दावलीमें 'कर्मप्रवन्चनीय' कहते हैं। ग्रीकमें भी ऐसे कर्मप्रवचनीय पाये जाते हैं, जिसके साथ कर्म [द्वितीया] का प्रयोग होता है। फिर भी वाक्यरचनाकी दृष्टिसे ग्रीकमें तथा संस्कृतमें एक भेद पाया जाता है। संस्कृतमें जहाँ ये कर्मप्रवचनीय

<sup>1.</sup> Atkinson: Greek Language p. 106.

नियत रूपसे उस कर्मके बाद प्रयुक्त होते हैं, जिससे इनका सम्बन्ध होता है, श्रीकमें ये सदा उसके पूर्व प्रयुक्त होते हैं। इसीलिए जहाँ श्रीकमें ये पुरःसर्भ [preposition] हैं, वहाँ संस्कृतमें ये परसर्भ [postposition] हैं। संस्कृतमें 'अन्तरा द्यां' जैसा प्रयोग ब्याकरणकी दृष्टिसे अशुद्ध होगा।

यहाँपर परसगाँकी उत्यत्तिपर थोड़ा विचार कर लिया जाय। वस्तुतः ये सभी परसर्ग [कुछको छोड़कर] उपसर्गोंसे विकसित हुए हैं। वैदि<mark>क</mark> संस्कृतमें उपसर्ग क्रियाके ग्रविच्छेय ग्रंग न होकर कर्मके बाद प्रयुक्त होते थे, वैसे ये वाक्यमें किसी भी स्थानपर एख दिये जा सकते थे। वैदिक संस्कृतमें ये सदा कियासे द्यालग प्रयुक्त होते रहे हैं, यथा प्र नूनं पूर्णवन्धुरः स्तुतो याहि [१. ६२. ३] में, जहाँ 'म' लौकिक संस्कृतमें त्राकर याहि का अविच्छेच अंग वनकर प्रयाहि रूप वन जाता है। इन्हीं उपसर्गों मेंसे <mark>कई</mark> उपसर्ग क्रियाके त्र्यविच्छेद्य त्र्रंग न रहकर परसर्ग बन गये । कुछुमें उपसर्गोंसे भिन्नता वतानेके लिये अन्य ध्वन्यात्मक ब्रांश जोड दिये गये हैं। उदा-हरराके लिए 'श्रमितः' तथा 'परितः' को लीजिये। वस्तुतः ये श्रमि तथा परि के ही विकसित रूप हैं, जिनमें तः [\*तास्] जोड़कर ये नये रूप बना दिये गये हैं। बादमें जाकर इनके शुद्ध रूप क्रियाके ऋविच्छेच ऋंग— उपसर्ग वन गये, जो अभिषिञ्जति, परिषिञ्जति में स्पष्ट हैं, किन्तु ये '-तः' वाले रूप 'कर्मप्रवचनीय' बन गये हैं। यह उपसर्गोंका दो प्रकारका विकास हमें लौकिक संस्कृतमें कहीं कहीं स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरराके लिए श्रनु को लीजिए, यह श्रनु जब उपसर्ग [क्रियाके अंग] के रूपमें प्रयुक्त होता है, तो कियाकी स ध्वनिको ष बना देता है, श्रनुषिञ्चति । किन्तु यदि वह उपसर्गके रूपमें प्रयुक्त नहीं होता, तो कियाकी 'स' ध्वनि ऋवि-कृत रहती है, अनु सिञ्चित । ग्रीकमें प्रास् [pros] [सं॰ प्र], एपि [epi] [सं॰ अपि], परा [para] [सं॰ परा], हुपा [hupo] (सं॰ उप], अव [awa] [सं॰ अव], हुपर [huper][सं॰ उपरि], परि [peri] [सं॰ परि], अभिक [amphi] [सं॰ ग्रामि] के योगमें कर्मकारक [accusative case] का प्रयोग पाया जाता है। हम देखते हैं कि उपसर्गोमें से अधिकांश संस्कृतमें कर्मवचनीय रूपमें प्रयुक्त होते हैं। संस्कृतसे इस प्रकारके प्रयोगके कुछ उदाहरण दे देना ठीक होगा। संस्कृत व्याकरणके प्रसिद्ध वार्तिक 'ग्रिभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' के श्राधार पर इन उदाहरणोंको ले छें।

- [१] अभितः कृष्णं देवाः ।
- [२] विलङ् च्य लङ्कां निकषा हनिष्यति ।
- [३] हा देवदत्तम् ।

'हा' का प्रयोग इसी ढंगका ग्रीकमें भी पाया जाता है, जहाँ इसका हास् [hos] रूप पाया जाता है।

इसके पूर्व कि करण, सम्प्रदान तथा श्रपादानको छें, पहले संबंध या घष्ठी विभक्तिको ले लें । संबंधको संस्कृत वैयाकरण कारक नहीं मानते । इसका कारण यह है कि कारक वह है, जिसका क्रियासे साद्मात् संबंध हो । षष्टी विभक्तिका संबंध किसी संज्ञा या नाम शब्दसे होता है, यथा "दशरथस्य पुत्रः लङ्कायां बाणेन रावणं जघान" में दशरथस्य का जघान से कोई संबंध नहीं है, उसका संबंध पुत्रः से है । वस्तुतः घष्ठ्यन्त संबंधीका सम्बद्ध नाम शब्दसे वही संबंध होता है, जो क्रियाका श्रपने कर्मसे होता है । किसी संज्ञा या नाम शब्दसे श्रन्य संज्ञा या नाम शब्दके साद्मात् संबद्ध होनेपर प्रथम संज्ञा या नाम शब्द षष्ठ्यन्त होता है । किन्तु कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनमें कर्म घष्ठ्यन्त पाया जाता है । पाणिनिके प्रसिद्ध सूत्र "अधिगर्थदयेषां कर्मणि" में इसका संकेत किया गया है । मातुः स्मरणम्, सिपंषो दयनम् में कर्म घष्ठ्यन्त है । ग्रथवा जैसे, "श्रद्धापि तद्गजघटापटलस्य शेते, भीत्या स्मरन् हरि रहोऽतलमंदुरायाम्" में गजघटापटलस्य में स्मरन् के कारण ही घष्ठीविभक्ति कर्मकी द्योतक है । ग्रीकमें भी कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनमें कर्म [object] में संबंध कारक [Genative Case] पाया जाता है ।

ये कियाएँ मद्यार्थक, स्पर्शार्थक, इच्छार्थक, शासनार्थक तथा अनुभवार्थक हैं। प्रष्ठी विभक्तिका प्रयोग कुछ अव्ययोंके साथ भी पाया जाता है, उदाहर एके लिए 'उपिं' के साथ, यथा "दिचि एस्या अव उपिं?'; "तस्योपि एखत पवनावधूवः''। श्रीक में भी जब हुपर [huper] का प्रयोग ''ऊपर'' अर्थमें होता है, तो संबंधी नाम शब्द संबंध कारक में ही होता है। पष्ठी विभक्तिका अन्य कई स्थलों पर प्रयोग होता है, जिनमें विशेष महत्त्वपूर्ण प्रयोग निष्ठा प्रत्ययके साथ विकल्पसे तृतीया तथा पष्ठीका है। जहाँ निष्ठा प्रत्ययका प्रयोग समस्त शब्द में हो गया है [प्रायः बहु ब्रीहि समास में], वहाँ यदि नाम शब्दका संबंध निष्ठा प्रत्ययके कर्ताके रूपमें है तो तृतीया होगी, किन्तु यदि उसका संबंध निष्ठा प्रत्ययके न होकर समासके अन्य पदसे है, तो पष्ठी विभक्ति होती है:—

[१] प्रतीहार्या गृहीतपञ्जरः [नृतीया]; [२] श्रुतदेहविसर्जनः <mark>पितुः</mark> [षष्ठी] ।

तृतीया विभक्तिका प्रयोग करण्के श्रार्थमें होता है। कर्मवाच्यमें क्रियाका कर्त्ता भी तृतीयान्त होता है, इसे हम बता चुके हैं। कई ऐसे परसर्ग भी हैं, जिनके पूर्व तृतीया विभक्ति पाई जाती है। सह, समं, सार्ध, विना, नाना श्रादि कई के साथ तृतीयाका प्रयोग होता है। इसमें सह, समं, सार्ध का प्रयोग पाया भी जाता है, ये लुत भी हो सकते हैं। पित्रा समं गतः पुत्रः में समं का प्रयोग पाया जाता है। देवो देवेभिरागमत् जैसे प्रयोगोंमें ये लुत हैं। श्रीकमें ठीक ऐसा ही प्रयोग 'सुन्' [sun] का पाया जाता है। ये दोनों प्रा॰ भा॰ यू॰ कसएम [किस्सा से विकसित माने जा सकते हैं। ग्रीकमें वैसे तृतीया [करण, instrumental] तथा सतमी [ग्रिधिकरण locative] दोनों ही चतुर्थी [सम्प्रदान, dative] में समाहित हो गई है, श्रतः वहाँ 'सुन्' के साथ सम्प्रदानका प्रयोग पाया जाता है।

<sup>3.</sup> Atkinon: Greek Language P. 114.

चतुर्थींका प्रयोग सम्प्रदानके अर्थमें होता है। वस्तुतः यह "दानार्थक" कियाका गौरण कर्म होता है, यथा 'बाह्य**राय गां ददाति' में । दा**नार्थक कियाके त्र्यतिरिक्त कभी कभी कथनार्थकमें भी इसका प्रयोग पाया जाता है। संस्कृतमें कुध्, दुह्, ईंग्बी, असूया अर्थवाली कियाओं के कर्म भी चतुर्थीमें पाये जाते हैं:--क्रुध् दुहेर्धासूयार्थानां यं प्रति कोपः। कुछ ऐसे भी परसर्ग ग्रौर शब्द हैं, जिन्हें चतुर्थीका कर्मप्रवचनीय कहना श्रनुचित न होगा । इनका उल्लेख ''नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाळंवषड्योगाच'' इस प्रसिद्ध सूत्रमें हुवा है। ब्राधुनिक यूरोपीय भाषात्र्यों में जर्मनमें चतुर्थी विभक्ति या सम्प्रदान कारक पाया जाता है। कई पुरःसगोंके बाद जर्मनमें संशा या सर्वनाम सम्प्रदान कारकमें होता है। इख़ कान निख़्त ओह ने इह्न गेहेन [Ich kann nicht ohne ihn gehen] [मैं उसके विना नहीं जा सकता], में 'इह न' [ihn] में कर्मकारक [accusative case] है, जो ओह ने [ohne] के साथ प्रयुक्त होता है। लेकिन वोन [von] के साथ सम्प्रदान कारक [dative Case] पाया जाता है, यथा नेह्मेन सी दास बुख़ वोन इह्म [Nehmen Sie das Buch von ihm] [ उससे किताब ले लो । ] ध्यान दीजिये 'इह्न् [ihn] कर्मकारकमें है, तो इह म [ihm] सम्प्रदान कारकमें।

पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग त्रापादानमें पाया जाता है, यथा वृचात् पर्ण पतित में। पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग दो वस्तुत्रोंकी तुलना कर एककी निकृष्टता त्रीर दूसरेकी उत्कृष्टता बतानेके लिए भी होता है—पापीयान् श्रवाद् गर्दभः। कुछ ऐसे परसर्ग भी हैं, जिनके साथ पञ्चमीका प्रयोग होता है, जैसे तस्मात् विना में। भयार्थक तथा त्राणार्थक धातुत्रोंमें भय पैदा करनेवाले हेतुका द्रापादानमें प्रयोग होता है—[भीत्रार्थानां भयहेतुः], यथा, कृष्णाद् विभेति कंसः, कंसात् त्रायते गोपान् कृष्णः।

सप्तमीका प्रयोग त्र्राधिकरणके त्र्रार्थमें पाया जाता है, जैसे गृहे तिष्ठति में। कभी कभी वैदिक संस्कृतमें उप के साथ सप्तमीका प्रयोग पाया जाता है, यथा उप सूर्ये । ग्रीकमें भी हुपा तथा प्रास्के साथ ग्राधिकरण कारकका प्रयोग देखा जाता है । जैसा कि हम बता चुके हैं ग्रीकमें ग्राधिकरण कारक, सम्प्रदानमें समाहित हो गया है, वस्तुतः वहाँ सम्प्रदान कारक पाया जाता है, जो ग्राधिकरणका भी काम करता है । संस्कृतकी सप्तमो विभक्ति किसी कियाके देश तथा कालकी बोधक होती है ।

संज्ञान्त्रोंकी माँ ति ही संस्कृतके सर्वनाम शब्दोंका वाक्यगत प्रयोग देखा जाता है। लोकिक संस्कृतमें सर्वनामोंके प्रयोगमें एक विशेषता पाई जाती है, कि 'अस्मत्', 'युष्मद्' शब्दोंके वैकल्पिक रूपों—मा, वा, मे, ते ग्रादिका प्रयोग वाक्यके ग्रादिमें नहीं होता, जैसे श्रागतस्ते पिता वाक्य शुद्ध है, किन्तु ते पिता श्रागतः के स्थानपर तव पिता आगतः [व्वित्यता श्रागतः] शुद्ध माना जायगा।

विरोषणोंका प्रयोग संस्कृतमें ठीक संज्ञा जैसा ही होता है। ये उसी लिंग, वचन तथा विभक्तिमें प्रयुक्त होते हैं, जो लिंग, वचन तथा विभक्ति विरोष्य नाम राव्दकी होती है, यथा, कृष्णः पुरुषः, कृष्णा स्त्री, कृष्णं वस्त्रं स्नादिमें।

श्रव हम परस्मैपद तथा श्रात्मनेपदके वाक्यगत प्रयोगकी श्रोर श्राते हैं। ग्रीकमें भी ये दोनों प्रकारके पद पाये जाते हैं, जो वहाँ क्रमशः "एक्टिय" एवं "मिडिल वॉयस" कहलाते हैं। श्रारंभमें श्रात्मनेपदका प्रयोग प्रायः कर्चाके श्रपने श्राप क्रियाफलके भोक्ता होनेके श्रथमें होता था, किन्तु धीरे-धीरे परस्मैपद तथा श्रात्मनेपदका इस प्रकारका मेद नष्ट हो गया। लौकिक संस्कृतमें श्राकर हम देखते हैं कि कुछ क्रियाएँ [धातु] केवल परस्मैपदी हैं, कुछ केवल श्रात्मनेपदी। कुछ क्रियाएँ ऐसी भी हैं, जिनके रूप दोनों प्रकारके पदोंमें पाये जाते हैं। ये उभयपदी धातु हैं। लौकिक संस्कृतमें यह भी देखा जाता है कि कुछ उपसगोंके प्रयोगसे धातुका पद भी बदल जाता है। उदाहरणके लिए √ स्था धातुको लीजिये। इस धातुके पूर्व सम, श्रव, प्र, वि उपसगोंमेंसे किसी एकके होनेपर, यह धातु श्रात्मनेपदी बन जाता है, [समवप्रविभ्यः स्थः]। इसके उदाहरण संतिष्ठते, श्रवतिष्ठते,

वितिष्ठते, प्रतिष्ठते: संतस्थे, त्रवतस्थे, वितस्थे, प्रतस्थे दिये जा सकते हैं, अन्यथा परस्मैपदके रूप तिष्ठति, तस्थौ बनते हैं । इसी प्रकार √ि ज धातुके पूर्व वि, परा उपसर्ग होनेपर ब्रात्मनेपद होता है, [विपराभ्यां जेः], जयित; विजयते, पराजयते । इस प्रकार हम देखते हैं कि परस्मैपद तथा ग्रात्मनेपदका त्र्यव लौकिक संस्कृतमें ठीक वही रूप नहीं रह गया है, जो मूलतः था। ठीक ऐसा ही परिवर्तन ग्रीकमें भी हो गया है। ग्रीकमें तो यहाँ तक पाया जाता है कि कुछ धातु जो वस्तुतः 'एक्टिय वॉयस' के हैं, उनके मिवध्यत् [Future Indefinite] रूप 'मिडिल वॉयस' में पाये जाते हैं, तथा कुछ धात जो वस्तुतः 'मिडिल वॉयस' [त्र्यात्मनेपदी] हैं, उनके परोक्तभूत 'एक्टिव वॉयस' [परस्मैपदी] हैं। उदाहरराके लिए संस्कृत √ दश् धातुके समानान्तर ग्रीक धातुको ले हैं । इसका उत्तम पुरुष एकवचनका वर्तमान कालिक [Present Indefinite, संस्कृत लट्] रूप "दर्कोमइ" [derkomai] [सं॰ \*इशे [पश्यामि] ] है, जो वस्तुतः मिडिल वॉयसका रूप है। किन्तु इसका परोद्धाभूत रूप ग्रीकमें ददार्क [dedorka] [सं० ददर्शी पाया जाता है, जो एक्टिय वॉयसका रूप है। संस्कृतमें दश् के स्थानपर परय् के त्रादेशके भाषावैज्ञानिक तथ्य का संकेत हम पूर्ववर्त्ती परिच्छेदमें कर चुके हैं। वैदिक संस्कृतसे भी इसी ढंगका एक दूसरा उदाहरण दिया जा सकता है, जहाँ वर्तते के साथ ही साथ उसका लिट् रूप ववर्त भी पाया जाता है। संस्कृतमें ये दोनों, आत्मनेपद तथा परस्भैपद कर्त्वाच्यमें प्रयुक्त होते हैं।

कर्मवाच्य रूपोंका प्रयोग प्रा० भा० यू० में नहीं होता था। किन्तु ज्यों-ज्यों सम्यताका विकास हुन्ना, भावोंकी श्रिभव्यंजनाके लिए इसकी श्रावश्यकता हुई, इसकी पूर्तिके लिए कोई न कोई प्रणालीका श्राश्रय लिया गया। ग्रीकमें प्रायः श्रकर्मक श्रात्मनेपदी क्रियाश्रोंके द्वारा कर्मवाच्यका

<sup>1.</sup> Atkinson. Greek Language p. 139.

बोध कराया जाने लगा। उदाहरराके लिए तिथेमि [tithemi] सिं• द्धामि] के कर्मवाच्यका बोध केइमइ [keimai] [धीये] मिं धारण किया जाता हूँ ] के द्वारा कराया जाने लगा। संस्कृतने भी वैसे तो कर्मवाच्यके लिए ब्रात्मनेपदी रूपोंका ही ब्राश्रय लिया, किन्त इसमें धातके मूल रूपके साथ बीचमें 'य' का प्रयोग भी जोड़ना आरंभ किया। यथा, संस्कृत पठित, गच्छति, ददाति से क्रमशः पट्यते, गम्यते, दीयते रूप वनाये गये । ध्यान रिखये, संस्कृतके कर्मवाच्य सदा त्र्यात्मनेपदी होते हैं, परस्मैपदी नहीं। इन्हींसे संबद्ध वे घातु हैं, जिनके भाववाच्य रूप मिलते हैं। ये भाववाच्य रूप क्या हैं ? जिन धातुग्रोंको सकर्मक श्रेगीमें रक्खा जाता है, उनके कर्मवाच्य प्रयोगमें कर्त्ता तृतीया विमक्तिमें तथा कम प्रथमा विभक्तिमें होता है, यथा तेन पुस्तकं पट्यते में। इसमें क्रियाका पुरुष तथा वचन कर्मके ऋनुकृल होता है। किन्तु श्रकर्मक कियात्रों के भी कर्मवाच्य जैसे श्रात्मनेपदी रूप पाये जाते हैं । इन्हें भाववाच्य रूप कहते हैं । वाक्यरचनाकी दृष्टिसे इनमें तथा कर्म-वाच्य रूपोंमें यह मेद होता है कि इनका कर्ता तो तृतीयान्त होता है, किन्तु कर्मके अभावके कारण किया सदैव प्रथम पुरुष एकवचनमें होती है-यथा मया स्थीयते, तेन भूयते, रामेण शीयते, तैर्म्नियते, अस्माभिः चीयते ग्रादिमें।

काल तथा लकारके वाक्यगत प्रयोगकी ग्रोर ग्राते हुए हम देखते हैं कि संस्कृतमें तीन काल तथा दस लकार पाये जाते हैं। यहाँ हमने बैदिक लकार लेट्को ग्रलगसे नहीं माना है। वर्तमानके लिए लट् लकारका प्रयोग होता है, किन्तु यह वर्तमान कई भावोंका बोध करानेके लिए प्रयुक्त होता है। सर्वप्रथम यह किसी शास्वत सत्यका बोध कराता है, यथा जले

त्रज्जा-सत्ता-स्थिति-जागरणं वृद्धित्त्यभयजीवितमरणम् ।
 श्रयनक्रीडारुचिदीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः ॥

पद्मं उत्पचते । दूसरे, यह वर्तमानकालिक क्रियाका बोध कराता है, यथां श्रहं ओदनं भुञ्जे । इसका तीसरा प्रयोग ऐतिहासिक रूपमें श्रुतीतकी घटनाश्रोंके वर्णनके लिए पाया जाता है, यथा अस्ति बहास्थलं नाम नगरम् । तत्र काचित् दीना बाह्यणी प्रतिवसित । संस्कृतमें यावत् तथा पुरा के बोगमें वर्तमान कालका प्रयोग पाया जाता है [यावत् पुरानिपातयो- र्लंट् ] । ऐसी ही विशेषता ग्रीक तथा लैतिनमें भी पाई जाती है । ग्रोकमें परास् [paros] [सं॰ पुरा] तथा पलइ [palai] के योगमें क्रिया सदा वर्तमानकालमें पाई जाती है । वर्तमान फ्रोंचके बोलचालमें इस प्रकारका प्रयोग पाया जाता है, जहाँ वर्तमान कालका प्रयोग भृतकालके श्रथमें होता है, जब कि कार्य पूर्णतः समाप्त नहीं हुवा है, यथा 'जे स्विजिसी देखा लाँ ताँप [ Je snis ici depuis long temps ] [ मैं यहाँ बड़ी देर से हूँ । ] इसी भावके बोधनके लिए प्रा॰ भा॰ यू॰ में परोच्चभूते लिट्का प्रयोग होता था।

इस संबंधमें हम पहले परोद्धाभूते लिट् को ले छें। जैसा कि हम बता आये हैं 'लिट्' का प्रा० मा० यू० प्रयोग शुद्ध भूतकालिक न था। साथ ही वैदिक साहित्यमें भी इसका प्रयोग वर्तमानके अर्थमें होता रहा है। लौकिक संस्कृतमें आकर यह 'लिट्' लकार उस भूतकालिक घटनाके लिए प्रयुक्त होने लगा, जो हमारे परोद्धामें हुई है। किन्तु यहाँ परोद्धाका तात्पर्य उस कालसे है, जब बक्ता उस समय उत्पन्न ही न हुवा हो जब कि घटना घटित हुई थी। अतः वक्ताके जीवनकालमें हुई घटनाके लिए लङ् लकारका या लुङ् का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार लौकिक संस्कृतमें आकर लिट्का प्रयोग ऋथे की दृष्टिसे बहुत संकुचित हो गया है। अतीतकी प्रत्यन्च घटनाके वर्णनमें लिट्का प्रयोग लौकिक संस्कृतमें अशुद्ध माना जाने लगा है। 'रामो रावणं जघान'' का लिट्वाला प्रयोग शुद्ध है, किन्तु "अहं काशीं जगाम" का प्रयोग अशुद्ध माना जायगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि लिट् लकारका प्रयोग उत्तम पुरुषके साथ कभी भी प्रयुक्त नहीं होता।

वैयाकरणोंने वताया है कि जहाँ व्यक्ति स्वयं वर्तमानकालमें अपने द्वारा किये गये भूतकालिक व्यापारको किन्हीं कार्योंमें अत्यधिक व्यस्त होनेके कारण नहीं जान पाता, वहाँ भी इस तरहका प्रयोग हो सकता है। इसी तरह प्रथम पुरुष एवं अन्य पुरुषके विषयमें भी जहाँ कोई कार्य आपके सम्मुख न हुआ हो, तथा उस कियाका केवल साधन ही आपका प्रत्यन्त विषय हो, वहाँ भी लिट् का प्रयोग हो सकता है, जैसे अयं पपाच [इसने पकाया], वं पेचिथ [तुमने पकाया]। उत्तम पुरुषके साथ लिट्के प्रयोगका उदाहरण माघका एक प्रसिद्ध पद्य है:—

बंहु जगद पुरस्तात् तस्य मत्ता किलाहं चकर च किल चाटु प्रौढयोषिद्वदस्य । विदितमिति सखीभ्यो रात्रिवृत्तं विचिन्त्य व्यपगतमदयाऽह्नि ब्रीडितं मुग्धवध्वा ॥ [११-३६]

इस पद्यमें उत्तम पुरुषके साथ लिट् [जगद, चकर] का प्रयोग इसलिये अदुष्ट है कि मुग्धानायिका उस समय शराबके नशेमें चूर थी, पर अब सुबह सिख्यों को ठिठौली करते देखकर वह समक गई है कि रातको उसने पितके समद्द प्रौटाकी तरह ग्राचरण किया था। पर वह तो नशे में थी, उसे ग्रामी भी पूरी तरह पता नहीं है, ग्रातः ग्रापने उक्त ग्राचरणका वह ग्रामान भर लगा पाती है, मदके कारण उसे उसका प्रत्यच्च ज्ञान नहीं। फलतः यहाँ किवने लिट्का प्रयोग किया है, जो इस बातकी व्यंजना कराता है कि नायिका ने जो भी किया वह मदके कारण था, मद न होनेपर मुग्धानायिका ऐसा ग्राचरण कदापि न करती, साथ ही मदके उतरनेपर स्वयं उसे ही पता नहीं है कि उसने मदाविष्ट होकर क्या किया था।

भूतकालके द्योतनके लिए अनद्यतनभृते लुङ् तथा सामान्यभृते लुङ् दो रूप भ्रौर पाये जाते हैं। जैसा कि पारिभाषिक संज्ञासे स्पष्ट है, लङ्का

१. देखिये सिद्धांतकौमुदीमें 'परोचे जिट्' [३-२-११५] सूत्रको ज्ञानेन्द्रसरस्वतीकृत तत्त्वबोधिनी व्याख्या ।

प्रयोग उस घटनाके लिए होता है, जो ब्राज घटित नहीं हुई है, तथा जुङ्का प्रयोग किसी भी भूतकालिक घटनाके लिए हो सकता है। किन्तु लङ् तथा जुङ्का प्रा० भा० यू० रूप थोड़ा भिन्न था। प्रीकमें यह भिन्नता पाई जाती है। वहाँ लङ् [Imperfect] कियाको ब्रपूर्णावस्थाको व्यक्त करता है, तो जुङ् [Aorist] कियाकी पूर्णता को।

भविष्यत् कालके लिए संस्कृतमें दो लकार पाये जाते हैं, लुट् तथा लुट् । वैसे तान्विक दृष्टिसे इनके प्रयोगमें विशेष भेद नहीं जान पड़ता । संस्कृतमें ग्राधिकतर वाक्यगत प्रयोग 'लुट्' का ही देखा जाता है । इसीसे रूपकी दृष्टिसे मिलता जुलता हेतुहेतुमत् है, जो हेतु वाक्य तथा हेतुमत् वाक्य दोनोंमें भृतकालिक स्थितिको वतानेके लिए किया जाता है । इन वाक्योंमें "यदि" तथा "तिहीं" [तदा] का प्रयोग समुच्चयबोधक ग्राव्यक्षे रूपमें होता है, यथा "यदि त्वमपठिष्यः तिहीं परीक्षामुदत-रिष्यः" । जैसा कि हम बता चुके हैं लुङ् वस्तुतः लुट् तथा लङ् रूपोंके योगसे बना है ।

त्र्य हमारे सामने तीन लकार श्रीर रह जाते हैं, श्राज्ञार्थे लोट्, के विधिलिङ् तथा श्राशीर्लिङ् । जैसा कि हम बता श्राये हैं, श्राज्ञावेषक तथा विध्यात्मक प्रयोग प्रा० मा० यू० में पाये जाते थे । श्राज्ञात्मक रूपों में कोई तिङ् चिह्न नहीं पाया जाता था । संस्कृतका श्राशीर्लिङ् विधिलिङ्का ही विकसित रूप है । संस्कृत वाक्य रचनामें श्रिषकतर विधिलिङ्का प्रयोग देखा जाता है । कभी कभी विधिके लिए श्राशीर्लिङ्का तथा 'श्राशीः' के लिए विधिलिङ्का प्रयोग भी देखा जाता है । लोट्का प्रयोग श्रवश्य व्यवस्वतन्त्र है । वस्तुतः लोट् श्राज्ञा या 'मिलिट्री कमाएड' के भावका वहन करता है । लिङ्में वक्ता केवल श्रपनी इच्छा प्रकट करता है । यहाँ लोट्के विषयमें एक बात कह दी जाय । संस्कृत वाक्यरचनामें लोट्के साथ निषेधिक रूपमें 'मा' [ माङ् ] का प्रयोग पाया जाता है । इस श्राज्ञार्थक रूपमें कभी-कभी मा के साथ 'लुङ्' का भी प्रयोग पाया जाता है, किन्तु

इस दशामें माड्यू के योगमें जुड्के अ ग्रागमका लोप हो जाता है। उदाहरणके लिए, वस्से मा गा विषादं वाक्यको ले लें, यहाँ क्रियाका मूल रूप 'अगाः' है, जहाँ मा के कारण अ का लोप हो गया है। ध्यान रिख्ये, यह अगाः व्याकरणके मतानुसार √ इण् [इण् गतो ] के जुड्का रूप है [इणो गा जुड़ि], किन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे इसका संबंध किसी न किसी रूपमें √ गम् धातुसे ग्रवश्य रहा होगा, इसका संकेत हम कर ग्राये हैं। वस्तुतः यह गमनार्थक √ गा धातुका रूप है, जो √ गम् का ही सबल रूप है तथा जिसका प्रयोग लौकिक संस्कृतमें जुप्त हो गया है। यह जुहोत्यादिगणका धातु था जिसके रूप जिगाति ग्रादि होते थे।

जैसा कि हम अगले परिच्छेदमें बतायँगे सारत्यप्रवृत्तिके कारण संस्कृतकी वाक्यरचना तथा उसके कारक-नियम धीरे-धीरे सरलता की और बढ़ने लगे। प्राकृतने किर भी संस्कृत वाक्यरचनाकी परम्पराको एक तरहसे अन्तुएण बनाये रक्ता। अपभ्रंश कालमें सुप् चिह्न धिसकर परसर्गोंका रूप ले रहे थे, भाषा विश्लिष्ट प्रवृत्तिको ओर बढ़ रही थी, फलतः संस्कृत बाली वाक्यपरम्परामें परिवर्तन दिखाई देता है। अधिनक भारतीय आर्थ भाषाओंने इसी विश्लिष्ट प्रवृत्तिका आश्रय लिया है। यही कारण है कि हमें संस्कृतकी वाक्यरचना आजकी भाषाओं व बोलियोंकी वाक्यरचनासे भिन्न दिखाई देगी। किन्तु आधुनिक भारतीय आर्थ भाषाओंकी व्यवहित प्रवृत्तिके मूलके लिए हमें संस्कृत वाक्यरचनाका पर्यवेद्यण करना आवश्यक होगा।

## संस्कृतका परवर्ती विकास

श्रपनी प्रसिद्ध पुस्तक "लेग्वेंज, इट्स नेचर, डेवलपमेंट एन्ड श्रॉरि-ज़िन'' [भाषा, उसकी प्रकृति, विकास तथा उद्भव-स्रोत] की भूमिका में एक स्थान पर भाषाविज्ञानको त्र्योत्तो येस्पर्सनने भाषात्मक प्राणिशास्त्र [linguistic biology] कहा है। भाषावैज्ञानिकोंका ग्राभिनवतम दल भाषाके जीवनको विकासशील मानता है, साथ ही यह भी कि भाषाके बीवनमें उसका व्यवहार करनेवाली मानव-जातिका इतिहास, उस जाति-विशेषका विकास तरिलत रहता है। यही कारण है कि भाषाविज्ञान समाज-विज्ञानका महत्त्वपूर्ण ऋंग है। भाषाके विकासको गति देनेमें राजनीतिक, भौगोलिक, साहित्यिक कई परिस्थितियाँ हाथ वँटाती हैं। विशेषकर भाषाको ह्म ह्म देनेमें साहित्य बहुत हाथ बँदाता है। किन्तु दूसरी ओर इसी कारणसे भाषाकी नैसर्गिकता फूट निकलती है। ज्यों ज्यों व्याकरणके नियमों-के द्वारा भाषाके वास्तविक रूपको मार्जित, परिष्कृत, पौढ तथा साहित्यिक रूप देनेका प्रयत्न किया जाता है, त्यों त्यों भाषाका रूढ रूप स्थिर या "मृत" हो जाता है, पर बोलचालकी भाषाकी गत्यात्मकता जारी रहती है, उसमें कोई अवरोध नहीं होता। अब प्रश्न यह होता है, कि भाषाकी गत्यात्मकताकी विशेषता क्या है, और इसे हम एक शब्दमें यों कह सकते हैं कि भाषाके विकासकी सबसे वड़ी विशेषता विशेषीकरण [Specialization] है। यदि ग्राप किसो भी प्राणिशास्त्रीसे पूलें कि प्राणियोंकी विभिन्न जातियों [Species] के विकासमें प्रमुख विशेषता क्या है, तो संभवतः वह यही बतायेगा कि प्रत्येक प्राणी ऋपने वर्गकी सीमाके ऋंतर्गत

<sup>1.</sup> Otto Jespersen: Language, its Nature, Development and Origin P. 8.

विशेषीकरणकी त्रोर अग्रसर होता है। इस विशेषीकरणमें, जितनी भी ग्रव्यवहृत तथा ग्रनावश्यक वस्तुएँ हैं, वे नष्ट होती रहती हैं। उदाहरणके लिए प्राणिशास्त्रके "सरीस्प-वर्ग" [रेप्टाइल्स] के इतिहासको देखिये। प्राणिशास्त्रियोंका कहना है कि हजारों वर्ष पूर्व इन प्राणियोंके छोटे-छोटे पाँव होते थे, किन्तु धीरे धीरे थे पेटके वल चलने लगे ग्रीर वैसे इस जातिके कई प्राणियोंमें जैसे मगर ग्रादिमें ग्रव भी पैर होते ही हैं। पर इनमेंसे छुछ उपवर्गके प्राणियोंमें ग्राज पैर नहीं पाये जाते, जैसे सर्प उपवर्गके प्राणियोंमें। इसी प्रकार भाषामें ख्यों-ज्यों विकास होता है, ग्रव्यवहृत तथा ग्रानावश्यक तन्त्व नष्ट हो जाते हैं, वह सरलताकी ग्रोर बढ़ती जाती है।

योत्तो येस्पर्सनने एक अन्य स्थानपर कहा है—"भाषाकी यह सरलता-प्रवृत्ति विकासवती तथा लाभदायक है, इस वातको पुरानी पीढ़ीके भाषा-वैज्ञानिकोंने उपेद्धित ही समभा, क्योंकि प्राचीन भाषाओंके रूपमें उन्होंने एक रम्य सुव्यवस्थित विश्वका दर्शन किया और वे उसके आदी हो गये थे, फलतः उन्होंने उस व्यवस्थाका नवीन भाषाओं में अभाव पाया।" चाहे पुराने विद्वान् भाषाकी इस सारल्य-प्रवृत्तिको हास समभों, भाषाके भ्रष्ट होनेका लच्या माने, भाषावैज्ञानिक तो इस प्रवृत्तिको भाषाके विकासके लिए उपयोगी ही समझता है। भाषावैज्ञानिक भाषाके निरन्तर प्रवहमान

<sup>1.</sup> प्राणिशास्त्रमें इसी संबंधमें एक सिद्धान्त है, जो लेमार्कियन थियरीके नामसे प्रसिद्ध है। यह मत [Theory of use and disuse] कहलाता है। इसके मतानुसार प्राणियोंके वे श्रंग जो ज्यादा काममें श्राते हैं विकसित और श्राभिट्छ होते हैं, श्रीर वे जो काममें कम आते हैं या नहीं आते, नष्ट होते जाते हैं। उसके मतसे ऊँट या जिराफकी लंबीगर्दन भी ज्यादा काममें आनेका ही फल है। पर श्रव लेमार्कके सिद्धान्तका मेण्डेलके 'हेरेडिटरी लाज' [Hereditary Laws] [पैतृक नियम] के द्वारा खंडन हो गया है।

<sup>3.</sup> Otto Jespersen: Language, ch. XVIII. P. 366.

निर्भरको ही नैसर्गिक रूप मानता है, व्याकरएके ग्रालवालसे परिवेष्टित कलुपित पल्वलवाले रूट रूप को नहीं । ग्रोर इस दृष्टिसे पुरानी माषाग्रोंको, जो ग्राज प्रवहमान निर्भरकी स्थितिमें नहीं हैं, वह "मृत" कहता है, तो इसमें उसका यही भाव है, तथा लोगोंको इसमें कोई ग्रापत्ति होनेकी गुंजायश नहीं । "मृत" विशेषणसे उसका यह भाव नहीं, िक ये विगत साहित्यिक रूट भाषायें ग्रव ग्रध्ययनकी चीज नहीं है । ग्रापितु भाषाविज्ञानिक लिए उनके ग्रध्ययनका बहुत बड़ा महत्त्व है, वह उसके वैज्ञानिक ग्रध्ययनकी निश्चित इट ग्राधार-भित्ति जो है । भाषावैज्ञानिक लिए ही नहीं, समाजवैज्ञानिक लिए भी इन "मृत" भाषाग्रोंके साहित्य तथा भाषावैज्ञानिक स्वरूपका ग्रध्ययन ग्रत्यन्त उपयोगी है, इसे मृल जाना भ्रान्त दिशाकी ग्रोर ही ले जायगा ।

तो, येस्पर्सन के द्वारा संकेतित सारल्य-प्रवृत्ति भाषा के विकासकी जान है। इस देखते हैं कि त्राधुनिक ग्रीक, होमर या त्र्यरस्त्की ग्रीककी ऋपेद्या कम जिटल है। इसी प्रकार श्राधुनिक फारसी, श्रावेस्ताकी भाषा, या पहलवी [प्राचीन फारसी] से श्राधिक सरल है। ठीक यही बात संस्कृत तथा उसके परवर्ती विकासके वारेमें देख सकते हैं। यदि जांटलताकी दृष्टिसे देखा जाय तो भा० यू० परिवारमें संस्कृतका व्याकरणात्मक संघटन सबसे श्राधिक जांटल है। इस दृष्टिसे ग्रीक या लैतिन भी संस्कृतसे कम जिटल है। इसका संकेत हम यह यत्र तत्र दे चुके हैं। श्राधुनिक यूरोपीय भाषाश्रोंमें व्याकरणात्मक दृष्टिसे रूसी तथा जर्मन कुछ जिटल हैं, संस्कृत उनसे भी जिटलतर है। पर संस्कृतका परवर्ती विकास धीरे-धीरे व्याकरणात्मक [ध्वन्यात्मक भी] सरलता की श्रोर बढ़ता है। जैसा कि हम देखेंगे प्राकृतकालमें व्याकरणात्मक सारल्य बढ़ गया श्रोर श्रापभंशकालमें तो श्राजकी व्यवहित प्रवृत्ति पाई जाने लगी। संस्कृतकी श्रापेदा शौरसेनी एवं मागधी विशेष सरल है, श्रीर श्राजकी हिन्दी या बंगाली इन सभीसे श्रिधिक सरल है। इसका कारण यह है कि श्राधुनिक [वर्तमान] मारतीय माषाएँ श्रपने प्राचीन रूपोंको

छोड़ती हुई विशेष सारल्य तथा विशेषीकरएकी श्रोर वह गई हैं। उदाहरणके लिए सुप्-तिङ् रूपोंको लीजिये। संस्कृतके इन रूपोंको जिटलता कम
हो गई है। दिवन्धन प्राकृतकालमें ही लुप्त हो गया है, प्राकृतकालमें चतुर्थीषष्ठी, पञ्चमी-तृतीयाका समारलेष हो गया है। यह सरलता इतनी बढ़ी कि
श्राधुनिक भारतीय भाषाश्रोंमें दो ही विभक्ति रूप रह गए हैं:—श्रविकारी
तथा विकारी। इनमें संबंधतत्त्वका बोधन करानेके लिए "परसगों"
[postpositions] का विकास हो गया है, जो कभी सुप् चिह्नांसे, कभी
किन्हीं श्रव्ययोंसे विकसित हुए हैं। लिंगोंकी दृष्टिसे हम देखते हैं कि नपुंसक
लिंगका लोप हो गया है। इसी प्रकार तिङ् रूपोंका भी विशेषीकरण हो
गया है। हिन्दीके वर्तमानके रूप शतृप्रत्ययान्त रूपोंसे विकसित हुए
हैं, तो भूत एवं भविष्यत्के रूप का प्रत्ययान्त रूपोंसे।

संस्कृतके परवर्ती विकासको भाषावैज्ञानिकोने तीन स्थितियों माना है:—[१] प्राकृत-कालीन विकास, [२] ग्रापग्नंश-कालीन विकास, [३] ग्राधुनिक भाषागत विकास। इन्हें हम क्रमशः प्राकृत, ग्रापग्नंश तथा ग्राधुनिक भाषाण इन तीनके ग्रन्तर्गत समाविष्ट करते हैं। वैसे प्रत्येकके ग्रन्तर्गत भी विकासकी कई स्थितियाँ रही होंगी, जिनमेंसे कुळुका संकेत भाषावैज्ञानिकोंने किया है। यहाँ हम संस्कृतके परवर्ती विकासको दो भागोंमें विभक्त करेंगे:—[१] मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ, [२] ग्राधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ। इन्हींको दृष्टिमें रखकर इस विकासका ग्रध्ययन किया जायगा।

× × ×

संस्कृतकी वैदिक कालीन विशेषताओंका सिंहावलोकन :— इसके पहले कि हम संस्कृतके परवर्ती विकासको छें, दो वार्तोको समक लेना जरूरी होगा—पहले तो वैदिक माधाकी कुछ विशेषतात्रोंका संकेत;

हिन्दी भविष्यत्का 'गा' संस्कृत ''गतः'' के क्तप्रत्ययान्त रूपसे विकसित हुवा है।

तथा दूसरे, संस्कृतमें कौन-कौन विजातीय तत्त्व त्राकर प्राकृतवाले विकासमें सहायक हुए हैं। यहाँ हम प्रथमको ले रहे हैं।

जैसा कि हम देखते हैं ऋग्वेदके मन्त्रोंकी भाषा प्राचीनतम भारतीय भाषा है। यह भाषा ग्रावेस्ताकी भाषाके ग्रात्यधिक निकट है, तथा प्रा० भा॰ यू॰ "मुन्दस्याख" [ Grundsprache ] का पूर्णतः प्रतिनिधित्व करती है। इसीका विकसित रूप लौकिक संस्कृत तथा प्राकृत हैं। अवेस्ताकी प्राचीनतम भाषा त्राभिन्यक्तिकी दृष्टिसे वैदिक संस्कृतसे भिन्न नहीं मानी जा सकती । देखा जाय तो वह कालिदासकी संस्कृतसे वैदिक भाषाके कही अधिक नजदीक है। ऋग्वेदकी भाषा आज भी विश्वस्त रूपमें मिलती है, उसका ग्रपरिवर्तित रूप ग्राज तक सुरिच्चत रहा है। किन्तु, फिर भी कुछ स्थलोंपर ऋग्वेदकी भाषाको ठीक उसी रूपमें नहीं लेना होगा, जो हस्तलेखोंमें रहा है। जैसा कि हम बता आये हैं, ऋग्वेद कालकी भाषामें कई कालकी कई विभाषात्र्योंका संग्रह मानना होगा। सम्पूर्ण ऋग्वेदको दस मएडलोंमें विभक्त किया गया है। यह मराडल-विभाजन ऐतिहासिक आधार पर है, पर इसमें कुछ श्रपवाद भी है। द्वितीयसे लेकर सप्तम मण्डल तक "गोत्र-मण्डल" कहलाते हैं। इन गोत्र मण्डलोंमें प्रत्येक मण्डलके सारे मृत्त्र एक ही गोत्रके ऋषियोंके बनाये हुए हैं, यथा, सप्तम मएडलके ऋषि वशिष्ठ गोत्र-वाले हैं, इसी तरह द्वितीय मएडलके ऋषि एत्समद गोत्रके हैं, तो तृतीयके विश्वामित्र गोत्र के । द्वितीयसे सप्तम मएडल तकके ऋग्वेदांशकी भाषा प्राचीत-तम है। प्रथम तथा दशम मण्डलमें कुछ भाग प्राचीन हैं, कुछ बादके। वैसे लोगोंका मत है कि दशम मएडलका प्रायः सारा ही ऋंश वादका है। ऐतिहासिक दृष्टिसे नवम मएडलका विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि इसमें सोम देवता संबंधी सभी मन्त्रोंका समावेश हो गया है। ग्रतः यह मएडल

यहाँ "प्राकृत" शब्दका प्रयोग हम कुछ विस्तृत अर्थमें कर रहे हैं, जिसमें अपभ्रंश तथा श्राधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ भी सिम्मिलित हैं।

"सोममण्डल" कहलाता है। श्रष्टम मण्डल प्राचीन तो है, पर इसमें कई गोत्रोंके ऋषियोंके मन्त्र समाविष्ट हैं। यद्यपि यह निश्चित हो गया है कि ऋग्वेदकी भाषा प्राचीनतम है, तथापि वैदिक संहिताश्रोंमें श्राज उपलब्ध वर्तनियों [Spelling] पर पूरा विश्वास न कर उसके उच्चारण तत्त्वकी भी खोज करना होगा। यहाँ इस तरहके लिपि-उच्चारण-भेदके कुछ उदाहरणोंका संकेत दिया जाता है।

वैदिक संस्कृतके पावक शब्दकों ले लीजिये, जिसका स्त्रीलिंग रूप पावका पाया जाता है। पाणिनि व्याकरणके मतानुसार यह रूप पावका होना चाहिए, क्योंकि क प्रत्ययान्त शब्दके स्त्रीलिंग रूपोंमें पूर्ववर्ती श्रध्विन 'इ' हो जाती है, यथा कुमारक—कुमारिका। ऋग्वेद संहितामें यद्यपि यह शब्द पावक लिखा मिलता है, पर इसका उच्चारण पवाक होता होगा। 'इसीलिए स्त्रीलिंगमें पावका रूप वनता है। इसलिये यह स्पष्ट है कि वैदिक भाषाके भाषाशास्त्रीय ग्रध्ययनके लिए यह त्रावस्पक है कि इसका उच्चारण कैसे होता था। ऋग्वेदसे इन दो उदाहरणोंकों ले लें, जो स्पष्ट कर देंगे कि यहाँ छन्दके कारण पावक का उच्चारण पवाक ही होता है:—

शोचिष्केशो घतनिर्णिक् पावकः [३।१७।१]। येतीषणिम् इषयन्तं पावकम् [६।१।६]।

इसी तरह जहाँ कहीं ग तथा ■ संयुक्ताच्चरमें उत्तर ध्वनिके रूपमें पाये जाते हैं, वहाँ उनका उच्चारण 'इय' 'उव' होता है । यथा,

विश्वे देवस्य नेतु मंहतो वृणीत सख्यम् । विश्वे राय इषुध्यसि द्युम्नं वृणीत पुष्यसे॥ [५१५०११] में सख्यं का उच्चारण सखियम् होगा। वाजसनेयी संहिता [यजुर्वेद] में 'स्वर्' [स्वः] को एकाद्यर [monosyllabic] माना गया है, किन्तु

<sup>1.</sup> Wackernagel: Altindische Grammatik vol I. P. XI.

यजुष्की तैत्तरीय संहिताके पाठमें यह द्वयत्तर [disyllabic] है, तथा इसका उच्चारण तैत्तरीय शाखामें 'सुवर्' है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मणमें राजन्य तथा द्याः को क्रमशः चतुरत्तर [राजिनय] तथा द्वयत्तर [दियोः] माना गया है। किंतु किन्हीं-किन्हीं परोंके उच्चारणमें यह बात नहीं पाई जाती। सत्य, श्रश्व जैसे शब्दोंका उच्चारण सदा द्वयत्तर ही पाया जाता है। इससे एक श्रनुमान यह होता है, कि जहाँ य्, व् वस्तुतः प्रा॰ भा॰ यू० \*य्, \*व् से विकसित हैं, वहाँ उनका उच्चारण \*इ्य् \*उव् नहीं होता, किन्तु जहाँ ये संस्कृतमें इ + श्र, उ + श्र का विकास है, वहाँ इनका इय, उव वाला उच्चारण पाया जाता है। उदाहरणके लिए, उक्थं वाची-न्द्राय देवेभ्यः में देवेभ्यः का उच्चारण देवेभियः होता है।

वैदिक संस्कृतकी ग्रन्य विशेषता श्री—आ, श्रासः—ग्राः, एभिः—ऐः वाले वैकल्पिक सुप् रूप हैं, जो हम देख चुके हैं। ये रूप देवी—देवा, देवासः—देवः, देविभः—देवेः जैसे वैकल्पिक रूपोमें देखे जा सकते हैं। इसका विशद विवेचन संस्कृत पदरचनाके सम्बन्धमें किया जा चुका है। भूग्वेदकी भाषामें ग्रन्य विशेषताएँ ये हैं:—

[१] पद्भिः का वहाँ पड्भिः रूप पाया जाता है।

[२] वहाँ भ ध्विन कभी-कभी ह पाई जाती है: —√ गृभ्-जग्राह, 
'भरित-हरित'।

[३] स्वरमध्यगत ड, ढ कमशः ळ, ळह हो जाते हैं।

[४] पु० लि० ग्रकारान्त शब्दोंके सप्तमी बहुवचनके रूप कभी-कभी 'ए' ग्रन्तवाले, तथा नपुंसक ग्रकारान्त शब्दोंके प्रथमा-द्वितीया ब० व० के रूप कभी-कभी 'श्रा' ग्रन्तवाले भी पाये जाते हैं, यथा त्रिष्ठ रोचने; भुवनानि विश्वा।

[पू] ऋग्वेदमें परोत्त्तभूते लिट्के चकार, श्रास या बसूब वाले रूप नहीं पाये जाते । इनमें चकार या श्रास वाले रूप सर्वप्रथम यजुर्वेदमें मिलते:

१. शतपथ बाह्मण पाशापाश्व तथा १४।८।१५।१

हैं—श्रामन्त्रयाञ्चकार, श्रामन्त्रयामास । यजुर्वेदके गद्यभाग, ऋग्वेदकी ऋचात्रोंके बहुत बादकी रचना हैं, यह ध्यानमें रखनेकी वात है ।

संस्कृत तथा उसके परवर्ती विकासमें विजातीय तस्व<mark>ोंका</mark> प्रभावः—

जब द्रार्य भारतमें द्राये थे, तब यहाँ उनके पूर्व द्राविड़ तथा द्राविड्न परिवारके लोग रहते थे। इन लोगोंकी द्रापनी द्रालग द्रालग भाषाएँ थीं। यह निश्चित है कि द्रायोंकी भाषाको ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक हिष्टिसे इन भाषात्रोंने चाहे कम प्रभावित किया हो, शब्द-सम्पत्तिकी हिष्टिसे द्रात्मावित किया है। गोंड तथा संथाल जातिके पूर्वज मुएडा लोगोंकी भाषा 'द्रास्ट्रिक परिवारकी' थी। इसी परिवारकी कई वोलियाँ द्राज भी भारतके कई भागोंमें वोली जाती हैं। डॉ॰ मुनीतिकुमार चादुर्ज्य इन्हें 'कोलवर्गके' नामसे द्राभिहत करना ठीक समभते हैं। इनका सम्बन्ध, भाषाशास्त्रीय हिष्टिसे, इन्डोनेशिया तथा द्रास्ट्रेलियाके निवासियोंकी भाषाद्रोंसे जोड़ा जाता है, तथा इसे 'द्रास्ट्रो-एशियाटिक' या 'मोन-रूमेर' भाषावर्गके नामसे पुकारा जाता है। मुएडा-वर्गकी भाँति ही द्राविड्नकांकी भाषाने भी उस कालमें द्रायोंकी भाषाको प्रभावित किया था। द्राविड़ लोगोंकी भाषाएँ भिन्न परिवारकी मानी जाती है, तथा मापाविज्ञानमें 'द्राविड़-वर्ग' के नामसे प्रसिद्ध हैं। वैसे कुछ विद्वान् इन्हें ''यूराल-द्रालाइ'' परिवार जिसकी प्रमुख भाषा तुकीं है] से जोड़नेकी कल्पना करते हैं।

मुख्डा तथा द्राविड भाषात्रोंने, जहाँ तक ध्वन्यात्मकता तथा शब्द्-कोषका प्रश्न है, निःसन्देह संस्कृतको प्रभावित किया है, साथ ही ब्राधुनिक ब्रार्य भाषात्रोंके, जो प्राकृत द्वारा विकसित हुई है, विकासमें भी उनका योग रहा है। किन्तु व्याकरण या पदरचनात्मक प्रभावके विषयमें विद्वानोंके दो मत हैं। प्रो॰ टामसनके मतानुसार ब्रा॰ ब्रार्य भाषात्र्योंकी विभक्तियोंके विशेषीकरणमें मुख्डाका ही प्रभाव है, किन्तु डॉ॰ स्तैन कोनो [Sten Konow] इस बातसे सहमत नहीं। वैसे स्तेन कोनो स्वयं भी बिहारी भाषाके कुछ क्रियारूपोंके विकासमें मुण्डा पदरचनाका प्रभाव मानते हैं। प्वित्वोंके विकासके सम्बन्धमें विद्वानोंका मत है कि प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] ध्विनयाँ मुण्डा या द्राविड़ प्रभाव है, क्योंकि वहाँ दोनों वर्गोंमें मूर्धन्य ध्विनयाँ पाई जाती हैं। यही नहीं, गुजराती तथा पश्चिमी राजस्थानी एवं भीलीकी ''रस [च]'' ध्विन, संभवतः किसी मुण्डा विभाषाका ही प्रभाव है, क्योंकि भारतीय द्यार्थ परिवारमें यह ध्विन नहीं पाई जाती। प्वेसे बालतो-स्लाव्हिक भाषात्रोंमें इसका द्यास्तित्व है, यथा रूसीमें 'स्स' [च] [ts] ध्विन पाई जाती है, जो उसके ''रसार'' शब्दमें है, जिसका ग्रार्थ ज्ञार होता है।

स्त्राधुनिक ग्रार्थ भाषाग्रोंमं चार या वीसवाली गणना मुण्डा भाषात्रों का ही प्रभाव है। साथ ही इसी गणनाके सांकेतिक शब्द गण्डा [४], कौडी [२०], मुण्डा भाषाग्रोंसे ग्राये हैं। इसी तरह कई ऐसे शब्द हैं, जिन्हें हमारे प्राकृत वैयाकरणोंने देशी या देशज मानकर तत्सम तथा तन्नव कोटिसे भिन्न माना है। इनमेंसे बहुतसे शब्द मुण्डा या द्राविड शब्दकोषसे ग्राये हैं। प्रो० प्रजीलुस्की [Przyluski], ब्लॉस, सिलवॉ लेवी [Sylvan Levi], तथा डॉ० चाटुज्यीने कई ऐसे शब्द हूँढ़े हैं, जो संस्कृतमें मुण्डा या द्राविड भाषाग्रोंसे ग्राये जान पड़ते हैं। दनमेंसे कुछ शब्दोंका संकेत यहाँ दिया जाता है; विशेष ग्रध्ययनके लिए डॉ० पी० सी० बागची द्वारा सम्पादित 'प्रि—ग्रार्थन एवं प्रि—द्रेविडियन' नामक पुस्तिकामें उपर्युक्त पिडतोंके लेखोंको देखना चाहिए।

वाण, पिनाक दोनों संस्कृत शब्दोंका संबंध पिन + आक से जोड़ा जाता है। आक, अनक, आग शब्द इसी ग्रार्थमें मुएडा भाषामें पाये जाते हैं। वहाँ इनका ग्रार्थ धनुष तथा बाए है।

R. Dr. Bagchi: "Pre-Aryan and Pre-Dravidian." [Introduction]. p. XI

कपोल संस्कृत शब्द मुएडा भाषाके कापो, तपोश्र ग्रादि रूपोंसे जोड़ा जाता है, जिनमें मूल रूप "-पोल'' है। मुएडा भाषाश्रोंमें 'क' 'त' का विपर्यय पाया जाता है।

नारिकेल संस्कृत शब्द मुएडा शब्द नियोर [नारियलका वृक्ष], तथा कोलइ [फल] इन दो शब्दोंके संयोगसे बना माना जा सकता है।

भेक शब्द मुएडा तबेग, बुश्चाक से संबद्ध माना गया है, जिसका ऋर्थ 'मेंडक' है।

जङ्का का संबंध मुण्डा कान-क्षोंग, जंग्गा, [संथाली], जोंग, जुंग से जोड़ा जाता है।

कपोत शब्दका संबंध मुएडा कपोत, कबोत से जोड़ा जाता है। काक शब्दका संबंध मुएडा बुआग, आग, गाग, कएक से बताया गया है।

हलाहल [ग्रर्थ, जहर] संस्कृत शब्द भी मुएडा हाले, हलेक से संबद्ध माना गया है, जहाँ इनका ग्रर्थ "काला साँप" है।

इनके श्रांतिरिक्त जितने भी 'म्ब' 'बु' ध्विनवाले संस्कृत शब्द हैं, उनमेंसे श्राधिकतर शब्दोंको प्रो॰ प्रजीलुस्की [Przyluski] ने मुण्डा भाषाकी देन कहा है । दाडिम्ब, कदम्ब, शिम्ब, निम्ब, रम्भा, स्तम्ब, तुम्ब, तुम्ब, उदुम्बर, निम्बु [क], जम्बु, जम्बीर, लाबु, श्रवाबु जैसे कई शब्द मुख्डा-वर्गकी ही देन माने जाते हैं। ' संस्कृतका गुड शब्द भी मुख्डाके गुल, गुला, गूल, हूलो से संबद्ध है, जिसका श्रर्थ 'शक्कर' है। क्या हिंदीके गुलगुला शब्दका भी उद्गम मुख्डामें ही है श्रे प्रो॰ सिलवाँ लेवीने बताया है कि कई भौगोलिक स्थानोंके नाम भी संस्कृत भाषामें मुख्डासे ही श्राये हैं। उनके मतानुसार कोसल-लोसल, श्रंग-वंग, किलग-त्रिलिंग, उत्कल-मेकल, पुलिंद-कुलिंद श्रादि देश नाम मुख्डासे ही श्रार्य भाषाश्रोंमें श्राये

<sup>3.</sup> ibid. P. xxviii. and also pp. 149. to 160.

हैं। श्राधिनिक भारतीय श्रार्य भाषाश्रोमिंसे कईमें जो प्रतिष्वित शब्द [जैसे, घोड़ा-वोडा, पैसा-वैसा, जल-वल, रोटी-वोटी, जलेबी-वलेबी] हैं, क्या वे मुएडा प्रभाव तो नहीं हैं ?

द्राविड भाषात्रोंसे भी संस्कृतमें कई शब्द ग्राये हैं। प्रो॰ ब्लॉखने त्र्यपने निवन्य ''संस्कृत तथा द्राविड़'' में इसपर प्रकाश डाला है।<sup>2</sup> 'घोड़े' के लिए वास्तविक ग्रार्य शब्द "अश्व" है, किन्तु बादमें संस्कृतमें घोटक [घोट-] शब्दका प्रयोग पाया जाता है। यह शब्द सर्वप्रथम स्राप-स्तम्ब श्रीतस्त्वमें पाया जाता है। वस्तुतः यह द्राविड् भाषाके गुर्राम् [तैलगू], ऋदुरु [म्ल्नड़], ऋदिरेइ [तामिल] से सम्बद्ध है। वहाँ से पहले यह बोलचालकी प्राचीन भाषामें त्राया है, त्रौर बादमें संस्कृतमें भी गृहीत हो गया है। दूसरा उदाहरण हम हिन्दी पेट शब्द ले सकते हैं। संस्कृतमें इसके लिए उदर शब्द है। प्राकृत तथा परवर्ती भा॰ ग्रा॰ भाषात्रों में यह शब्द नहीं विकसित हुन्ना है। जन कि प्राकृतमें पेट शब्द पाया जाता है। वैसे संस्कृतने भी पेट शब्दको ग्रपनाया है, पर भिन्न अर्थ में । संस्कृतके पेटक, पेटिका [संदूक, संदूकची] जैसे शब्द मूलतः इसीसे संबद्ध है। संस्कृतका विडाल शब्द लीजिए, जिसका प्रयोग सर्वप्रथम रामायगा व महाभारतमें पाया जाता है। इसीसे हिन्दी बिल्ली, बिलैय्या, जिन्सी ब्लारी. शब्द निकले हैं। इसका संबन्ध भी द्राविड़ शब्द पिल्ली [कन्नड ] से माना जाकर, इसे द्राविड़ प्रभाव कहा गया है । संस्कृतके गर्दभ शब्दके विषयमें यह मत है कि इसमें दो ऋंश हैं, एक मूलशब्द [\*गर्द] दसरा-भ प्रत्यय । यह शब्द ऋग्वेद तकमें पाया जाता है। यह तो निश्चित है कि यह आर्थ शब्द नहीं है, पर कहाँ से आया है यह प्रश्न समस्या बना हवा है। विद्वानोंने यह तो कहा कि यह द्रविड़ भाषाका प्रभाव है, पर यह

<sup>1.</sup> ibid. Prof. Sylvan Levi's article "Pre Aryan and Pre-Dravidian in India" PP. 63 to 123.

<sup>3.</sup> ibid. Prof. Bloch's article. pp. 37 to 59.

समस्या ग्रामी सुलम्स न पाई है। छान्दोग्य-उपनिषद् में एक शब्द मटची मिलता है, इसका सम्बन्ध विद्वानोंने कन्नड़ मिडिचे से जोड़ा है, जिसका ग्रार्थ "घासका घोड़ा" [एक कीड़ा] है। संस्कृतका 'मयूर' शब्द जो ऋषेदमें पाया जाता है, द्रविड़ शब्द मिबल [तामिल], मय्लु [कन्नड़], मिलि [ तैलगू] से जोड़ा जाता है।

संस्कृतमें द्राविड़ भाषासे त्राये शब्दोंमें कतिपय निम्न हैं:-

सं॰ अनल [ग्राग]; तामिल अनल, [अग्नि, धातु 'जलाना'], मल्॰ <mark>अनल, [</mark>ग्राग्नि, ताप], कन्नड, ग्रानलु [ताप]।

सं॰ ग्रलस [ग्रालसी]; ता॰ ग्रलचु; म॰ ग्रलयुक, कन्नड ग्र<mark>लसु</mark> [थका हुग्रा]।

सं॰ उल्लूखल [ग्रोंखल], ता॰ उलक्कइ, म॰ उलक्क, कन्नड,

सं॰ एड [मेड़], ता॰ वाहु, ब्राहु [वकरी, मेड़], कन्नड, ब्राहु [वकरी], तै॰ एट [मेढ़ा]।

सं॰ कज्जल, ता॰ करिकल [कालिमा]।

सं० कहु [कडवा], ता० कहु, म० कहु, तेलगू, कहु।

सं॰ करीर [बाँस], क॰ करिले; तु॰ किएले, ब्राहुई खरिंग। बाँसकी कींपल, ग्रंकुरित होना]

सं० कानन [बन], ता० का, कान, कानन, कानल, म० काबु, कानल।

सं० कुटी ता० कुटी, ते० गुड़ी।

सं० कुटिल ता० कोटु, क्ट, म० कोटु, कन्नड, कुडु।

सं० कुहाल [कुदाली], ते० गुद्दि, क० गुद्दु।

सं० कुंतल [बाल] ता० म० कूंतल, क० कूदल।

सं० कुवलय [कमल], ता० कुवळइ, कन्नड, कोमळे, कोवळ, कोळे [तु० सं० कमल]। सं॰ खल, ता॰ कल, कळ्वान चिरि कन्नड कळ्ळ चिरि, ते॰ 'कळळ' [घोखा]।

सं० घुण [कीडा], कन्नड गोएए [-पुरु] [कीडा]।

सं० घूक [ उल्लू ] ता० कुकइ, कन्नड, गृगि, गूगे, गूवि, ते० गूवि, गूव।

सं॰ चंदन, ता॰ चांतु, चातु, म॰ चांतु, कन्नड, सादु, ते॰ चाँदु।

सं० √ चुम्ब् [चूमना] ता० चूप्पु [चूसना]।

सं० चूडा [बालोंका गुच्छा], ता० चृटु [सिर पर पहनना; सिरके बालोंका गुच्छा], म० चूट्टु [सुर्गेकी कलंगी], कन्नड सूडु ।

सं० दराङ, ता० तराडु, कन्नड दराङु, दराङ, ते० दराङु।

सं विर्पु एडी [गिलोय], ताव, मव नोच्चि, कव नेक्कि, लेक्कि,

सं । नीर [जल], ता ।, म । कन्नड, नीर, ते । नीर, ब्राहुई, दीर ।

सं० √ पर्ण् [शर्त करना], ता० परण्ड् [बाँधना], कन्नड, पोर्णे [जमानत] ।

सं० परिडत [ विद्वान् ], ते० पएडु 'परिपक्व', परड, 'बुद्धि'।

सं० पालि [पंक्ति], क० पारि, म० पालि, तै० पाडि ।

सं वक, ता वका, वंक, ते वक्कु।

सं ० बिल्व [बेल] ता० विला, विलाव, वेल्लिल, म० विला, कन्नङ वेलावल ।

सं॰ मीन, [मछली] ता॰ मीन, कन्नड, मीन, तै॰ मीनु।

सं • मुकुल [कली] ता • म० मुकिर, ता • मुकइ, कन्तड 'मुगुल'!

सं ० वलय [कड़ा] ता ० वलइ, कन्नड बले।

सं॰ शव [मुर्दा], ता॰ चा [मरना], चाबु, [मृत्यु], कन्नड 'सा' [मरना], साबु [मृत्यु]।

सं० हेरम्ब [भैंसा], ता० एरुमइ, म० एरिम [भैंसा]।

भाषात्र्योंके परस्पर शब्द-ग्रहणके संबंधमें, साथ ही भाषात्र्योंके तुलना-स्मक ग्राध्ययनमें उनके शब्द-कोषकी तुलनामें हमें वहुत सतर्क रहना होगा । ऊपर हमने उन मुख्डा द्राविड़ शब्दोंको देखा, जो संस्कृतमें ध्वन्या-स्मक परिवर्तनके वाद विकसित हुए हैं। इनमें हमें कुछ शब्द ऐसे भी मिल सकते हैं, जो ऋण [loan word] नहीं माने जा सकते। हमें ऐसे शब्दोंको एक त्रोर रखकर फिर त्रादान-प्रदानके तत्त्वका त्रध्ययन करना होगा। मेरा तात्पर्य "काक"-कोटिके शब्दोंसे है। इस कोटिके जितने भी शब्द होंगे, उन्हें मैं भाषावैज्ञानिक ग्रध्ययन करते समय उपेद्यित सममूँगा। इस कोटिमें मैं उन शब्दोंको लूँगा, जिन्हें हम ध्वन्यात्मक या अनुकरणात्मक onomatopoeic] शब्द कहते हैं। प्रो॰ जे॰ त्रार॰ फर्थ <mark>इस</mark> कोटिके शब्दोंको प्रतीकात्मक [symbolic] कहना विशेष ठीक समभते हैं, जिस पारिभाषिक संज्ञामें अनुकरणात्मकसे त्राधिक दोत्रका समावेश होता हैं । ये प्रतीकात्मक शब्द विभिन्न भाषात्रोंमें स्वतन्त्र रूपसे भी विकसित हो सकते हैं, त्र्यौर यदि ये किसी भाषामें किसी त्र्यन्यसे लिए भी गए हों, तो इसके लिए हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। ग्रातः किन्हीं भी दो भाषात्रोंके शब्द-कोषकी तुलनामें ऐसे शब्दोंको हम पहले से ही निकाल कर एक त्रोर रख देंगे। संस्कृतमें काक, कोकिल, कुक्कुट, निर्फर, मर्मर ऐसे कई शब्द इस 'काक-कोटि' में गृहीत होंगे। इसीलिए शब्दावलीके <mark>ऋादान-प्रदानके वारेमें निर्ण्य देते समय भाषावैज्ञानिकको बङ्ग सतर्क होकर</mark> चलना है। इस संबन्धमें एक बात याद ग्रा गई। फ्रेंच भाषामें "टोप" के लिए एक **राब्द** पाया जाता है, उसका उच्चारण **''शापो''** [chape<mark>au]</mark> होता है, ठीक यही उच्चारण एक राजस्थानी शब्दका है :-- "शापो" [स्यापो] [हि॰ साफ़ा], जिसका ऋर्य "पग्गङ्" है; पर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इनका एक दूसरेसे कोई संजन्ध नहीं है। इसी प्रकार संस्कृत 'नारंग' शब्दको लीजिये; 'सन्तरे' के लिए स्पेनिश भाषामें इसीसे मिलते जुलते शब्द 'नारंख' [naranja] का प्रयोग पाया जाता है। पर जब तक हमारे

पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं कि संस्कृतको यह शब्द विदेशी देन है, त्रव तक कुछ कहना श्रनर्थ प्रलाप होगा। यदि हमारे पास यह प्रमाण है कि कुछ विदेशी जातियाँ [संभवतः हूरा] इस शब्दको एक ग्रोर संस्कृत श्रीर दूसरी श्रोर स्पेनी जैसी रोमान्स भाषा तक ले गये, तो भी दोनों जगह विदेशी तत्त्व होनेसे यह शब्द न तो स्पेनी भाषाकी ही शब्द-संघटनाका, न <mark>संस्कृतकी ही शब्द-संघटनाका शुद्ध उदाहरण वन सकेगा । इसके प्रतिकृत्त</mark> ग्नंगरेजी भाषाकी "स्लैंग" [slang] में प्रयुक्त "पाल" [pal] [इसका उच्चारण कुछ-कुछ 'फाल' [p'al] जैसा होता है], तथा 'चेल' [chal] शब्दको हम संस्कृतके आता तथा चेट शब्दसे पूर्णतः संबद्ध मान सकते हैं। ये दोनों शब्द वस्तुतः अंगरेजीमें जिप्सी [रोमानो] भाषासे श्राये हैं। जिप्सी <mark>भाषा संस्कृतसे निकली हुई भारतीय ब्रार्य भाषा है, जो उन धुमक्कड़ोंकी भाषा</mark> है, जिनके पूर्वज ईसाकी पहली तथा तीसरी शताब्दीके बीचमें घमते हुए यूरोप पहुँच गये थे। जिप्सी भाषाकी यह विशेषता है कि वहाँ संस्कृत 'त' ध्वनि [साथ ही 'ट' ध्वनि भी] 'ल' हो जाती है, तथा संस्कृत 'भ' ध्वनि 'फ' हो जाती है। इस प्रकार संस्कृतके आता तथा चेट जिप्सीमें जाकर "फाल" श्रीर "चेल" हो गये हैं। वहींसे ये ॲगरेजीकी "स्हैंग" में श्रा गये हैं। इस संबंधमें यह भी कह दिया जाय कि संस्कृत चेट शब्द भी शुद्ध आर्थ न होकर मुएडा या द्राविड देन है। क्या ऋपभ्रंशवाला 'छइल्ल' [हि॰ छैला] शब्द इसीका तो विकास नहीं ?

त्रागे जाकर लौकिक संस्कृतमें कई ऐसे भी शब्द आ गये हैं, जो प्राकृत रूप थे, श्रीर संस्कृत माने जाने लगे। ये प्राकृत शब्द वस्तुतः संस्कृतसे ही विकसित हुए थे, पर बादमें ये संस्कृतमें भी प्रयुक्त होने लगे। प्राकृतसे संस्कृतमें श्राये कुछ शब्द ये हैं:—वट ∠वृत; नापित ∠√ स्ना, लांछुन ∠लचण, पुत्तल ∠पुत्र + ल, भद्दारक ∠भर्ता, भट ∠स्त, मनोरथ ∠मनोऽर्थ । दि० डॉ० चाटुर्ज्याः भारतीय आर्थभाषा और हिंदी पृ० ६७] उदाहरणके लिए पुनः मारिष, इंगाल, मेरेय इन शब्दोंको

लीजिये। ये तीनों प्राकृतके शब्द हैं। बैसे "मारिप" प्राकृतमें मारिस है, यहाँ संस्कृतके ध्विन नियमके ग्रानुसार प ध्विन ग्रा गई है। इस शब्दका ग्रर्थं 'मित्र' है तथा यह प्राकृत रूप संस्कृत 'माद्दशः' से विकसित हुत्रा है। पाकृतसे ही यह शब्द संस्कृत नाटकोंमें ग्राकर 'मारिष' हो गया है। 'इंगाल' शव्द संस्कृत श्रंगार का प्राकृत रूप है। विद्वानोंने वैसे इस शब्दको भी शुद्ध स्रार्थ न मानकर स्रंगु, इंगुग स्रादि मुएडा शब्दोंसे जोड़नेकी चेष्टा की है। यह प्राकृत इंगाल फिरसे संस्कृतमें प्रयुक्त होने लगा है। श्रीहर्षने नैषधमें इसका प्रयोग किया है:—"वितेनुरिंगालमिवा<mark>यशः</mark> परे" [प्रथम सर्ग] । मैरेय शब्दकी भी ऐसी ही कहानी है। संस्कृतके मद शब्दसे दूसरा शब्द बनता है मदिर, इसीका प्राकृत रूप महर होता है। इसी प्राक्टत महर से फिर दूसरा शब्द बनता है "महरेअ" [मइरेयै] । इसीका संस्कृत रूप मेरेय हैं जिसका शुद्ध संस्कृत रूप \*मिद्रिय चनता है। मैरेय शब्दका प्रयोग 'शराव' के ब्रार्थमें लौकिक संस्कृतमें बहुत पाया जाता है। माघने शिशुपालवधमें इसका प्रयोग बहुत किया है:-"" पीतमैरेयरिकं कनकचषकमेतद्रोचनालोहितेन", [एकादशसर्ग]। इसीके वादके कालमें साहित्यिक संस्कृतमें ग्रारवी फारसी शब्द भी द्रा गये हैं, पर बहुत कम । श्रीहर्ष नैषधके चौदहवें सर्गमें श्लेषके रूपमें "'भूरितरवारि" पदका प्रयोग करता है, जहाँ "तरवारि" शब्द "तलवार" के अर्थमें भी आया है। आगे जाकर वैद्यक्ति लोलिम्बराजने तो "पात-शाह" शब्दको भी संस्कृत पदावलीमें समाविष्ट कर ''लोलिम्बराजः कवि-पातशाहः" की खिचड़ी पकाई थी। हिन्दी शब्द "खिड़की" का प्राकृत रूप'खडिकिक्या' या 'खिडिकिक्या' रहा होगा । मैंने इसका लौकिक संस्कृत साहित्यमें "विदिक्किका" प्रयोग भी देखा है। वैसे बादमें कई ऋँगरेजी, फारसी आदि शब्दोंके नये संस्कृत शब्द गढ़ दिये गये हैं, पर वे

१. महरेय वस्तुतः महरेश्रका ही य-श्रुति [y-glide] वाला रूप है।

२. पं ० भट्ट मथुरानाथका साहित्यवैभव नामक कान्यप्रन्थ ।

भाषावैज्ञानिकके लिए किसी कामके नहीं है। वानगीके तौरपर ये तीन शब्द ले छें—कूलेज: [College]; क्षिप्राशिष् [सिफारिश], ब्यक्तोजीः [Victoria]।

## संस्कृतके परवर्ती विकासका ऐतिहासिक क्रमः-

वैदिक कालमें ही वैदिक संस्कृत वोलनेवाले आर्य सप्तसिन्धु प्रदेश तथा ग्रन्तर्वेद [दोग्राव] से ग्रागे वह गये थे। घीरे घीरे इनकी विभाषाएँ एक दुसरेसे ग्रलग होती गई, उनपर यहाँकी विजातीय मुख्डा तथा द्राविड़ भाषात्रोंका भी प्रभाव पड़ने लगा। इनके प्रभावसे संस्कृत ध्वन्यात्मकता तथा पदरचनामें भी कुछ विकास होने लगा। जब अनार्य जातियोंने भी विजेता स्मायोंकी भाषाको स्मपनाया, तो संस्कृतको ध्वनियोंका उच्चारण नये रूपमें विकसित हो गया। इसी कालमें एक श्रोर उच्चारण-सौकर्यके कारण संस्कृत ध्वनियोंके प्राकृत उच्चारणका विकास होने लगा, दूसरी स्रोर इस प्रवृत्तिको वैदिक मन्त्रोंमें रोकनेके लिए प्रातिशाख्य-प्रन्थों तथा शिक्ताओं का निर्माण हुन्ना, जिन्होंने संस्कृतके शुद्ध उच्चारणको सुरिद्यत रखनेकी चेष्टा की । वैसे यह नहीं भूलना होगा कि प्राकृत रूपोंके विकासके दो-तीन सी साल बाद प्रातिशाख्योंकी रचना हुई होगी, साथ ही शिचाग्रन्थोंको रचनाके वारेमें कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। इनमेंसे कई तो ईसाकी दूसरी तीसरी शताब्दीके ग्रासपासकी रचना हैं। प्राकृतोंकी वैभाषिक प्रवृत्तियोंका विकास ब्राह्मण्कालमें स्पष्टतः परिलक्षित होने लगा था। पूर्वके अनार्योंके प्रभावसे पूर्वमें एक ऐसी विभाषाका विकास हो गया था, जिसे ग्रार्य बिगड़ा हुन्ना श्रशिष्ट उच्चारण मानते थे। यह विभाषा उन लोगोंकी थी जो आर्यधर्म-वैदिक धर्ममें विश्वास नहीं रखते

थे। इन्होंको वैदिक साहित्यमें "वात्य" नामसे ग्रिमिहित किया गया है। इन लोगोंको वैदिक ध्वनियोंमें प्रायः ऋ, ऐ, ग्रौ, र, स, ष ध्वनियोंके उचारण मैं वड़ी कठिनाई प्रतीत होती थी। ठीक इसी तरह संयुक्त ध्वनियोंके उच्चारण करनेमें भी ये ग्रसमर्थ थे, विशेषकर तब, जब कि संयुक्त ध्वनियाँ दो भिन्न प्रकृतिकी होती थीं।

त्राह्मरण कालकी प्राकृतोंको मोटे तौर पर तीन तरहकी माना जाता है:—[१] उदीच्य, [२] मध्यदेशीय, तथा [३] प्राच्य । उत्तरवैदिक कालमें विकसित प्राकृतोंमें उदीच्य विभाषा [प्राकृत] संस्कृतके अत्यधिक समीप थी । इसी उदीच्य विभाषाके आधार पर महर्षि पाणिनिने साहित्यिक तथा परिष्कृत रूप देने के लिए व्याकरण [ अष्टाध्यायों ] स्त्रोंका निबन्धन किया था । मध्यदेशीय प्राकृत अन्तर्वेदकी विभाषा थी, तथा प्राच्य प्राकृत मगधके आसपासकी । कुछ लोगोंके मतानुसार दािच्णात्य जैसा चौथा वैभाषिक रूप भी उस कालमें रहा होगा । किन्तु, बहुत बाद तक दिच्च एकी आर्थ विभाषा मध्यदेशीयके ही अन्तर्गत रही है । यहाँ तक कि महाराष्ट्री तथा शौरसेनीको विद्वानोंने एक ही प्राकृतकी दो शैलियाँ माना है; जिसमें प्रथम पद्यमें पाई जाती है तथा द्वितीय गद्य में ।

तो, श्रशोकके पूर्वकी प्राकृतें मोटे तौर पर तीन तरहकी मानी जा सकती हैं। श्रशोकके समयकी वैभाषिक प्रवृत्तियोंको हम तत्तत्प्रदेशके शिलालेखकी भाषामें देख सकते हैं। उदाहरणके लिए जहाँ जिख् का णिजन्त रूप गिरनारके शिलालेखमें 'जेखापिता' मिलता है, वहाँ शहवाजगढ़ीवाले लेखमें जिखापिता, तथा मानसेरके लेखमें जिखापित पाया जाता है। श्रशोकके गिरनार शिलालेखमें इसका भविष्यत् रूप जिखापिसम् पाया जाता है, जब कि बादमें मागधीमें यह 'जिहावइश्शम' [मृच्छुकटिक पृ० १३६] हो गया है।

्र ईसासे २०० वर्ष पूर्वके लगभग ये विभाषाएँ कुछ निश्चित भाषात्रोंके रूपमें विकसित हो गईं । इस समय ये विभाषाएँ मोटे तौर पर चार

प्राकृतों में — पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधीमें — विभक्त मानी गई हैं। प्राकृत वैयाकरणों में इन सब प्राकृतों में साहित्यिक दृष्टिसे महाराष्ट्रीको परिनिष्ठित प्राकृत माना है। यद्यपि इन सभी प्राकृतों में कई ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक तत्त्व समान रहे हैं, पर अपनी निजी विशेषताओं के आधार पर यह वर्गीकरण किया गया है। 'प्राकृत' शब्दकी ब्युत्पत्तिके विषयमें पिएडतों के दो मत हैं। प्राकृत वैयाकरण अधिकतर यही मानते आये हैं कि प्राकृत भाषाएँ संस्कृतसे निकली हैं। इसी आधार पर वे 'प्राकृत' शब्दकी व्युत्पत्ति यों करते हैं।

प्रकृतिः संस्कृतं । तत्र भवं तत त्रागतं वा प्राकृतम् । [हेमचन्द्र १।1]
प्रकृतिः संस्कृतं । तत्र भवं प्राकृतमुच्यते ।। [मार्कण्डेय पृ० १]
प्रकृतेरागतं प्राकृतं, प्रकृतिः संस्कृतम् । [धनिक दश्ररूपकवृत्ति २।६०]
प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम् । [प्राकृतचन्द्रिका]
प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतं योनिः । [वासुदेन—कपूरमञ्जरीटीका]

इस प्रकार सभी प्राकृत वैयाकरणों या प्राचीन पण्डितोंके मतानुसार प्राकृतकी उत्पत्ति संस्कृतसे मानी जाती है। दूसरी श्रोर श्राधुनिक विद्वान् इस मतसे संतुष्ट नहीं, क्योंकि वे यह मानते हैं कि प्राकृत संस्कृतसे उत्पन्न न होकर वैदिक कालकी बोलियोंसे विकसित हुई हैं। यदि हम संस्कृत शब्दका रूढ ग्रर्थ न लेकर वैदिक कालकी समस्त वैभाषिक प्रवृत्तियोंके ग्रंतस्में निहित एकरूपता वाला श्रर्थ लें, तो सारी समस्या सुलभ जायगी। वैसे पाणिनिवाली लौकिक संस्कृतसे तो प्राकृतें उत्पन्न नहीं हुई हैं, यह निश्चत है; किन्तु वैदिक [संस्कृत] भाषाका परवर्ती विकास तो ये निःसंदेह हैं ही। पुराने पण्डितोंके मतमें जो श्रुटि थी वह यही कि वे इन्हें प्रायः लौकिक संस्कृतसे उत्पन्न मानते थे।

्रप्राक्ततोंके द्वितीय विकास काल [२०० ई० पू०—६०० ई०] में शौर-सेनी प्राकृत विशेष महत्त्वपूर्ण थी। महाराष्ट्री इसीकी एक विशेष शैली थी। पर प्राकृत वैयाकरणों तथा श्रम्य प्राचीन पण्डितोंने महाराष्ट्रीको ही "स्टैएडर्ड" तथा उत्तम प्राकृत माना । दएडीने ग्रपने काव्यादर्शमें इसी बातका संकेत करते कहा था, "महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।" दर्ग्डिके बहुत पहले ही प्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण वररुचिने शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची प्राकृतोंकी विशेषताद्योंका उल्लेख करनेसे पहले महाराष्ट्री प्राकृतके नियमींका निवंधन किया है, तथा उससे जो विभिन्नताएँ इन दूसरी प्राकृतोंमें पाई जाती हैं, वे वताकर ''शेषं महाराष्ट्रीवत्'' लिख दिया है। इसी कालमें त्राकर प्राकृत भी साहित्यिक रूप लेने लगी। इस कालके त्र्यंतिम दिनोंसे लेकर १० वीं शती तक महाराष्ट्रीमें सेतुवन्ध, गउडबहो जैसे काव्य लिखे गये । वैसे हालकी 'सत्तसई' का रचना काल बहुत पुराना माना जाता है; किन्तु 'गाहा'-सत्तसई किसी कांवकी रचना है या लोक-काव्योंके रूपमें प्रचलित गाथात्रोंका संग्रह, जिनका विकास ईसाकी प्रथम शताब्दीके त्रासपास हुत्रा होगा, यह प्रश्न समस्या ही है। त्रानुमान ऐसा होता है कि हाल इसके संग्राहक थे श्रीर सत्तसईका यह संग्रह ईसाकी दूसरी या तीसरी शतीके लगभग हुन्ना होगा। संभवतः हालने इन लोक-काव्योंको कुछ परिष्कृत रूप भी दिया हो, पर यह निश्चित है कि यह परम्परा लोककाव्योंकी ही रही होगी।

प्राकृतोंके इस द्वितीय विकास कालमें हमारे सामने एक समृद्ध धार्मिक तथा साहित्यिक भाषा त्राती है, वह है पालि । पालिमें बौद्धोंका 'थेरवादी' साहित्य तथा हीनयान शाखाका साहित्य मिलता है । पालि कहाँकी विभाषा रही है, तथा इसका विकास कैसे हुन्ना, इस विषयमें विद्वानोंके दो मत थे, किन्तु त्र्य यह निश्चित हो गया है कि पालि मूलतः मध्यदेशकी प्राकृत [शौरसेनी] से विकसित हुई थी<sup>3</sup>, यद्यपि इसमें कई मागधी तत्त्व भी

१. काब्यादर्श १।३४।

२. प्राकृतप्रकाश १२।३२।

<sup>3.</sup> Dr. Chatterjea: Origin and Development of Bengali Language. P. 57 Vol. I [Intro.]

सिम्मिलित हो गये। भगवान् बुद्धने जिस भाषामें उपदेश दिया था, वह निःसंदेह मागधी थी, पालि नहीं। वैसे इस संबंधमें एक प्रसिद्ध गाथा भी है। वौद्ध विद्वानों मेंसे अधिकतर पालिको मागधीकी हो विभाषा मानते थे। पर पालिमें मागधीसे कुछ मौलिक भिन्नताएँ हैं। यथा, मागधीमें स्, ष्, स् के स्थानपर केवल तालत्य स्थिन पाई जाती है, इसी तरह मागधीमें केवल ल् ध्विन ही है, वहाँ र्का अभाव है। जब कि पालिमें स् और श्; र् और ल् दोनों ध्विनयाँ पाई जाती हैं। इसी तरह मागधीमें प्रथमा विभक्तिके [अकारान्त शब्दोंके] रूपोंमें 'ए' विभक्ति होती है, [धम्मो]।

शौरसेनी तथा मागधीकी कितपय प्रमुख ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक प्रवृत्तियोंका संकेत हम परवर्ती पृष्टोंमें करेंगे। जहाँ तक पैशाची प्राकृतका प्रश्न है, उसका विवेचन हम यहाँ न लेंगे। भाषावैज्ञानिकोंका मत है कि पैशाची प्राकृत संभवतः दरदवर्गकी प्राकृत रही होगी, जिससे काश्मीरी, स्वाती तथा अन्य कई सुदूर उत्तरकी तथा पामीरके आस-पासकी भाषाएँ विकसित हुई हैं। दरदवर्गके नामसे भारत-ईरानी शाखाके एक तीसरे वर्गकी कल्पनाकी जाती है। भारत-ईरानी शाखाको इस प्रकार तीन वर्गोंमें विभक्त किया जाता है:—[१] भारतीय आर्य [संस्कृत] वर्ग; [२] ईरानी [अवेस्ता-पारसी] वर्ग, [३] दरद वर्ग। दरद वर्गमें संस्कृत वर्ग तथा ईरानी वर्ग दोनोंका प्रभाव पड़ा होगा। यह एक मिश्रित विभाषा रही होगी। पैशाची संभवतः इसीका रूप थी। पैशाचीकी यह प्रवृत्ति जो प्राकृत वैयाकरणोंने वर्ताई है, आज भी काश्मीरी आदिमें देखी जाती है:—जेसे, पिशाच मापाओंमें सघोष महाप्राण नहीं होते; साथ ही संस्कृत सघोष अल्पप्राण वहाँ अघोष अल्पप्राण हो जाते हैं:—मेघः [मेखो], गगनं [गकनं]। इसीका संकेत हम काश्मीरीमें देख सकते हैं:—आता [काश्मीरी, बोयु];

सा मागधी मूलभासा नरायायादिकिष्या।
 ब्रह्मणो च स्सुतालावा संबुद्धा चापि भासिरे॥

सं ॰ घोटक [काश्मीरी, गुडु]; सं ॰ खड्ग [का ॰ खड्क], । हम देखते हैं कि पैशाची प्राकृतने उदीच्य प्राकृतको प्रभावित कर कई मिश्रित विभाषात्रोंको जन्म दिया था। यही कारण है, इस तरहके कुछ प्रभाव हम लँहरा तथा पंजाबीमें भी देखते हैं। संभवतः ब्राचड अपभंश जिससे लँहरा श्रीर सिन्धी विकसित हुई पैशाचीसे प्रभावित मध्यदेशीय प्राकृतका विकसित रूप थी।

गाथा सप्तशतीके संग्रह कालमें ही प्राकृत साहित्यिक रूप ले चुकी थी। श्रीर प्राकृतके बोलचालवाले कालके समाप्त होनेके बहुत बाद तक यह साहित्यिक भाषा बनी रही। इसी कालमें कुछ प्राकृत कवियोंने प्राकृत भाषाकी मधुरताकी महत्ता घोषितकी तथा संस्कृतसे श्रिधिक प्राकृतकी प्रशंसा की।

अमिश्रं पाउअकव्वं पढिउं सोउं ग्र जे ग्र श्राणंति । कामस्स तत्ततन्ति कुग्रान्ति ते कहँ न लज्जंति ॥ [गा०श० २]

[जो लोग ग्रम्तके समान मधुर प्राकृत काव्यको पढ़ना ग्रौर सुनना [समभना] नहीं जानते, वे लोग कामकी तत्त्वचिन्ताको करते हुए भी लजित क्यों नहीं होते ?

परुसा सक्कन्नबंधा पाउन्नबंधो वि होइ सुउमारो । पुरिसमहिलाणाँ जेत्तिय मिहंतरं तेत्तियमिमाणं ॥ [कर्पूरमञ्जरी सहक]

[संस्कृतके काव्य परुष होते हैं; किन्तु प्राकृतके काव्य स्रत्यधिक कोमल होते हैं। इन दोनोंमें ठीक वही अन्तर है, जो पुरुषों व रमिणयोंमें।]

अपभ्रंश-काल—ईसाकी छुठी शतीसे ईसाकी दसवीं शती तक, भारतीय त्रार्य भाषात्रोंका जो विकास पाया जाता है, उसे मध्यकालीन भारतीय त्रार्य भाषात्रोंकी तीसरी स्थिति कह सकते हैं। संस्कृत तथा प्राकृत दोनोंसे भिन्न बतानेके लिए उसे "त्रापभ्रंश" संज्ञा दी जाती है, जिसका अर्थ

<sup>3.</sup> The Linguistic conception of Kashimri [Sir G. A. Grierson] [Indian Antiquity] Nov.-Dec. 1915.

है "विगड़ी हुई", त्र्रार्थात् यह "विगड़ी हुई भाषा" थी। त्र्रापभ्रंश शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग पातञ्जल महाभाष्यमें मिलता है:--एकस्येव हि <mark>शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद् यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोगी गोता</mark> गोपोत्तिक्तेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः। "" एक ही शब्दके बहुतसे अपभ्रंश रूप मिलते हैं, जैसे एक [शुद्ध] शब्द "गौः" के गावी, गोग्एी, गोता, गोपोतलिका ग्रादि बहुत ग्रापभ्रंश रूप होते हैं।] पर यहाँ पतञ्जलि 'ग्रप-अंश' शब्दका प्रयोग किसी भाषा-विशेषके अर्थमें नहीं करते। उनके मता-नुसार ग्रापभ्रंश शब्द वे हैं, जो पाणिनीय व्याकरणके विरुद्ध तथा ग्रासंस्कृत हैं, किन्तु लोकमें प्रचलित हैं। पतञ्जलि वाला यही मत बादके संस्कृत वैयाकरगों में, यथा वाक्यपदीयकार भर्नु हिरमें भी देखा जा सकता है । इसके वाद 'ग्रपभ्रंश' शब्दका भाषाके श्रर्थमें प्रयोग दराडीमें मिलता है। दण्डीके मतानुसार 'श्रपभ्रंश' भाषा [बोली] श्राभीर श्रादि जातियोंके द्वारा व्यवहृत होती थीं [आभीरादिगिरः काव्येष्वपश्रंश इति स्मृताः—काव्यादर्श १।३६]। भरतके नाटचशास्त्रमें 'ग्रपभ्रंश' शब्दका प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु त्राभीर श्रादि जातियोंकी भाषाको भरतने माना है<sup>3</sup>। इस प्रकार श्रप-भंगके ग्राभीरोंके साथ सम्बन्धवाले संकेतको हम नाट्यशास्त्रमें ही हुँह सकते हैं। इस सम्बन्धमें यह भी कह दिया जाय कि भरतने हिमवत, सिन्ध, सौवीर त्यादि देशोंके वासियोंकी भाषाकी प्रमुख विशेषता उकार-बहुलत्व बताई है<sup>४</sup>, जो श्रपभ्रंशमें पाई जाती है। इस प्रकार श्रपभ्रंश

---वा० प० प्रथमकार्यं का**० १४**८

महाभाष्यः [पस्पशाह्निक]

शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते । तमपञ्जंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम् ॥

<sup>&</sup>lt;mark>३. नाट्यशास्त्र १७|४४ [पृ० २१८] ।</mark>

४. हिमवित्सन्धुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः । उकारबहुतां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत् ॥ वही १८॥४६ [पृ० २१८]

लोक-भाषाके रूपमें द्र्यां कुछ पहले ही प्रतिष्ठापित हो गई होगी। भरतके समय [२००-४०० ई०] के लगभग यह कुछ जातियोंकी ही बोली थी। धीरे धीरे संस्कृत ब्रालंकारिकोंने भी इसे एक विभाषाके रूपमें स्वीकार कर लिया तथा बादके प्राकृत वैयाकरणोंने तो इसका शिष्ट भाषाके रूपमें प्रयोग किया और हेमचंद्रने इसका व्याकरण भी निवद्ध किया। न्यारहवीं शतीमें पुरुषोत्तमने इसे शिष्ट समुदायकी भाषा माना है। यह वह काल है जब कि अपभ्रंशका साहित्यक रूप भी समृद्ध हो गया था। हेमचन्द्रके द्वारा संग्रहीत दोहे उनसे कुछ पहलेके ही रहे होंगे। साथ ही जैन अपभ्रंश साहित्यकी परंपरा नवीं शतीसे ही आरंभ हुई मानी जा सकती है। वैसे पूर्वी अपभ्रंश साहित्यकी परंपरा कुछ विद्वानोंके मतानुसार आठवीं शतीके आरंभके लगभग जाती है।

यद्यपि प्रत्येक श्राधुनिक श्रार्थ भाषा, प्राकृतके बाद श्रपभ्रंशकी स्थितिसे गुजरती हुई श्राजकी दशामें श्राई है, पर प्राकृत वैयाकरणों में प्रायः नागर, उपनागर तथा बाचड इन तीन श्रपभ्रंशोंका नाम दिया है। वैसे बादमें श्राकर मार्कएडेयने तो श्रपभ्रंशके २७ मेद गिनाए हैं। पर मार्कएडेयने तत्त्वदेशके नाम गिनाकर वहाँ वहाँकी श्रपभ्रंशका संकेत किया है। श्रपभ्रंशका सबसे पहला साहित्यिक रूप कालिदासके विक्रमोर्वशीयमें चतुर्थ श्रंककी विरहाकुल पुरूरवाकी कुछ उक्तियों [पद्यरूप उक्तियोंमें] में मिलता है। इनके विषयमें विद्वानोंका मतमेद है। कुछ इन्हें कालिदासरचित ही मानते हैं, कुछ दोपक। एक तीसरा मत यह भी है कि ये कालिदासके समयके कुछ लोक-गीत हैं, जिनका समावेश कालिदासने कर दिया था श्रोर इस प्रकार श्रपभ्रंशका काल कालिदास [ईसाकी चौथी शताब्दी] तक चला जाता है। श्रपभ्रंश साहित्यमें एक श्रोर हम पश्चिमी श्रपभ्रंशका जैनी साहित्य देखते हैं, जिनमें 'महापुराण' 'हरिवंश पुराण' 'भवित्यच

डॉ० शहीदुल्ला । ले शाँ मिस्तीके [पृ० २५-२१] ।

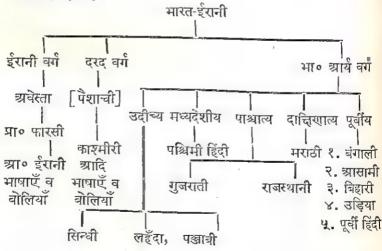
कहा' 'सनत् कुमार चरिग्रउ' त्रादि काव्य प्रसिद्ध हैं, दूसरी त्रोर पूर्वी त्रपभ्रंशमें सिद्धों [बौद्धसिद्धों] के गान त्रीर दोहे।

आधुनिक भा० आर्य भाषाएँ:— श्राधुनिक भा० श्रार्य भाषात्रींका विकास ऋपभ्रंश-कालके बाद [ १००० ई० के बाद ] से माना जा सकता है। इनके विकासमें भी हम दो स्थितियाँ मान सकते हैं। प्रथम स्थितिमें हम इन ग्रा. भार ग्रार्थभाषात्रींका प्राचीनतम विकास मानते हैं, जो १००० ई० से १४०० ई० के लगभग तक माना जा सकता है। हिंन्दीका यह प्रान्वीन रूप हम 'प्राकृतपैंगलम्' तथा उसके साथ ही 'रासो' [ पृथ्वी-राजरासो ] की भाषामें देख सकते हैं। श्राधुनिक भा॰ श्रा॰ भाषाश्रोंको सर व्रियर्सनने एक निश्चित ढंगसे कुछ वर्गोंमें विभक्त किया था । सर प्रियर्धनके इस वर्गीकरण पर हॉर्नलीके वर्गीकरणका प्रभाव पड़ा था, जिसे मूल आधार वनाकर उसने ग्रपनी 'कम्पेरेटिव ग्रामर ग्राव् गौडियन छैविनेन' में ग्रा॰ भा० ग्रा० भाषात्रों को अंतरंग तथा बहिरंग इन दो वर्गोंमें बाँटा था। उनके मतानुसार सुदूर पूर्व तथा सुदूर पश्चिमकी भा० त्रार्थ भाषात्रोंमें यथा, बंगाली त्र्रीर सिन्धीमें ] कुछ ऐसी पदरचनात्मक समानताएँ हैं, जो उन्हें एक ही वर्गकी सिद्ध करती हैं। हॉर्नेली तथा ग्रियर्सन दोनों ही यह मान कर चले हैं कि भारतमें ग्रायोंके दो दल बाहरसे स्राये थे, एक दल जो पहले त्राया, बादके आर्योंके द्वारा मध्यदेशसे बाहर खदेड़ दिया गया। फलतः उसे सिंध, बिहार, बंगाल आदि स्थानोंकी शरण लेनी पड़ी । बादमें स्त्रानेवाले द्यार्योंकी भाषासे ही मध्यप्रदेशीय प्राकृत तथा उसकी परवर्ती स्थितिका विकास हुवा। इस प्रकार ग्रियर्सनने स्रन्तरंग वर्गके स्रंतर्गत शौरसेनी प्राकृतसे विकसित भाषात्र्योंको माना, जिनमें प्रमुख पश्चिमी हिन्दी

१. 'रासो'की तिथिके विषयमें बड़ा मतभेद है। प्रस्तुत लेखकका यह मत है कि 'रासो' में निःसन्देह चन्दके समयकी भाषा वाले कुछ अंग हैं, यद्यपि 'रासो' में अधिकांश प्रक्षिप्त है तथा सोलहवीं शताब्दीके बादकी छोंक है ।—लेखक

है, तथा वहिरंग वर्गमें मागधी प्राकृतको तथा उससे विकसित भाषात्रोंको तथा सिन्धी, छँहदा, सिंहली ग्रौर जिप्सीको सम्मिलित किया।

हॉर्नली तथा सर ग्रियर्धनके इस वर्गीकरणसे कई विद्वान् संवुष्ट नहीं । डॉ॰ चाटुर्ज्यांने ग्रपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ''वंगाली भाषाका उद्गम ग्रौर विकास'' में एक नवा वैज्ञानिक वर्गीकरण दिया है, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनके मतानुसार वेदोंमें ही हम कई विभाषाग्रोंके चिह्न देख सकते हैं। ब्राह्मण प्रन्थोंमें भी प्राच्योंकी विकृत भाषाका संकेत मिलता है। साथ ही ग्रशोंक शिलालेखोंमें भी वैभाषिक प्रवृत्ति प्रान्तोंके ग्राधार पर देखी जाती है। ग्रतः इन भाषाग्रोंका वर्गीकरण भौगोलिक ग्राधार पर करना विशेष ठीक होगा। यही कारण है कि डॉ॰ चाटुर्ज्यांने भौगोलिक ग्राधार पर ग्रा॰ भा० ग्रा॰ भाषात्र्योंका [ ग्रा॰ भा० ग्रा॰ भाषात्र्योंका ही नहीं, प्राकृतोंका भी ] वर्गीकरण दिया है।



Dr. chatterjea: Origin and Development of Bengali Language. Vol. I [Introduction.] P. 30-31

इस प्रकार डॉ॰ चाटुर्ज्या उदीच्य, मध्यदेशीय, पाश्चात्य, दाव्तिणात्य तथा पूर्वीय ये पाँच वर्ग मानते हैं। उदीच्यसे वे सिन्धी तथा ळॅहदाको, तथा मध्यप्रदेशीय प्राकृतसे प्रभावित उदीच्यसे पंजाबीको उद्भूत मानते हैं। मध्य-देशीयमें वे पश्चिमी हिंदीको लेते हैं, तथा पाश्चात्यमें गुजराती एवं राजस्थानीको; इन्हींके मिश्रित वर्गमें वे पहाड़ी बोलियोंको मानते हैं। द्विणात्य वर्गमें मराठीका समावेश होता है। पूर्वीय वर्गके दो उपवर्ग किये जाते हैं:—[१] कोसली जिसमें पूर्वी हिंदी—भोजपुरी तथा अवधी आती हैं, दूसरी मागधी जिसके अंतर्गत वंगाली, आसामी, उड़िया तथा विहारीका समावेश होता है।

भाषात्रोंका वर्गांकरण कर लेनेके बाद हम मोटे तौर पर प्राकृत कालसे लेकर आज तककी व्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक परिणाति का विहंगम हिंधे अध्ययन करेंगे। यही कारण है, परवर्ती पृष्ठोंमें प्राकृत, अपभ्रंश तथा परवर्ती प्रवृत्तियों की खास विशेषताओंका ही संकेत किया जायगा।

् संस्कृत स्वरध्वनियोंका परवर्ती विकास—

सर्वप्रथम हम देखते हैं कि संस्कृतके ऋ, ऌ स्वर प्राकृत कालमें आकर सर्वथा लुत हो गये हैं। ॡ का तो संस्कृतमें भी एक प्रकारसे अभाव ही था, क्योंकि वहाँ यह केवल √ क्छप् धातु या उससे वने एक दो रूपोंमें पाया जाता था। ऋ प्राकृतमें आकर तीन प्रकारसे विकसित हुआ है:—अ, इ, तथा उ। इसके पहले कि हम इसके अ वाले विकसित रूपको छें, इ तथा उ वाले विकासका संकेत कर दें। प्राकृतप्रकाशमें बताया है कि 'ऋष्यादि' गण के शब्दोंमें ऋ प्राकृतमें इ पाया जाता है। उदाहरणके लिए, ऋषि, मृंगार, शृंगार, शृंगार, श्रंगाल के प्राकृतमें इसी, भिंगारो, सिंगारो, कि पाये जाते हैं। कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जिनमें ऋ के अ तथा इ दोनों रूप पाये जाते हैं दढ, मृंग, गृंध जैसे शब्दोंके दढो-दिढो, मओ-मिओ, गद्धो-गिद्धो ये वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। 'ऋत्वादिगण' के

१. इस्टब्यादिषु [१।३०]--प्राकृतप्रकाश ।

राब्दोंमें प्राकृतमें ऋ का उ विकास पाया जाता है। उदाहर एके लिए, ऋतु, वृत्तान्त, मृणालं, पृथिवी के प्राकृत रूप उद्धु, वृत्तन्तो, मुणालं, पृहिवी रूप पाये जाते हैं। वाकी शब्दोंमें यह ऋ प्राकृतमें अ के रूपमें विकसित हुआ है, जैसे तृष्णा का प्राकृतरूप तण्हा।

प्राकृत-कालकी दूसरी विशेषता ऐ, औं ध्विनयुग्मोंका लोप है। प्राकृतप्रकाशकारने 'ऐत एत' [११३६] तथा औत श्रोत् [११४१] इन सूत्रोंमें वताया है कि संस्कृत ऐ, श्रों प्राकृतमें श्राकर प्रायः ए, ओ हो जाते हैं। उदाहरणके लिए शैंब, कैंबाश, सैन्य, सौभाग्य, यौवन, कौशाग्बी के प्राकृत रूप सेंबो, केंबासो, सेण्णम, सोहग्गं, जोध्वणं, कोसंवी पाये जाते हैं। किन्तु कई स्थानोंपर ये ध्विनयाँ क्रमशः अइ, तथा ग्रउ के रूपमें भी विकसित हुई हैं। "दैत्यादिगण" में 'श्रइ' [देत्यादिषु श्रइत् ११३७] तथा "पौरादिगण" में 'श्रउ' [पौरादिषु श्रउत् ११४२] का विकास हुग्रा है। उदाहरणके लिए, देत्य, कैतव, वैशाख के प्राकृत रूप दइच्चो, कइतवो, वइसाहो, तथा पौर, रौरव, गौड के प्राकृत रूप पउरो, रउरवो, गउडो पाये जाते हैं। कभी ऐ तथा श्रों कमशः ई तथा उ के रूपमें भी विकसित मिलते हैं—धेर्यं [प्रा० धीरं]; सौन्दर्यं [प्रा० सुन्देरं]।

प्राकृतकालमें हस्य विवृत ए, स्रा ध्वनियोंके होनेका संकेत मिलता है। यह संकेत प्राकृत छुन्दोंको देखनेसे मिलता है, जहाँ कभी-कभी ऐ, स्रो हस्य या एकमात्रिक देखे जाते हैं। संस्कृतमें इन हस्य ध्वनियोंका स्रमाय है। फिर भी इस तरहके उच्चारणका स्रस्तित्व सामवेदीय शाखास्रों के वैदिक उच्चारणमें था, इस बातका संकेत महर्षि पतञ्जलिने महाभाष्यमें किया है। प्राकृतप्रकाशमें इस विशेषताका उल्लेख नहीं। हेमचन्द्रने

१. उद्दल्वादिषु [१।३१]—वही ।

२. ऋतोऽत् [११२६]—वही। साथ ही दे० Pischel: Prakrit Sprachen. pp. 49-50.

अवश्य इसका उल्लेख किया है। पिशेलने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्राक्तत स्प्राख़ेन'' में इस बात पर विशद विवेचन प्रस्तुत किया है कि प्राकृतमें ए, आ ध्वनियाँ थीं:—

[१] प्राकृतमें जहाँ इ, उ ग्रथवा ई, ऊ किसी संयुक्त व्यंजनके पूर्व होते थे, तथा वह इ, उ संस्कृत ऋ का ही विकास था, वहाँ यह इ, उ प्राकृतमें हस्य ए, ग्रा के रूपमें विकसित हो गया था, यथा

\*दत्तति [पश्यति]<del> ></del>\*दिनखइ<del> </del>देनखद्

[२] संयुक्त व्यञ्जनध्विन [संयुक्ताद्वर] के पूर्व ए तथा श्रो क्रमशः ए, श्रा के रूपमें विकसित हो गये थे। यथा, प्रेचते, प्रेचणीय, श्रोष्ठ, अन्योन्य के प्राकृत रूप ये हैं: — पेच्छइ, पेच्छणिज्ज, श्राह, श्रण्णाएण।

[३] यदि प्रथम पदके अन्तमें ए या आ ध्विन है और उत्तर पदकी प्रथम ध्विन प्राकृतमें संयुक्त व्यंजन ध्विन है, तो भी ये ध्विनयाँ ऐ, आ हो जाती हैं। यथा, तुम्ह स्था [वै॰ सं॰ युष्मे स्था], अणुराआकि [अनु-राम इति], समानि [सम'इति], साअरिक [सागरे इति]।

त्रिधिकतर ऐसा समभा जाता है कि ऐ, श्रो का ही विकास श्रा० मारतीय त्रार्य भाषाश्रोंमें विवृत ऐ, श्रो के रूपमें पाया जाता है। किन्तु पिशेलने यह सिद्ध कर दिया है कि इनका विकास श्रन्य दिशाश्रोंसे भी हुआ है। यहाँ हमें यह समभ लेना है कि मध्यकालीन भा० श्रार्य भाषाश्रों तथा श्राधुनिक भा० श्रा० भाषाश्रोंमें हस्त्र ऐ, श्रा ध्वनियाँ पाई जाती हैं। वैसे इन ध्वनियोंके लिए रूढ़ लिपि [conventional ortho-

<sup>1.</sup> Pischel: Prakrit Sprachen, p. 61-

<sup>7.</sup> ibid. p. 73.

<sup>3.</sup> ibid. p. 74.

graphy] में कोई संकेत नहीं पाया जाता। हिन्दीमें इनके लिए प्रायः ऐ, श्रो लिपिचिह्नोंका ही प्रयोग पाया जाता है, जैसे जाइह, कसे को जाइहै, कैसे लिखा जाता है।

हॉर्नलीने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "कम्पेरेटिव ग्रामर गौडियन लेग्विनेज" में इस बात पर प्रकाश डाला है कि प्राकृतमें हस्व ए तथा आ अवस्य रहे होंगे। प्राकृतप्रकाशमें इनका स्पष्ट उल्लेख नहीं है, पर हॉर्नलीका अनुमान है कि निद्रा, नीडं, शैत्यं, शय्या, सेवा, एकं, मुक्ता, यौवनं, त्रैलोक्यं के प्राकृत रूप णद्दा, णड्डं, सच्चं, संउजा, सव्वा; एक्कं, मात्ता, जाव्वणं, तलोक्कं में प्रथम स्वर ध्वनि ह्स्व ए, आ ही हैं। हॉर्नलीका यह अनुमान ठीक है, तथा पिशेलके मतसे भी इसकी पृष्टि होती है।

श्रपभंशमें हस्व ए, श्रा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। हैम व्याकरणमें स्पष्ट रूपसे इसका संकेत करते हुए हेमचन्द्रमें वताया है कि व्यञ्जन ध्वनिसे पूर्व होने पर ए, ओ ध्वनियोंका उच्चारण लघु होता है।

# य, व−श्रुतिः -्व

संस्कृतमें एक साथ दो स्वर ध्वनियाँ पदमें नहीं पाई जाती, उनमें संघि हो जाती है, किन्तु यह बात प्राकृतमें नहीं पाई जाती। वहाँ दो स्वर ध्वनियाँ एक साथ मिन्न अव्तर-प्रक्रियाका संपादन करती पाई जाती हैं। हम कुछ संस्कृत शब्दोंके प्राकृत रूप लेते हैं। मयूख, मयूर, आदर, आतप, आकाश, जाया, आकुल, वाद्यति के प्राकृत रूप मऊह, मऊर, आअर, आश्रव, आश्रास, जाया, आउल, वाएइ हैं, जहाँ इन पदोंके प्रथम तथा द्वितीय अव्तरोंमें एक साथ [बिना किसी व्यंजनके व्यवधानके] दो

<sup>9.</sup> Hornle: Comp. Grammar of Gaudian Languages§ 6. pp. 45.

२. "कादिस्थैदोतोरुच्चारलाधवम्" :—हेमचन्द्र ४।४१०।

स्वर ध्वनियाँ पाई जाती है। यहाँ संस्कृतकी भाँति स्वरसंघि नहीं हुई है। विसे कई स्थलों पर प्राकृत तथा पालिमें स्वरसंघि होती है, पर वह यहाँ हमारा विषय नहीं है।] संभवतः इसका कारण संस्कृत-पदोंके मूल श्रद्धर-भार [Syllabic weight] को सुरिद्धत रखनेकी प्रवृत्ति है। अप्रमंश कालमें ऐसे कई स्थानों पर ब तथा व श्रुति [glide] का प्रयोग पाया जाता है। उदाहरणके लिए संस्कृत नागदत्त, युगल के प्राकृत रूप णाअदत्त, जुअल हैं, किंतु अपभ्रंशमें इनके रूप णायदत्त तथा जुयल पाये जाते हैं। ऐसे अनेकों उदाहरण देखे जा सकते हैं। . यहीं नहीं, जैन महा-राष्ट्रीमें इनका प्रचुर प्रयोग है तथा मागधी प्राकृतमें भी कुछ स्थानों पर य अतिका प्रयोग पाया जाता है। हॉर्नलीने योजनं के मागधीरूप योयगं की लेकर बताया है कि ज यहाँ पर य हो जाता है। वस्तुतः मागधीमें ज का परिवर्तन य रूपमें नहीं होता। ध्यानसे देखा जाय तो ज का लोप होता है, [ कगचजतदपयवां प्रायो लोपः ] तथा बादमैं स्वरमध्यगत य श्रुतिका प्रयोग होता है। यह श्रुतिप्रयोग इसलिए होता है कि प्राकृत रूप 'योअणं' में श्रो तथा श्र में संघि न हो तथा श्रद्धर-भार भी श्रद्धएए बना रहे। अथवा कुछ य-श्रुतिकी उच्चारणवाली विभाषास्रोंने मागधी प्राकृतको प्रमाबित किया होगा । प्राकृतमें व श्रुतिका भी संकेत मिलता है । कात्यायनने बताया है कि कहीं य तथा कहीं व श्रुतिका उच्चारण विकल्पसे पाया जाता है गअर्ण-गयणं, सुहुओ-सुहुवो [ सं० गगनं, सुभगः ] 📑

हेमचन्द्रने भी इस श्रुतिके प्रयोगका संकेत किया है। हेमचन्द्रने अपने ज्याकरणमें अपभ्रंशके सम्बन्धमें य श्रुतिका वर्णन किया है। श्रुतिके संबंधमें ऐसा जान पड़ता है कि किन्हीं विशेष विभाषात्रोंमें कोई एक श्रुति [य या

देखिये, मेरा लेख "अन्तःस्य ध्वनियाँ" [शोधपत्रिका २००६]

२. क्वचिद्यत्वं वा ॥ गत्रणं गयणं वा ॥ क्वचिद्यत्वं वा । सुहन्नो सुहवो वा । [१।१। ४५-४६]

व] का प्रयोग प्रमुख हो जाता है। शौरसेनी ग्रपभ्रं शकी श्रुतिगत विशेषता य-वाली रही होगी। हेमचन्द्रके अनुसार अ या उसके दीर्घ रूप आ के पूर्व. तथा पर ध्वनि दोनों होने पर य श्रुतिका प्रयोग होता था, तथा वे बताते हैं कि जहाँ क, ग, च, ज ग्रादिका लोप हो जाता है, वहाँ अ, ग्र, ग्रा, अ, अ, आ; आ, आं के बीचमें य श्रुतिका प्रयोग होता है। 'य' का उच्चारण 'लाबुप्रयन्नतर' होता है। वहाँ हमें 'लाबुप्रयत्नतर' शब्दपर विचार करना है। च्चाजके पारुचात्य ध्वनिशास्त्री श्रुति [glide] को ध्वन्यात्मक <mark>तत्त्व</mark> [Phonematic element] न मानकर सन्ध्यात्मक तत्त्व [ Prosodic element] मानते हैं। संभवतः हेमचन्द्रका यही अर्थ है कि इस प्रकारके श्रुतिरूप य का उचारण इतना पूर्ण नहीं हो पाता, कि वह य चर्ण [Phoneme] हो सके। यही कारण है कि अपभ्रंशके गयणं, णयणं के उचारणमें हेमचन्द्रकी साच्चीपर यहाँ केवल ५ ध्वनियाँ [phoneme] ग् [ण], अ, अ, ण, अं ही मानी जा सकती हैं, य को श्रलगसे ध्वनि मानने पर ६ ध्वनियाँ माननी होंगी। यदि कही श्रप-भ्रं शके इस उच्चारणका ध्वनिशास्त्रीय प्रतिलिपीकरण करना हो तो यों होगा।

	स्थूल ध्व० लि०	सू० ध्व० लि०
गयणं	gəənə	gə <sup>y</sup> ∧n∧[‴]
णयणं	nəənə	$n\theta^g \wedge n \wedge [m]$

यहाँ स्थूल ध्वन्यात्मक लिपीकरण [broad transcription] में हमने केवल ध्वनियोंको व्यक्त किया है, जब कि सूच्म लिपीकरण [narrow transcription] में एक ब्रोर 'य' [y] श्रुतिको कुछ ऊपर लिखकर उसकी ध्वन्यात्मकता निषिद्ध करते हुए भी उसकी श्रुत्यात्मकता संकेतित की

१. अवर्णो यश्रुतिः [८।१८०] तथा इस सूत्रकी टीका कगचजेत्या-दिना लुकि सित वर्णे अवर्णः अवर्णात्परो लघुप्रयत्नतस्यकारश्रुतिर्भविति ॥

है। साथ ही वहीं अन्तमें [m] के द्वारा अनुनासिकीय उच्चारणकी विशेषताका भी संकेत किया है। इनमें हम 'म' [m] को अलगसे ध्विन मानिके पद्ममें न होकर अनुनासिक स्वरकी ही विशेष प्रवृत्ति मानिंगे, जो उसके पद्मित होनेपर सदा पाई जायगी। साथ ही  $\Theta$  उदासीन केन्द्रीय स्वर [central vowel] के पश्च उच्चारणके लिए हमने  $\wedge$  चिह्नका प्रयोग किया है।

जहाँ तक 'य' ध्विनके विकासका प्रश्न है, प्राकृतमें यह ध्विन शुद्ध संस्कृत ध्विनके रूपमें विकिसित नहीं हुई है, वहाँ संस्कृत पदादि य सदा ज हो जाता है। यदि संस्कृत य स्वरमध्यगत है तो वह प्राकृतमें जुप्त हो जाता है। इस तरह प्राकृतमें संस्कृत य का दुहरा विकास देखा जाता है। प्राकृतमें हो कुछ विभाषात्रों में य श्रुति रही होगी, वहीं श्रुति त्र्यागे जाकर श्रपभ्रंश भाषाकी खास विशेषता वन वैठी। हम देखते हैं कि जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनीमें 'य'—श्रुतिका प्रयोग पाया जाता है।

त्राजकी भा० त्रा॰ भाषात्रोंके उच्चारणमें यह श्रुतिगत प्रवृत्ति पाई जाती है। किन्हीं विशेष भाषात्रों या उनकी विभान्नोंमें या श्रुति प्रधान होती है, किन्हींमें व श्रुति। पछाँहमें 'य' श्रुतिकी प्रवृत्ति देखी जाती है, तो प्रवमें 'व' की, पर इसका द्रार्थ यह नहीं कि पछाँहमें 'व' श्रुति [w-glide] का ग्रभाव है। हम हिंदीसे कुछ शब्द लेकर उनके तीन

<sup>9.</sup> आधुनिक ध्वनिशास्त्री इस तरहकी सरिण आजकी बोलचालकी भाषाश्रोंमें ही ग्रहण करता है, मृत भाषाश्रोंमें नहीं। यहाँ हमने इस नियमका भंग-सा किया है। हमारा उद्देश्य इस नियम-भंग करनेमें हेमचंद्रके समयके उच्चारणको व्यक्त करना था, इसका साक्षी स्वयं हैम व्याकरण है। साथ ही हम यह नहीं कहते कि ऐसा उच्चारण था ही। हम केवल इतना कहते हैं कि हेमचन्द्रकी साची पर इस तरहका उच्चारण रहा होगा।

तरहके उच्चारणको व्यक्त करते हैं। यहाँ प्रथम उच्चारण सूत्य-श्रुति [zero-glide] वाला या साधारण उच्चारण है, द्वितीय य-श्रुतिवाला है, तृतीय व-श्रुतिवाला।

शून्य-श्रुति	य∙श्रुति	व-श्रुति
खाए [kha*-e]	खाये [kha <sup>y</sup> e]	खाने [kha' <sup>w</sup> e]
पीए [pi · e]	<b>पोये</b> [pi • <sup>y</sup> e]	<b>पीबे</b> [pi • "e]
<b>जाए</b> [ja'e]	जाये [ja· <sup>y</sup> e]	जावे [ja• <sup>™</sup> e]
कुई [kui]	कुयी [ku <sup>y</sup> i] <sup>9</sup>	कुवी [ku <sup>w</sup> i]
सुई [sui]	<b>सुयी</b> [su <sup>y</sup> i]	सुर्वा[su‴i] <sup>9</sup>

इस परिच्छेदमें हम केवल उन्हीं परवर्ता विशेषतात्रोंका संकेत कर रहे हैं; जो विशेष महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है संस्कृत व्यञ्जनध्वनियोंके विकासको हम बड़े संदोपमें छेंगे। इसके पहले कि हम व्यञ्जनोंके विकासपर दो शब्द कहें ख्रा॰ मा॰ ख्रा॰ 'अनुनासिकोकरण' पर कुछ कह देना जरूरी होगा। स्वरींके नासिक्य रूपको ऐतिहासिक दृष्टिसे दो तरहका माना गया है; १. पराश्रय या सकारण अनुनासिकता, तथा २. निराश्रय या ख्रकारण अनुनासिकता, तथा २. निराश्रय या ख्रकारण अनुनासिकता वाई जाती है, उसे प्रथम कोटिमें माना जाता है, जैसे राम, हनुमाना, जामवंत के राँम, हनुमाना, जामवंत के राँम, हनुमाना, जाँमवंत इन रूपों में। दूसरे ढंगकी सातुनासिकता वह है जहाँ प्रत्यन्त रूपमें कोई अनुनासिक ध्वनि उस पदमें नहीं है, जिसका प्रभाव अनुनासिकीकरणको रूपमें हो। जहाँ अनुनासिकीकरणका कोई कारण विद्यमान न हो, ऐसे निराश्रय अनुनासिकीकरणको क्लॉख तथा

१. कुत्राँ शब्दके खीलिंग रूपका उच्चारण य तथा व श्रुतिवाला भी सुना जाता है। ठीक यही बात सुई के विषयमें है, पर इसका व बाला उच्चारण बहुत कम सुना जाता है—राजस्थानीकी पूरबी बोलीमें ये व-श्रुतिवाले रूप यत्र तत्र सुने जा सकते हैं।

टर्नर "स्पोन्टेनियस नेजेलाइजेशन" कहते हैं। इसके उदाहरण कंकर, श्राँख, साँप ग्रादि दिये जा सकते हैं, जहाँ संस्कृत रूपोंमें या इनके प्राकृत रूपोंमें भी श्रनुनासिक तत्व नहीं हैं:—कर्कर [कक्कर], श्रचि [श्रक्खि], सर्प [सप्प] । श्रनुनासिकोकरणका विशेष विवेचन डॉ० सिद्धेश्वर वर्मोंके निवन्ध 'नेजेलाइजेशन इन हिंदी लिटररी वक्षें' में देखा जा सकता है, जो कलकत्ता विश्वविद्यालयके डिपार्टमेंट श्राव् लेटसें' के १६२६ वाले जर्नलमें प्रकाशित हुग्रा है । मैंने इस विषयपर विस्तारसे श्रपने श्रन्य निबंध "भारतीय श्रार्य भाषाएँ तथा श्रनुनासिक ध्वनियाँ" में विचार किया है, श्रतः वहाँ द्रष्टव्य है । यह निबंध शोधपत्रिका [२००६] में प्रकाशित हुग्रा है । यह निबंध शोधपत्रिका [२००६] में प्रकाशित हुग्रा है । यहाँ संकेत मात्र दिया गया है ।

### संस्कृत व्यञ्जन ध्वनियोंका परवर्ती विकास :--

- १. प्राकृतकालीन विकास:—[१] संस्कृत न, य, श के अति-रिक्त प्रायः सभी ध्वनियाँ प्रांकृत कालमें शब्दोंके आदिमें अपरिवर्तित रही हैं। न, य, श क्रमशः ण, ज, स बन जाते हैं। जधा, एअरं, सेज्जा [यथा, नगरं, शैथ्या]
- [२] संस्कृतके पदादि क, प कभी-कभी ख, फ हो जाते हैं, खुञ्ज [कुडज], फरास [पनस] [हि॰ फालसा]
- [३] संस्कृत श, प, स तीनों शौरसेनी-महाराष्ट्रीमें स तथा मागधीमें श के रूपमें विकसित हुए हैं। सेसो [शेषः]; मागधी, शूपेण [सूपेन]।
  - ू[४] पदमध्यवर्ती संस्कृत क, ग, ज, च, त, द, प, य, व का प्राकृतमें

<sup>1.</sup> Bloch: La formation de la langue Marathe § 70 साथ ही Prof. Turner: Gujrati Phonology [RASJ. 1916].

प्रायः लोप हो जाता है। लोग्न [लोक], सअल [सकल], अखुरात्र [श्रनु-राग], जुञ्चल [युगल], णक्षर [नगर], पडर [प्रचुर], भोअण [भोजन], रसाग्रल [रसातल], हिन्नअ [हृदय], रूग्न [रूप], दिग्नह [दिवस]।

ृष्] पदमध्यवतीं ख, घ, थ, घ, फ, भ प्राकृतमें प्रायः ह के रूपमें विकित्तत हुए हैं। मुह [मुख], सही [सखी], मेह [मेघ], लहुअ [लघुक], रुहिर [रुधिर], बहू [वधू], सहर [शफर], श्रहिणव [श्रभिनव], णह [नभ, नख]।

[६] कहीं-कहीं स्वरमध्यगत व्यञ्जनका द्वित्व भी हो जाता है, उज्ज [ऋजु], एक [एक]।

[ঙ] स्वरमध्यगत ट, ठ क्रमशः ड, ढ हो जाते हैं, पड [पट], कुडिल [কুटिल], कुडुम्ब [कुटुम्ब], वड [वट], पढर्ण [पटन]।

जोक > लोग > लोग [lova] > लोख,
अनुराग > अग्रुराग [anurava] > अग्रुराभ
प्रमुर > पग्रुर [pazura] / पग्रुर
रसातल > रसादल > रसादल [rasabala] / रसाअल
[दे० डॉ० चाटुज्याः भारतीय श्रार्यभाषा श्रौर हिन्दी ए० ६१]
२. खघथघभां हः — प्रा० प्र० २१२७
३. टोडः । [२१२०] डोडः [२१२४]—प्राकृत प्रकाश ।

<sup>्</sup>र कगचजतद्पयवां प्रायो लोपः—प्राकृतप्रकाश २।२ [साथ ही]
प्रायः कगजतद्पयवां लोपः—प्राकृतसर्वस्य २।२ इस संबंधमें इतना
संकेत कर दिया जाय कि संस्कृत श्रघोप-सघोष श्रहप्रगण क, ग, च, ज,
त, द लुप्त होने के पूर्व एक और विकास स्थितिसे गुजरे होंगे। संभवतः
इसमेंसे श्रघोष अल्प्याण पहले सघोष श्रहप्रगण हुए होंगे, बादमें सभी
सघोष श्रहप्रगण 'ग, ज, द' सोष्म 'ग, ज, द होकर तब लुप्त हुए होंगे।
इस प्रकार इनका विकास कम यों रहा होगा।

[द] स्वरमध्यगत प यदि लुत नहीं होता, तो वह व के रूपमें विक-सित होता है। रूव [रूप], दीव [दीप], उविर [उपिर], उवग्ररण [उपकरण], अवर [ग्रपर] [हि॰ श्रौर]।

[६] संयुक्त व्यंजन ध्वनियोंके परवर्ती विकासकी प्रमुख विशेषतार्ये ये हैं:—

[क] क, ग, ड, त, द, प, ब, ष, स संयुक्त ध्वनियों में प्रथम ध्वनि होने पर परवर्ती ध्वनिके समान हो जाते हैं; अर्थात् प्रथम ध्वनिमें समीकरण हो जाता है। जुन्तं [युक्तं], मुद्धं [मुग्धं], खग्गो [खड्गः] उक्कण्ठा [उत्कण्ठा], उप्पन्तं [उत्पन्तं], मुग्गो [मुद्ग], मुन्तो [सुप्तः], सहो [शब्दः], खुद्जो [कुट्ठो [पष्टः],

[ख] ल, व, र संयुक्त ध्वनिमें होने पर सदा [लुप्त होकर] समीकृत हो जाते हैं:—वक्कं [वल्कलं], सुक्को [शुक्कः], बेल्लं [विल्व], सक्को [शकः], श्रक्को [श्रर्कः]।

[ग] व्क-स्वः छ, व्य विक], स्त [स्थ], स्प [स्फ] क्रमशः प्राकृतमें क्ख, छ, प्फ, त्थ प्फ, के रूप में विकसित हुए हैं:—

पोनखर [पुष्कर],सुनख [शुष्क], दिट्ठि [दृष्टि], सुट्ठु [सुष्ठु], पुष्फ [पुष्प], निष्फल [निष्फल], इत्थ [इस्त], श्रवत्था [अवस्था], फलिह [स्फटिक], फुसइ [स्पृशति]।

[घ] च, द्य, ह्य, क्रमशः क्ल, ज, म्ह होते हैं:—ग्रक्लि [ग्रक्षि], वेजो [वैद्यः], विज्ञा [विद्या], बम्हणो [ब्राह्मणः]।

[१०] शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीमें प्रायः ध्विनपरिवर्तनकी दृष्टिसे

१. पोवः—प्रा० प्रकाश २।१५

समानता ही हैं। मागधी प्राकृतमें कुछ निजी विशेषताएँ है; उनका संकेत यहाँ किया जाता है।

[क] मागधीमें श, ष, स तीनोंके स्थानों पर श का विकास हुआ है:—

शमल [समर], शुरक [शुष्क], पुलिशे [पुरुषः]।

[ख] मागधीमें र, ल दोनोंका विकास ल के रूपमें पाया जाता है।

<mark>लाजा [राजा], शमल [समर], पुलिशे [पुरुषः] ।</mark>

[ग] शौरसेनीकी तरह यहाँ भी स्वरमध्यगत द पाया जाता है:— भविश्शदि [भविष्यति]।

#### प्राकृत-पद्-रचना

प्राकृतमें संस्कृतकी पदरचना सरलताकी ग्रोर बढ़ी। यह सारल्यप्रवृत्ति शब्दों तथा धातुग्रों दोनोंके रूपोंमें दिखाई पड़ती है। संस्कृतके तीन वचन प्राकृतमें ग्राकर केवल दो ही रह गये हैं। प्राकृतमें केवल एकवचन तथा बहुवचन ही हैं; द्विवचनका वहाँ ग्राभाव है। प्राकृतकी इसी परम्पराका निर्वाह ग्रापग्रंश तथा ग्रा० भारतीय ग्रार्थ भाषाग्रोंमें पाया जाता है।

प्राक्ततके प्रातिपादिक अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त, आकारान्त, ईकारांत, उकारान्त [स्त्रीलिंग] अधिक हैं। संस्कृतके हलन्त प्रातिपदिक यहाँ आकर प्रायः अदन्त हो गये हैं। यही हाल संस्कृतके ऋकारान्त शब्दोंका हुआ है। भत्तार [सं० भर्तृ], माआ [सं० मातृ]। संस्कृत हलन्त

<sup>1.</sup> शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीमें प्रमुख मेद यह है कि शौरसेनीमें स्वरमध्यगत द लुप्त नहीं होता, त्रागदो [ महा॰ आगओ, सं॰ आगतः]। इसी तरह शौरसेनीमें स्वरमध्यगत ध [ सं॰ थ ] सुरक्षित रहता है, वह ह नहीं होता। जैसे अध [ महा॰ ऋह सं॰ अथ ], कधम्, [ महा॰ कहम्, सं॰ कथम् ], णाध [ महा॰ णाह, सं॰ नाथ ]।

शब्दोंका विकास श्रदन्तोंमें हो गया है :—राम्रा [ राजन् ], अप्पा, श्रता, [ श्रात्मन् ], बह्या [ ब्रह्मन् ]।

प्राकृत कालमें त्राकर संस्कृत लिंग सुरित्तत रहे हैं। पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग तीनों प्रकारके रूप वहाँ पाये जाते हैं। किंतु नपुंसकिलिंगोंके रूपोंको देखने पर पता चलता है कि संस्कृतमें ही इनके रूपोंकी बहुत कमी है। प्रथमा-द्वितीया विभक्तिवाले रूपोंको छोड़कर बाकी विभक्तियोंमें ये पुल्लिंग रूपोंमें ही समाहित रहे हैं। प्राकृतने इन नपुंसक शब्दोंके प्रथमा द्वितीया [कर्ता-कर्म] के एकवचन तथा बहुवचनके रूपोंको सुरित्तत रक्खा है:—वर्ण, कुसुमां [कर्ता-कर्म एकवचन रूप], वणाइँ, वणाइ, वणाण, कुसुमाइँ, कुसुमाइ, कुसुमाणि [कर्ता-कर्म बहुवचन रूप]। सिवाय इन दो रूपोंके अन्य सभी रूप पुल्लिंग जैसे पाये जाते हैं। यही कारण है कि अपभ्रंशमें आकर ये नपुंसकलिंग रूप भी लुप्त हो गये हैं। इनमेंसे अधिकतर पुल्लिंग रूप बन गये हैं।

प्राकृत कालमें आकर विमक्तियोंकी भी सरलता पाई जाती है। संस्कृतमें आठ विभक्तियाँ पाई जाती हैं, किन्तु यहाँ चतुर्थीका लोप हो गया है, वह षष्ठीमें सम्मिलित हो गई है। इस प्रकार प्राकृतमें प्रथमा [कर्ता], दितीया [कर्म], तृतीया [करण], चतुर्थी-षष्ठी [सम्प्रदान-संबंध], पंचमी [आपादान], सतमी [आधिकरण] तथा संबोधन ये सात ही विभक्तियाँ पाई जाती हैं। यही नहीं रूपों तथा सुप् विभक्तियों में भी बड़ी सरलता हो गई है, तथा सभी पुल्लिंग शब्दोंके रूप प्रायः अकारान्त शब्दोंके रूपोंसे प्रभावित हुए हैं। अकारान्त तथा इकारान्त-उकारान्त शब्दोंके षण्ठी ए० व० रूपोंमें जो भेद था, वह जुत हो गया, तथा इकारान्त-उकारान्त शब्दोंके प्रणी सिमिलित हो गये—वच्छस्स [बत्सस्य], अगिस्स [अग्नेः], अगिर्यो [अग्नेः]; वाउस्स [वायोः], वाउणो [वायोः]। इसी तरह अकारान्त पुल्लिंग शब्दोंके तृतीया ए० व० के रूप अन्य शब्दोंकी भाँति हो गयेः—वच्छेहिं-वच्छेहिं [वत्सैः], अग्गीहिं-अग्गीहिं [अग्निमिः] वाऊहिं-वाऊहिं [वायुमिः]।

इसो प्रकार हलन्त शब्दोंके ग्राजन्तीभूत प्राकृत शब्दोंके रूप भी <mark>ग्रकारान्त</mark> पुल्लिंग शब्दके रूपोंसे प्रभावित हुए; करेन्तो [कुर्वन् ], पुलोअन्तो [प्रलोकयन् ]।

स्त्रीलिंग आ, ई, क अन्तवाले शब्दोंमें रूपोंकी समानता पाई जाती है। प्रथमा [कर्ता] बहुबचनमें सभीमें तीन तरहके रूप पाये जाते हैं; [१] ग्रून्य अविकारो रूप; [२] ग्रो-विमक्ति चिह्नवाला रूप; [३] उ विभक्ति चिह्नवाला रूप; यथा माला, मालाखो, मालाउ; नई, नईखो, नईउ; वहू, वहूओ, वहूउ; माञा, मात्रात्रो, मात्राउ; [संस्कृत मा<mark>लाः, नदः,</mark> बध्वः, मातरः]। स्त्रीलिंग शब्दोंके सुप् विभक्ति चिह्न दो तीन रूपोंको छोड़कर प्रायः वे ही हैं, जो पुल्लिंग रूपोंके। प्रथमा-द्वितीया बहुवचनके रूपों [जिनका उदाहरण अभी-अभी दिया गया है] के अतिरिक्त पष्ठी [सम्बन्ध-सम्प्रदान] ए० व० के रूप भी स्त्रीलिंग शब्दोंमें भिन्न हैं। <mark>संबंध</mark> कारक ए० व० में स्त्रीलिंग रूपोंके चिह्न इ, ए, उ, अ, आ कई देखे जा सकते हैं: — बहूइ, बहूए, बहूउ, बहूअ, बहूआ [सं० वध्वाः]। स्त्रीलिंग शब्दोंके तृतीया [करण] ए० व०, तथा सप्तमी [ग्रधिकरण] ए० व० के रूप भी प्रायः ये ही होते हैं। यही कारण है कि स्त्रीलिंग रूपोंमें करण, सम्प्रदान, संबंध तथा श्रिधिकरण चारोंके एकवचन एक ही हैं। द्वितीया [कर्म] ए० व० के रूपोंमें प्रातिपादिककी अन्तिम स्वरध्वनिको हस्व बनाकर 'मू' विभक्तिचिह्न प्रयुक्त होता है: - मालं [सं० मालां], नई [सं० नदीं], वहुं [सं० वध्रं]।

संस्कृतके सर्वनाम रूपोंमें अस्मत्-युष्मत् शब्दोंके रूपोंमें कई तरहके परवर्ती विकास देखे जाते हैं। अहं का विकास हं, अहं, अहअं, तथा वं का विकास तं, तुमं, तुं इन वैकल्पिक रूपोंमें देखा जाता है। कर्ता वहुवचन में क्रमशः अम्हे [शौर॰ वग्नं], तुज्मे-तुम्हे रूप पाये जाते हैं। अन्य कारकोंके ए० व० तथा बहुव॰ में इन दोनों शब्दोंमें अनेक वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। इनमें कई तो संस्कृतका प्रभाव है, कई अकारान्त पुल्लिंग

शब्दोंका प्रभाव है, यथा—मइ, मए, मसस्सि, समस्सि [ सं॰ मचि], मत्तो, मइत्तो, समादो, ममादु, ममाहि [ सं॰ मत्]। इसी तरह युष्मत् शब्दके रूपोंका भी वैकल्पिक विकास देखा जा सकता है।

संज्ञा तथा सर्वनाम रूपोंकी अपेत्वा प्राकृत कियारूपोंमें अत्यधिक परिवर्तन पाया जाता है। जिस प्रकार प्रातिपदिक रूपोंके अंतमें एकरूपता लानेकी प्रवृत्ति पाई जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है । संरक्तत धातुत्र्यों में अंतमें व्यञ्जन धानियाँ भी पाई जाती हैं । प्राक्षतमें त्र्याकर ये सभी धातु स्वरान्त हो गये हैं। इस प्रकार संस्कृतके दस गर्णोंका भेद यहाँ श्राकर लुत होने लगा है, श्रीर श्रपभ्रंशमें श्राकर तो केवल एक ही गरा रह गया है। बादमें प्रायः सभी घातु रूप म्वादिगरा बन गये हैं। शब्द रूपोंके साथ ही साथ घातु रूपोंमें भी द्विवचन लुप्त हो गया है। आतमनेपदी रूपोंका प्रायः अभाव हो गया है। इसी प्रकार लिट् तथा लङ् भी घीरे-घीरे लुत हो गये हैं, तथा उनके लिए प्रायः कृदन्त रूपोंका प्रयोग होने लगा है। इस प्रकार मोटे तौर पर प्राकृतमें लट् वर्त-मान काल], लोट् [ग्राज्ञात्मक], लुट् [ भविष्यत् ] रूपों तथा यदा कदा लिङ् [विधिरूप] का ग्रास्तित्व पाया जाता है। इसके साथ ही प्राकृतमें कर्मवाच्य भी रूप देखे जा सकते हैं, जिनका विकास संस्कृतके 'य' वाले रूपोंसे माना जा सकता है। ये कर्मवाच्य रूप मी प्राकृतमें त्राकर प्रायः परस्मैपदी हो गये हैं :-दिज्बइ-दिज्बहि [सं विवस्ते]; समीऋदि [शौ०], गच्छीत्रदि [शौ०], [सं० गम्यते] प्राकृत धातुरूपोंमें संस्कृत गिजन्त रूपोंके -अय- का विकास -ए- रूपमें देखा जाता है; हासेइ [हासयित], णिब्वावेदि [निर्वापयति] ।

प्राकृतमें वर्तमान काल तथा भविष्यत् कालके तिङ् चिह्न एकसे ही हैं। ठीक यही बात संस्कृतमें पाई जातो है। वैसे भविष्यत्के रूप उसीके स्य विकरणवाले रूप हैं। यह स्य प्राकृतमें श्राकर स्स हो गया है। वर्तिमानके पढदि-पढइ, पढिस, पढािम, पढिनत, पढध, पढािमो तथा

भविष्यत्के पिंडस्सिदि-पिंडस्सिइ, पिंडस्सिसि, पिंडस्सिमि, पिंडस्सिन्ति, पिंडस्सिध, पिंडस्सिमो रूप वनते हैं। लोट्में पढदु, पढ, [पढासु], पढन्तु, पढध, पढम्ह रूप पाये जाते हैं।

संस्कृतके शतृ प्रत्ययान्त रूप प्राकृतमें त्राकर 'न्न्तो' वाले रूप बन गये हैं: पुच्छुन्तो, पढन्तो। इसी तरह संस्कृतके शानच् वाले रूप प्राकृतमें पुच्छुमाणो, पुच्छुस्समाणो [स्यमान] हो गये हैं। संस्कृतके तुमुन् का विकास उं [दुं] के रूपमें पाया जाता है। कहिउं-क्रांहदुं [कथियतुं ]। संस्कृत त्याका विकास प्राकृतमें नहीं पाया जाता। यहाँ त्र्युप्तर्भा तथा सोपसर्ग दोनोंमें शौरसेनीमें श्र तथा महाराष्ट्रीमें ऊण प्रत्यय पाया जाता है। शौरसेनी श्र संस्कृत 'य' [ स्थप् ] का ही विकास है। संस्कृत पृष्ट्वा, गृहीत्वा के प्राकृत रूप पुच्छिन्न पुच्छिन्न [महाराष्ट्री]; वेन्तूण होते हैं।

भ्तकालके लिए प्राकृतमें कृदन्त रूपों से भी काम लिया जाता है। प्राकृतप्रकाशके सतम परिच्छेदमें प्राकृत धातुके भ्तकालिक ग्रादेशोंका संकेत मिलता है:—

- ईअ भूते ।। [भूतकालमें धातुमें तिङ् प्रत्ययको ईश्र ग्रादेश होता है] ।
- २. एकाचो हीअ || [एक त्वर धातुमें भृतकालके तिङ् प्रत्ययको होअ ग्रादेश होता है] |
- 2. ग्रस्ते रासिः ॥ श्रित् घातुको भूतकालिक रूप ग्रासि होता है ॥ स्वयं रूपसे देखनेपर पता चलता है कि ये वस्तुतः क्त प्रत्ययान्त रूपोंके ही विकास हैं । हुवीश्र [अधवत्], हसीग्र [ग्रहसत्], होहीग्र [अभूत्] को वस्तुतः भूतः, हसितः, भूतः का ही विकास माना जा सकता है । इसी तरह श्रासि को भी श्रस्तः [\*ग्रुधितः] का विकसित रूप माना जा सकता है पर इसे श्रासीत् से भी विकसित समझा जा सकता है—श्रासीत् श्रासी ।

१. प्राकृतप्रकाश ७।२३; ७।२४, ७।२५।

#### अपभ्रंश कालकी प्रमुख विशेषताएँ

श्रपभंश कालमें स्वरध्वितयाँ प्रायः श्रिविकृत रही हैं। यदि उनमें विकार हुआ है, तो वह प्रातिपदिकों के अन्तमें स्थित स्वरों में पाया जाता है, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे। यही कारण है, हेमचन्द्रने यह कहा है कि स्वरों स्थानपर प्राकृतमें प्रायः स्वर ही पाये जाते हैं। स्वरध्वित्यों में अपभंशमें भी प्राकृतकी भाँति ही संस्कृत कर, ऐ, औ ध्वित्योंका सर्वथा अभाव है तथा वे कमशः अ-इ-उ; ए, ओ के रूपमें विकसित हो गये हैं। वैसे वैयाकरणोंने अपभंशमें ऋ ध्वितका ग्रित्व माना है। प्राकृतवाले हस्य ऐ, ओ का विकास अपभंशमें भी पाया जाता है। व्यंजन ध्वित्यों पाई जाती हैं। इस भाषाके ध्वित्यत विकासकी खास विशेषता स्वरमध्यग सं० म का व वाला विकास है:—कवल [कमल], गवँण [गमन]। च का विकास हम अपभंशसे परवर्ती रूपोंमें प्राचीन हिन्दीमें भी देख सकते हैं, राजस्थानीमें यह व ध्वित अभी भी पाई जाती है।

अपभंश तक आकर प्रातिपदिकोंका लिंगविधान और सरल हो गया। यहाँ पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग रूपोंका बाहुल्य है, नपुंसक लिंग रूपोंका प्रायः लोप हो गया। इसी तरह स्त्रीलिंग रूपोंके पदान्त आ के हस्य आ होनेसे वे रूपोंकी दृष्टि से वे पुल्लिंग अकारांत शब्दोंका अनुकरण करने लगे। अपभंशमें आकर सभी प्रातिपदिक स्वरान्त हो गये। इस प्रवृत्तिका आधिक्य प्राकृतकालमें ही हो चला था, जिसका संकेत हम ऊपर दे चुके हैं, अपभंशमें आकर प्रातिपदिकोंके पदान्त आ, ए, ओ कमशः अ, इ, उ हो गये। मात्र [प्राकृत माआ, संस्कृत माता], कण्हु [प्राकृत कण्हो, संस्कृत कृष्णः]। अपभंशमें कर्ता कर्म ए० व० में उ प्रयुक्त होता है जो अपभंशकी स्वास विशेषता वन बैठा। इसीलिये अपभंश 'उकार-बहुला भाषा' कहलाने

१. स्वराणां स्वराः प्रायोपञ्चंशे । ८।४।३२६ [हैम व्याकरण]।

लगी । कर्ता-कर्म कारक ए० व० में इस प्रकारके रूपोंका संकेत हेमचन्द्रने भी किया है: -दहमुहु, संकरु, चउमुहु, छंमुहु [दशमुखः, शंकरः,

चतुर्भुखः, षर्मुखः]ै।

अपभ्रंश तक याते याते संस्कृतकी सुप् विभक्तियाँ परसगोंका रूप लेने लगी और अपभ्रंशमें कई विभक्ति रूप समाप्त हो गये। संबंध कारकके लिए केरक, केर, केरा करण कारकके लिए सो, सजो, सहुँ, सम्प्रदानके लिए केरक, केर, केरा करण कारकके लिए सो, सजो, सहुँ, सम्प्रदानके लिए केरि, तथा अधिकरणके लिए माँक, उप्परि जैसे परसगोंका प्रयोग पाया जाता है। अन्य विभक्तियोंमें पुर्ल्लिंग तथा स्त्रीलिंगके रूपोंमें मी समानता-सी हो चली। कर्ता-कर्म एकवचन, कर्ता-कर्म बहुवचनमें दोनों जगह कहीं-कहीं उ विभक्ति चिह्न प्रयुक्त होने लगा, तथा कभी-कभी कर्ता कारक ए० व० में केवल आतिपदिक रूप [श्रूर्य विभक्तिवाले रूप] का प्रयोग होने लगा, जो हिन्दी आदि आ० भा० आ० भाषाओंके अविकारी [direct] रूपोंके रूपमें विकसित हुआ। अन्य कारकोंमें एख, एँ, [करण], हुँ, हे [अपादान] हे, हो, सु, स्स्र [संबंध], हिं [अधिकरण] सुप् चिह्न एकवचन रूपोंमें तथा हं [संप्रदान, अपादान, संबंध, अधिकरण], हो [संबोधन] बहुवचन रूपोंमें पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश तक आते आते बहुवचनके रूप बहुत सरल हो गये।

संस्कृतके तिङन्त रूप जिनका थोड़ा बहुत शेष प्राकृतकालमें बच गया था, श्रपभ्रं श कालमें श्रीर लुत हो गया। तिङन्तों के भाव बोधनके लिए स्रपभ्रं शके कृदन्त-प्रत्यय प्रयुक्त होने लगे। वर्तमान तथा भविष्यत्ने तिङन्त तद्भव रूपोंको थोड़ा बहुत सुरिच्चित रक्खा बाकीमें कृदन्तोंसे काम लिया जाने लगा। संस्कृत धातुश्रोंमेंसे कईके लिए नये श्रादेश हो गये, यथा, बोह्ल [√ बद्], मुक्क-मुश्र [√ मुच्], चश्र [√ शक्]।

अपभ्रंशमें परस्मैपद ही पाया जाता है। हम प्राकृतमें ही आत्म-नेपदका अभाव देखा चुके हैं। उत्तम पुरुष एकवचन तथा बहुवचनमें

१. हैमब्याकरण =181३३१।

त्रपभंशमें क्रमशः 'उं' तथा 'हुं' तिङ् विभक्ति पाई जाती हैं :—'हउं भएउं' [त्रहं भएएमिं], अन्हे भणहुं [वयं भएएमः] । अन्यरूपोंमें प्रायः वे ही तिङ् चिह्न पाये जाते हैं, जो प्राकृतमें हैं—सि-हि [मध्यम पुरुष], इ, अंति, अहं [अन्य पुरुष]। भविष्यत् कालके रूप वर्तमान कालके तिङ् चिह्नोंवाले ही होते हैं :—जाहि [यास्यिस], फलहिं [फिलिष्यिन्त], कुएहिं [करिष्यिन्त]; होसि [भविष्यिस]। भूतकालके रूपोंमें केवल आसी [आसीत्] को छोड़कर प्रायः सभी भूतकालिक रूप छदन्तोंसे विकसित हैं।

जैसा कि हम देख चुके हैं प्राकृत कालमें संस्कृतके विभक्तिरूप किसी सीमा तक सुरिवात रहे। यही कारण है कि प्राकृतकालमें वाक्यरचनाके सम्बन्धमें संस्कृतकी परिपाटीका प्रयोग पाना जाता है। अपभ्रंश कालमें आकर शब्दोंके विभक्तिज रूप बहुत कम काममें आने लगे तथा संबन्ध- बोधनके लिए परसगाँका प्रयोग किया जाने लगा। फलतः वाक्यमें कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंके लिए एक निश्चित स्थान रह गया। हिन्दी आदि आ० भा० आ० भाषाओंकी निश्चित वाक्यरचनाके विकासके चिक्क हम अपभ्रंश कालमें ही देख सकते हैं।

# आ० भारतीय आर्य भाषाओंकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ

संस्कृतकी स्वर तथा व्यंजन ध्वनियोंका परवर्ती विकास हम देख चुके हैं। प्राय: वे ही ध्वनियाँ परवर्ती भाषात्रोंमें विकासत पाई जाती हैं। किर भी कुछ विशेषताएँ पाई जाती है। स्वरोंके उच्चारणमें बंगालीमें श्र का उच्चारण छुंठित निम्न-मध्य-पश्च प्रकृतिका पाया जाता है। श्रन्य भाषा-श्रोंमें इनका उच्चारण प्रायः उदासीन स्वर [२] सा पाया जाता है। इसके भी श्रग्र तथा पश्च दो रूप पाये जाते हैं। हिन्दीके द्वयन्तर या श्रिकि

मार्करखेयः प्राकृत सर्वस्व १७।५७ [पृष्ठ ११८]

२. डॉ० हीरालाल जैनः सावयधम्म दोहा [भूमिका] पृष्ठ ३६

त्र्यच्रात्वाले [monosyllbale] शब्दोंमें इस स्वरका ग्रयरूप प्रायः एक ही [ग्राधिकतर पहले ग्रद्धारमें ही] ग्रद्धारमें पाया जाता है, श्रन्य श्रद्धारमें <mark>उसका</mark> पश्च रूप ही पाया जाता है। उदाहर एके लिए कमर, कलर, करवट, करम में प्रथम उदासीन स्वरका उच्चारण श्रग्न प्रकृतिका [Ə] है, जब कि बादके अन्तरवाले स्वरका उच्चारण पश्च प्रकृति [ ^ ] का है । त्र्यत्तर शब्द करवट का उच्चारण द्वचत्तर रूपमें कर्वष्ट भी होता है। प्रथम उच्चारण करने पर र तथा व दोनोंका परवर्ती स्वर पश्च प्रकृतिका [ 🔨 ] ही है। यहीं यह भी ध्यान देनेकी बात है कि जहाँ संस्कृतमें श्रम्तमें 'श्र' ध्वनि पाई जाती है, वहाँ हिन्दीं में उसका उच्चारण नहीं होता। राम, आम्न, काम का हिन्दीमें राम, श्राम, काम रूप देखा जाता है। वैसे जिन भाषा-ऋतिं पदान्तमें ळ, ड, रा ध्विन पाई जाती है, वहाँ उसके बाद 'अ' श्रुति [ a-glide] का उच्चारण पाया जाया है। राजस्थानीमें इस श्रुतिका प्रयोग काळ, हाड, काण जैसे शब्दोंके उच्चारणमें होता है। पश्चिमी हिन्दी तथा राजस्थानीमें ध्वन्यात्मक समानताएँ त्र्राधिकतर पाई जाती है। व्यञ्जन ध्वितियों में पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी तथा मागधी वर्ग [उड़ियाको छोड़-कर] में केवल दो ही अनुनासिक ध्वनियाँ [न, म] पाई जाती हैं; जब कि राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, मराटी, पहाड़ी तथा उड़ियामें स्विन भी पाई जाती है। राजस्थानी, गुजराती, मराठीकी माँति उड़ियामें ळ जित्वात प्रतिवेष्टित ल] का स्वरमध्यगत रूप भी पाया जाता है<sup>9</sup>। पश्चिमी हिन्दी राजस्थानी तथा गुजरातीमें, तथा पूर्वी हिन्दी [मैथिलीमें भी] 'ड' का स्वर मध्यगत 'इ' रूप भी पाया जाता है। चवर्ग ध्वनियोंका उच्चारण सभी ग्रा० भा० ग्रा० भाषात्रोंमें सोष्म स्पर्श या धर्व स्पर्शके रूपमें होता है। इनका उच्चारण कुछ त्य्, त्याह्, दुज़्, दुज़्ह् जैसा होता है। मराठीमें इनका उच्चारण इस तरहका वस्यै वर्ष [alveolar affricate] न होकर दन्य घर्ष [dental affricate]—त्स्, दृज् जैसा होता है। मराठीका

क्या उड़िया पर यह मराठीका प्रभाव तो नहीं ।

यह प्रभाव राजस्थानकी डूंगरपुर, बांसवाडा, प्रतापगढकी मालवीमें तथा मेवाडीकी कुछ बोलियोंमें देखा जाता है। मीलीमें भी च, ज का उचारण दन्त्य घर्ष ही होता है।

प्राकृत तथा अपभ्रं शके दित्ववाले रूपोंमें आ॰ मा॰ आ॰ माषाओंमें पूर्ववर्ती स्वरको दीर्घ बनाकर अच्चर-भारकी रक्ता की जाती है । सं० कर्म, अद्य, अष्ट के हिंदी रूप काम [८कम्म], आज [८ ग्रज्ज], ग्राठ [८अटु] पाये जाते हैं। पंजावीमें इनके रूप कम्म, श्रज, अटु ही पाये जाते हैं। इसी तरह सं० बुभुक्षा का हिंदी रूप भूख [ ∠ बुभुक्खा—भुक्खा—भुक्खा होता है, जब कि पंजाबोमें यह पु'क्ख [ बुक्ख] मिलता है। हम बता चुके हैं कि सिंधी, लाँहदा तथा पंजाबी पर पैशाचीका कुछ कुछ प्रभाव पाया जाता है। काश्मीरीमें संस्कृतकी सघोष महाप्राण ध्वनियोंका सघोष अल्प-प्राग्रारूप देखा जाता है। पंजाबीके लिए य्यव तक विद्वानोंका यह मत है कि सं० हि० घ, भ, ट, घ, भ ध्वनियाँ वहाँ क, च, ट, त, प हो जाती है, यथा घोडा, सूठ, भाइ, भरम वहाँ को'डा, चू'ट, पा'ई, प'रम हो जाते हैं। पर कुछ नवीन पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि असलमें संस्कृत या हिन्दी सघोष महाप्राण ध्वनियाँ पंजाबीमें शुद्ध ऋघोष ऋल्पप्राण नहीं होती ! वस्तुतः वे सघोष अल्पप्राण ही होती हैं, तथा महाप्राण रूपोंके कारण उनका अधोषीभूत [devoiced] रूप देखा जा सकता है। यही कारण है, वे ऊपरकी क, च, प ध्वनियोंको ग, ज, ब, का ही अधोषीमूतरूप मानते हैं, तथा गु, जु, बु [g, j, b] लिखना ज्यादा ठीक समभते हैं।

संस्कृतमें जहाँ संयुक्त ध्वनियोंमें प्रथम ध्वनि नासिक्य व्यक्तन तथा द्वितीय केवल व्यक्तन होती है, वहाँ सिंधी पंजाबीको छोड़कर सभी ऋा० भा० ऋा० भाषाऋोंमें नासिक्य व्यंजन ध्वनि छुत हो जाती है तथा पूर्ववर्ती

१. लन्दन विश्वविद्यालयके स्कूल श्रॉव् श्रारियन्टल स्टडीजमें भाषा-विज्ञानके श्रध्यापक डॉ० डब्ल्यू एस० एलनका यही मत है।

स्वरध्वित दीर्घ सानुनासिक वना दी जाती है:—दन्त [हि॰ दाँत], कण्टक [हि॰ काँटा], 

कस्प् [हि॰ काँपना]। सिधी-पंजावीमें इनके दन्द, कंडो, कम्ब रूप मिलते हैं।

ग्रा० भा० ग्रा० भाषात्रों भें ध्वनियों से ग्रधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन पद्रचनामें हुन्ना। हम देख चुके हैं कि प्राकृतसे भी ग्रधिक पद्रचनात्मक सरलता ग्रपभ्रं शमें पाई जाती है। ग्रपभ्रं शकी इसी विशेषताको ग्रा० भाषात्रोंने ग्रहरण किया है। ग्रा० भा० ग्रा० भाषात्रोंने नपुंसक लिंग सर्वथा लुप्त हो गया। यदि कहीं इसके कुल्ल चिह्न मिलते हैं, तो गुजराती व मराठी में। गुजरातीमें इसका चिह्न उँ है, यथा वर्ष खाउँ में नपुंसक रूप ही हैं। नपुंसकलिंगके सर्वथा लुप्त होनेसे कई नपुंसक शब्द जो एक भाषामें पुल्लिंग बने हैं, इतर भाषामें स्त्रीलिंग। किंतु पुल्लिंग स्त्रीलिंग में संस्कृतवाला लिंग विचार नहीं रहा है। हिंदीमें तो ग्रा कारान्त पुल्लिंग है, ज्ञा-ई, उ ग्रन्तवाले प्रायः स्त्रीलिंग माने जाते हैं, वैसे इस नियमके कई ग्रपवाद भी देखे जा सकते हैं। श्रान्त, श्राहमा, स्वयु जैसे पुल्लिंग शब्द भी हिंदीके रूपोंमें स्त्रीलिंग ग्राग, मीचु, आहमा बन गये हैं।

श्रपभ्रंशमें ही संबंधबोधनके लिए परसर्गोंका प्रयोग होने लगा था, फिर भी वहाँ कुछ तिङ् चिह्न बचे रह गये थे। श्रा० भा० श्रा० भाषाश्रोंमें उनका भी लोप हो गया। इस तरह संस्कृतकी श्राठ विभक्तियाँ यहाँ श्राकर केवल दो ही रूपोंमें रह गई:—

[१] प्रातिपादिक रूप [direct form] या कर्ता कारकके रूप। [२] तिर्यक् रूप [oblique form] या अप्रधान कारक रूप।

श्रा० भा० स्त्रा॰ भाषाश्चोंमें परसर्ग इन्हीं तिर्यक् रूपोंके साथ प्रयुक्त होते हैं। कर्ता कारक एकवचन तथा बहुवचनके रूप पूर्वी भाषाश्चोंमें एक ही हैं, श्चौर इस प्रकार उनके साथ बहुवचन वाचक जन, सन्नल जैसे शब्द जोड़कर या फिर षष्ठी बहुवचनसे बने परसर्ग 'अन' 'अनि' [सं॰ ∠श्रानाम्] जोड़कर बहुवचनका बोध कराया जाता है; लोगनि, घोडवन [भोजपुरी]। पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, सिंधी, मराठीने संस्कृत बहुवचन रूपोंका सर्वथा लोप न कर निजी विकास किया है: —रात् [रात्रिः], राती [रात्रयः]; बात् [वार्तां], बातें [ ∠ \*वार्तांनि] [रा॰ वार्तां ∠ \*वार्तांनि]। वाकी रूपोंमें पश्चिमी हिंदी [खड़ी बोली तथा उसकी विभाषात्रों] में ने, को, से, का [के, की], में इत्यादि परसर्गोंका प्रयोग पाया जाता है। पश्चिमी राजस्थानीमें का के स्थानपर रो [रा, री], पञ्जाबीमें दा [दे, दी], गुजरातांमें नो, [ना, नी] तथा मराठीमें चा [चे, ची] पाया जाता है। पूर्वीं भाषात्रोंमें संबंध कारकके लिए क, केर, एर का प्रयोग होता है।

ब्रा॰ भा॰ ब्रा॰ भाषाश्रींके किया रूप सीधे संस्कृत तिङन्तींसे नहीं ह्याये हैं। इनके विकासमें संस्कृत कृदन्तींका बहुत हाथ रहा है। हिन्दीके वर्तमान कालिक किया रूप कृदन्त "अन्त" [अत्] से विकसित हुए है। कुदन्त रूपोंके साथ सहायक क्रिया "है" जोड़कर वर्तमानकालका बोध कराया जाता है। हिन्दीका वह खाता है संस्कृतके स खादन् [\*खादन्त] भवति से विकसित कहा जा सकता है । इसी तरह हिन्दीके भूतकालके रूप संस्कृतके त [इत] वाले निष्ठाप्रत्ययरूपोंसे विकसित हुए हैं। यही कारण है कि हिंदीमें जहाँ संस्कृतके कर्मवाच्यरूपोंका विकास हुवा है, वहाँ कर्ता के साथ 'ने' का प्रयोग पाया जाता है, जब कि भाववाच्यसे विकसित रूपोंमें इस परसर्गका प्रयोग नहीं होता— उसने रोटंग खाई [तेन रोटिका खादिता], वह सोया [स शयितः] । हिंदीके म्विष्यत् रूपोंमें 'गा' [गे, गी] वस्तुतः संस्कृत √ गम के क्तप्रत्ययांत रूप गतः का विकास है। पश्चिमी त्रा॰ भा॰ त्रा॰ में से कुछका संस्कृतके भविष्यत् रूपोंसे भी स्वतन्त्र विकास हुन्ना है। राजस्थानीमें तीन तरहके भविष्यत् रूप पाये जाते हैं । पढेगो [phodo: go], पढसी, पढेलो [phodo: lo]; इनमें द्वितीय रूपका विकास पठिल्यति-पढिस्सइ →पढसी [गु॰ पटशी] यों माना जा सकता है। तीसरा भविष्यत् रूप ग्रियर्सनके मतानुसार राजस्थानीको विदेशी जातियों [गुर्जरों] की देन है। पूरवकी ख्रा॰ ख्रा॰ भाषाख्रोंमें से कईने वर्तमान रूप सीधे संस्कृत-प्राकृतसे विकसित किये हैं। वैसे भूतकालके रूप वहाँ भी कृदन्तरूपोंसे ही विकसित हुए हैं। किन्तु वहाँ ये 'ल' प्रत्ययसे युक्त पाये जाते हैं। विहारी तथा भोजपुरीमें 'ल' वाले भूतकालिक कृदंतोंका भूतकालिक प्रयोग देखा जाता है। वैसे भोजपुरीमें —ल् रहित रूप भी पाये जाते हैं। दि॰ डॉ॰ तिवारी: भोजपुरी भाषा ख्रोर साहित्य पृ० १६७ [३१६]। इस प्रवृत्तिका प्रभाव ख्रवधीमें भी देखा जाता है। डॉ॰ सक्सेनाने नूरमुहम्मदमें कितपय —ल वाले भूतकालिक रूपोंका संकेत किया है; — 'तापल रहह'; 'गहल सखी तहँ बहिल वयारा' दि॰ डॉ॰ सक्सेना: इवोल्यूशन ख्राव ख्रवधी पृ० २४६]।

भविष्यत्के बोधनके लिए पूर्वी भाषाश्रों में संस्कृतके कर्मवाच्य भविष्यत्कालिक कृदंत '—तन्य' से विकसित '—व' प्रत्ययवाले रूप देखे जाते हैं। ये रूप बॅगला, उड़िया, श्रक्षामिया श्रीर विहारी तथा भोजपुरीमें क्रमशः —इव तथा —श्रवके रूपमें पाये जाते हैं। दि० डॉ० तिवारी १ ५३७ पृ० २७२] ये —व वाले रूप पूर्वी हिंदीकी प्रायः सभी बोलियोंमें मिलते हैं। श्रवधीमें भी इनका श्रस्तित्व पाया जाता है। 'घर कइसइ पइठव मईं छूँ छुं' [जायसी], 'हरि श्रानव मईं करि निज माया' [तुलसी], 'करव मईं सेवा' [न्रसहम्मद]। [दे० डॉ० सक्सेना १३०४ पृ० २६१-६२]।

संस्कृतके इस भावी विकासपर विहंगमदृष्टि डालनेसे यह ज्ञात होता है कि चाहे आजकी भारतीय आर्य भाषाओं की प्रवृत्ति सरलताकी ओर बढनेके कारण, इनका रूप व्यवहित हो गया है, फिर भी संस्कृतकी परम्परा अवि-च्छित्र रूपमें आज तक पाई जाती है।

# परिशिष्ट क

### [१] वैदिक संस्कृत [ई० पू० १५००]

श्रिनमीळे पुरोहितम्, यज्ञस्य देवसृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥

[ मैं पुरोहित [सामने स्थित], यज्ञके ऋत्विक् रूप, देव [प्रकाशशील], देदीण्यमान तेजवाले, होता [देवतास्त्रोंको बुलानेवाले] स्रानि देवताकी स्तुति करता हूँ।]

#### [२] अवेस्ता [ई० पू० ८००]

त्रा अह्य अमा इश्यो रफ्द्राह जन्तू नर् अध्यश्चा नहरिष्यश्च जर्थुस्लाहे। वङ ह्अउश् रफ्द्राह मनङ्हो। [यस्न ५।४]

[ आ श्रर्थमा इष्यः रब्धुं गच्छतु [\*गनतु]

नुभ्यश्च नारीभ्यश्च जरथुत्रस्य।

वर्ष्मणः रब्धुं मनसः ] ।

[ग्रभीष्ट ग्रर्थमा पुरुषों तथा स्त्रियोंको प्रसन्त करनेके लिए पधारें, वे जरशुस्त्रकी तथा उन्नत मनकी प्रसन्नताके लिए श्रायें।]

### [३] पाणिनीय संस्कृत [ई० पू० ६०० के बाद]

श्रस्ति त्रिद्वितरंगिणी वाराणसी । तत्र प्रतापसुकुटो नाम राजा बभूव । तस्य महादेवी सोमप्रभा नाम । तस्यामनेन राज्ञा वज्रमुकुटो नाम तनयः समुत्पादितः । तस्य वज्रमुकुटस्य प्राणसमः सखा सागरेववरस्य सांधिविम्रहिकस्य तनयो बुद्धिशरीरो बभूव । तेन मित्रवरेण सह नाना-शास्त्राभ्यासङ्कुर्वाणो विविधसुखमनुभवन् कालं नयमानस्तस्थौ ।

[स्वर्गगाके समान [पवित्र] वाराणसी नगरी है। वहाँ प्रतापसुकुट नामक राजा था। उसकी महारानी सोमप्रभा थी। उसमें इस राजाने वज्रमुकुट नामवाले पुत्रको उत्पन्न किया। उस वज्रमुकुटका प्राणोंके समान प्यारा मित्र; सांधिविग्रहिक सागरेश्वरका पुत्र वुद्धिशरीर था। उस मित्रके साथ नाना शास्त्रोंका ग्रभ्यास करते हुए वह ग्रानेक सुखका ग्रानुभव करता हुन्ना समय विताता था।]

# [४] गाथा संस्कृत [ईसा की द्वितीय-तृतीयशती] [या बौद्ध संकर संस्कृत [बुधिस्ट हाइबिड संस्कृत]]

ज्वितितं त्रिभवं जरम्याधिदुक्तैः मरणाग्निप्रदीक्षमनाथमिदम् । गिरिनद्यसमं लघुशीव्रजवं वजतायु जगे यथ विद्यु नभे ॥ सभया सुपिना सद वैरकरा बहुशोकउपद्रव कामगुणाः । असिधारसमा विषपत्रिनिभा चिणिका श्रक्षिका विदितार्यजनैः ॥

[ये तीनों लोक जरा, व्याधि तथा दुःखसे व्यलित हैं, मृत्यु रूपी ग्रानिसे जल रहे हैं, तथा ग्रानाथ हैं। संसारमें ग्रायु वड़ी छोटी तथा शोष्ठगामी है, टीक वैसे ही जैसे पर्वतकी नदी ग्रीर ग्राकाशमें बिजली। ग्रार्थ लोगोंने कामगुणोंको भयंकर, स्वप्नतुल्य, सदा वैर करानेवाले, ग्रानेक शोक व उपद्रवन्वाले, ग्रासिधारके समान, जहरीले तीरके समान, तथा च्रिणक ग्रीर भूटे समफ लिया है।]

१. इसमें जरन्याधिदुखैंः, आयु, जगे, यथ, विद्यु, नभे, सुपिना, सभया, सद, शोकउपद्रव, अलिका, विदितार्यजनैः जैसे रूप शुद्ध संस्कृत नहीं है। इनके शुद्ध संस्कृत रूप जरान्याधिदुःखैंः, श्रायुः [श्रायुर्], जगित, यथा, विद्युत्, नभिस, स्वप्नाः सभयाः, सदा, शोकोपद्रवाः, श्रालीकाः, विदिता [ः], आर्यजनैः होंगे।

### [४] अशोक कालकी प्राकृत [ई० पू० तीसरी शती]

देवानंत्रियो पियदसि राजा एवं आह, कलाणं दुकरं, ये ग्रदिकरे कलाणेस सो दुकरं करोति, त मया बहु कलाणं कतं।

[गिरनार लेख क ५]

[देवानां शियः प्रियदर्शी राजा एवमाह, कल्याणं दुष्करं, यः आदि-करः कल्याणस्य स दुष्करं करोति, तत् मया बहुकल्याणं कृतं ।]

[ देवतात्रों के प्रिय प्रियदर्शी राजाने यह कहा है। कल्याण दुष्कर [है]। जो सर्वप्रथम कल्याणका करनेवाला होता है, वह दुष्कर [कामको] करता है। इसलिये मैंने बहुत कल्याण किया है।]

[६] पालि प्राकृत [ईसाकी दूसरी शती]

श्रतीते वाराणिसयं वहादत्ते रज्जं कारेन्ते बोधिसत्तो किपयोनियं निव्यत्तित्वा बुद्धि श्रन्वाय श्रस्सपोतण्पमाणो थामसम्पन्नो एकचरो हुत्वा नदोतीरे विहरति।

[त्रातीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्वः कपियोन्यां निर्वर्त्यं बुद्धिमन्वेत्य अश्वपोतप्रमाणः स्थामसम्पन्नः एकचरो भूत्वा नदी-तीरे विहरति]।

[प्राचीनकालमें, जब वाराणसीमें ब्रह्मदत्त राज्य करते थे, बोधिसत्व बन्दरकी योनिमें जन्म लेकर बुद्धिसे युक्त होकर, घोड़ेके बच्चेके समान शरीरवाले तथा बलवाले होकर अनेले नदी तीर पर घूमते थे।]

# [७] महाराष्ट्री प्राकृत [ईसाकी प्रथम शतीसे पष्ट शती]

[१] जह होसि ण तस्स पिआ अगुदिश्रहं ग्रीसहेहिं अंगेहिं। णवस्त्रपिश्रपेऊसमत्तपाडिव्यं किं सुवसि॥ [गाहासत्तसई]

१. पान्ती शब्द देशी है। यह शब्द आज भी गुजराती व राज-स्थानीमें पाया जाता है, जिसका अर्थ है "भैंसकी बच्ची"। इसीका पुर्विलग रूप पाड़ों भी प्रचितत है।

[यदि भवसि न तस्य प्रिया श्रनुदिवसं निःसहैरंगैः। नवसूतपीतपीयूपमत्तमहिषीवत्सेव किं स्वपिषि॥]

[हे सखी ग्रगर त् उसकी प्यारी नहीं है, तो ग्रलसाये ग्रंगोंसे नये दूचको पीकर मस्त नवप्रसृत पाडीकी तरह दिन भर क्यों सोती रहती है ।]

[२] णमह अ जस्स फुडरवं कंठच्छात्राघडंतरात्र्यणगिसिहम् । फुरइ फुरिअट्टहासं उद्धपडित्ततिमिरं वित्र दिसाअक्कम् ॥ [सेतुवंध]

[नमत च यस्य स्फुटरवं कण्ठच्छायाघटमाननयनाग्निशिखम् । स्फुरति स्फुरितादृहासं अर्ध्वपदीप्ततिमिरमिव दिक्चकम् ॥]

[जिन महाद्वेक कएठकी नीली छायासे संबद्ध त्राग्निशिखा वाला, तथा उनके शब्दायमान श्रद्धहासवाला दिशास्त्रोंका चक्रवाल, इसी तरह सुशोभित होता है, मानों अँधेरेके ऊपर प्रकाश प्रदीत हो रहा हो, उन महादेवको प्रणाम करो ।]

#### [८] शौरसेनी प्राकृत [१०० ई० से ६०० ई० तक]

श्रणज्ज, श्रत्ताणो हिश्रश्राश्चमाणेण सन्वं एदं पेक्खिस । को णाम श्रणणो धम्म-कंजुअ-ववदेसिणो तण-जुण्ण-कृवोवमस्स तुह श्रुनुकारी भविस्सदि । [शाकुन्तल पंचम श्रंक]

[अनार्य, त्रात्मनो हृदयानुमानेन सर्वमेतत् पश्यसि । को नाम त्रन्यः धर्मकंत्रकव्यपदेशिनः तृण्च्छायाकृपोपमस्य तव अनुकारी भविष्यति ।]

[ग्रनार्य, तू सभी वस्तुको ग्रपने हृदयके ग्रनुमानसे देखता है। धर्मका कंचुक धारण करनेवाले [धर्मका ढोंग करनेवाले], तिनकोंसे ढॅंके हुए कुऍके समान तैरे जैसे मनुष्यका सहकारी [समानधर्मा] कौन होगा।]

[8] मागधी [१०० ई० से ६०० ई० तक]

[१] कधं श्रपावे चालुदत्ते वावादीश्रदि । हमे णिअलेण शामिणा बंधिदे । भोदु श्राक्कंडामि । श्रुणध, अटया, श्रुणध । श्रुस्ति दाणि मए पावेण पवहण-पडिवरोण पुष्फ-कलंडअ-यिण्णुच्याणं वशन्तशेणा णीदा । [कथमपापः चारुदत्तो न्यापाद्यते । अये निगडेन स्वामिना बद्धः । भवतु आकंदामि । श्रग्रुत, श्रार्याः श्रग्रुत । श्रस्ति इदानीं मया पापेन अवहणप्रतिवृत्तेन पुष्पकरंडकजीर्णोद्यानं वसन्तसेना नीता ।]

[क्या चारुदत्तको बिना श्रपराध ही द्रुग्ड दिया [मारा] जा रहा है। श्रदे, राजाने [स्वामीने] इसे बेढ़ियोंसे बाँच दिया है। श्रच्छा, चिल्लाता हूँ। सुनो, श्रार्थ, सुनो। श्रभी श्रभी गाड़ीसे लौटे हुए मैंने वसन्तसेना पुष्प-करंडक जीर्णोद्यानकी श्रोर पहुँचाई है।]

[२] एशे शे शायंभलीशल-शिविल-निवेशे । एद्श्शि अलश्किय्यमाण-पय्यन्दे कथं [ला] उलं याणिद्व्यम् । वयश्श एशे के वि चले व्व दीशदि । ता इमादो एदश्श शिविलश्श शलूवं लाउलं 

याणिश्शम्ह ।

[एष स शाकंभरीश्वरशिविरिनवेशः । एतस्मिन् अलच्यमागापर्यन्ते कथं राजकुलं ज्ञातन्यम् । वयस्य एष कोपि चर इव दश्यते । तत् श्रस्मात् श्रस्य शिविरस्य स्वरूपं राजकुलं च ज्ञास्यामः |

[यही तो शाकंभरीश्वरकी सेनाका पड़ाव है। यहाँ आसपासके बारेमें कुछ भी पता नहीं लगता, अब राजकुलका ज्ञान कैसे होगा १ मित्र यह कोई चर [जास्स] सा दिखलाई देता है। तो इससे इस शिविर के स्वरूपके बारेमें तथा राजकुलके विषयमें पता लगालें।]

### [१०] अपभ्रंश [पूर्वी] [६०० ई० से ११०० ई० तक]

आअमवेद पुराणे पंडिया माण वहंति। पक्क-सिरिफले श्रलिय जिमि बाहेरीश्र भमंति॥ [क्एह्पा]

१. यह द्वितीय उदाहरण उस कालका है, जब प्राकृतका साहित्यिक रूप ही प्रचलित था। अतः प्राकृतकालका शुद्ध उदाहरण पहलावाला ही कहा जा सकता है। उसकी व्याकरणसम्मत विशेषताओंकी दृष्टिसे दूसरा उदाहरण भी लिया जा सकता है।

[आगमवेदपुरागोषु पंडिताः मानं वहंति। पनवश्रीफले अलयः यथा वहिरेव भ्रमन्ति]

[पंडित लोग द्यागम, वेद तथा पुराणोंके ग्रध्ययनसे ही मानी हो जाते हैं। पर यह तो वैसे है, जैसे भवरे पके वेलके फलके बाहर ही वृमा करते हैं।]

पंडिश्र सञ्चल सत्थ वक्लाग्यइ ।
देहिं बुद्ध बसंत ग्र जाग्यइ
श्रवणागमण ग्र तेण विखंडिश्र
तो वि ग्रिलड भगइ हुउं पंडिश्र ॥ [सरहपा]
[पंडितः सकलानि शास्त्राणि वर्णयित [\*वद्यित]
देहे बुद्धं वसंतं न जानाति
गमनागमनं न तेन विखंडितं
तदिष निर्लड भगति श्रहं पंडितः ।]

[पंडित समस्त शास्त्रोंका वखान करता है, पर देहमें ही स्थित खुद्ध [ग्रात्मा, ईश्वर] को नहीं जानता । श्रपने जन्म मरणको वह खंडित न कर सका, फिर भी निर्लंज कहता है—मैं पंडित हूँ ।]

# [११] ऋपअंश [पश्चिमी] [६०० ई० से ११०० ई० तक]

भर्त्ता हुँग्रा जु मारिआ, बहिणि महारा कंतु। जडजेड्जं तु वयंसियहु जङ् भग्गा घरु एंतु॥ [भद्रं भूतं यत् मारितः भगिनि मम कांतः जडजेयं तु वयस्याभ्यः यदि भग्नो गृहं एतः री

[हे सखी, मेरा पित मारा गया, यह श्रन्छा हुश्रा । मगर कहीं मगा हुश्रा घर श्राता, तो मुक्ते सिखयोंसे लजाना पड़ता ।]

१. भरन:--भरगा ।

**२.** [आ + इतः = एतः]

पुत्ते जाए कवणुँ गुणुँ, अवगुणु कवणु मुएणा। जा बण्पीकी भूँहडी चंपिज्जइ अवरेगा॥ [पुत्रे जाते कः पुनर्गुणः, अवगुणः कः पुनर्मुतेन। यत् पितु: [\*वण्तः] भूमिः आकस्यते अपरेण॥]

[ऐसे पुत्रके पैदा होनेसे क्या लाम, ख्रौर मरनेसे क्या हानि, [जिसके रहते हुए] पिता की भूमि दूसरा चाँप ले।]

# [१२] अवहद्घ [प्राकृतपैंगलं की परवर्ती अपभंश] [११०० ई० से १३०० ई० तक]

पक्षभरु दरमरु धरिश तरिश रह धुन्निश्र मंपिश्र कमठ पिट्ठ टरपरिश्र मेरु मंदर सिर कंपिश्र कोह चिल्अ हम्मीर बीर गअजूहसंजुरो किग्राउ कट्ट हाकंद सुन्छि मेन्छहके पुरो॥ [पादभरेश दिलता धरणी तरिशिरथः धूलिभिः छादितः कमठपृष्ठं स्फुटितं] मेरुमंदरिशरः कंपितं

क्रमठपृष्ठ [स्काटत] मरुमद्रारार कायल क्रोधेन चलितः हमीरवीरः गजयूथसंयुक्तः

कृतः कष्टं हाक्रदः मूर्चिष्ठत्वा ग्लेच्छानां पुत्रैः ।]

[जब वीरहमीर हाथियोंकी सेना से युक्त होकर क्रोधके साथ चला, तो पृथ्वी पैरोंके बोक्तसे दब गई, सूर्यका रथ धूलसे टॅक गया, कमठ की पीठ तड़क गई ग्रौर सुमेरु तथा मंदरकी चोटी हिल गई; म्लेच्छोंके पुत्रोंने [ग्रार्थ] मूर्छित होकर कष्टके साथ श्राक्रंद किया।]

# परिशिष्ट ख

# संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिन के समानान्तर शब्द रूप [१] सं० अकारान्त [ग्रीक-लै० ग्रीकारान्त] शब्द [पुंलिंग तथा नपुंसक]

	r.		
	संस्कृत	म्रीक	लैतिन
प्रातिपादिक	अश्व [पु॰]	हिप्पा [पु॰]	एक्वा [पु॰]
ए० व०	युग [नपुं०]	.जुगा [नपुं०]	.जुगा [नपुं <b>०</b> ]
कर्ता	ग्रश्व-स् [ग्रश्वः]	हिप्पा-ं स	एकवास् [एक्वूस्]
	युग-म्	्जुगा∹न्	्जुगु-म् [्जुगो <mark>म् ]</mark>
कर्म	श्रश्व-म्	हिप्पा न्	एक्वा-म्
	युग-म्	.जुगा-न्	.जुगु-म्
करगा	ग्रश्वेन	[पोन्तोफि]	×
*	[वै० ग्रश्वा]		
सम्प्रदान	श्चश्वाय	हिप्पा-आइ; हिप्पा	एक्वाइ=एक्वा-
त्र्रपादान	स्रश्वात्	हिप्पा-आ, हिप्पाउ	स्रोह, एक्वा एक्वाइ, एक्वो,
सन्मन्ध	ग्रश्वस्य	ृहिप्पा-[स् ] इस्रा	एक्वो [द्] एक्वा-इस्
<b>ऋधिकर</b> ण	ग्रश्वे [ग्रश्व-इ]	[म्राइका-इ, ग्राइकोइ]	[दामि=दमा-इ ?]
			[=सं॰ दमे] २२२ <b>०</b> -
सम्बोधन	ग्र <b>र</b> व	हिप्पे [=हिप्पा-]	एकवे [एक्वा]
	[युगम्]	जुगा-न्	.जुगु-म्

	संस्कृत	ग्रीक.	लैतिन
দ্ধি ব			
कर्ता-कर्म	ग्रश्वा ग्रश्वौ	हिप्पा-ए, हिप्पो	×
करण, सम्प्रदान त्र्रापादान	» ग्र <b>श्वा</b> भ्याम्	हिप्पा-इन्	×
संबंध- स्त्रधिकरण	त्र्रश्वयोः	×	×
অ০ ব০			
कर्ता	ग्रश्वा-स् [ग्रश्वाः]	हिप्पा-इ	[एक्वा-एस्,
	[वै॰ ग्रश्वासः]	.जुगा [नपु <u>ं]</u>	एक्वइस् ] एक्वी
	युगानि [नपुं०]		.जुग्-ग्र = जुग
	[बै॰ युगा]		
कर्म	ग्र <u>श्</u> वान्	हिप्पाउस् =हिप्पान्	स् एक्वास्=एक्वाम्-स्
	[=ग्रथान्-स्]		
	युगानि	.जुगा	जुग
	ŧ	तं ०	ग्री० लै०
करण	् ऋ रहे	ोः [ थर्	ग्री॰ लै॰ प्रा-फिन्] ×
		प्रश्वेभिः]	
सम्प्रदान	-ग्रपादान ग्रश्वे-भ्य		×
सम्बन्ध	्र श्र <u>श्</u> वान	_	यो-स्रोन् ] एक्वो-रुम्
	[ = 3	श्वा-न्-ग्राम् ] हिप्पे	
			एक्वा-स्रोम्

	4		
<b>ग्र</b> धिकरगा	त्र्यश्वे-धु	हिप्पाइ-सि	[एक्वा-
		हिप्पाइ-स	इस् ] एक्कीस्
[o] sin sins	<mark>तरान्त [</mark> ग्रीक, लैं		
[7] (1- 3)(4		र्गाया सार्वा स्वा ग्रीक	लै॰
	संस्कृत		
प्रातिपदिक	<b>ग्र</b> श्वा	खोर- [देश]	एक्य- [घोड़ी]
एक वचन			
कर्ता	ग्रश्वा	खोर	एक्व
कर्म	अश्वाम्	खोर-न्	एक्व-म्
कररा	त्र् <u>र</u> श्वया	[बिए-फ़ि]	×
•	[बै॰ ग्रश्वा]	6	
सम्प्रदान	श्चरवायै	खोरइ [खोर-ग्रइ]	\ \ U.E.J.U.
	[वै० ग्रश्वाइ]	बार्ड [बार श्रह]	4,144
श्रपादान-संबंध	ग्रश्वायाः	खोर-स् [जेनेटिव	ि एक्व इस्
		× [ए॰लेटिव]	
		[ 4 (112 )]	, ,
			एक्वइ, एकए
			[जेने०] एका
	4		[ द् ] [एब्ले॰]
<b>त्र्रधिकर</b> ण	<b>अश्</b> वायाम्	खिमा-इ∫	[रोमए=रोम-
			?=रोममें]
द्वि० व०			- " " ' ' ' ' '
कर्ता	ग्रश्वे	खोरा	
1		खारा	X
21 11 71 1		खोर-इन्	, ×
संबंध, ऋधिकरण	ग्रश्वयोः [ -योस्	] ×	×
ब० ब०			

कर्ता'	ग्रश्वास्	खोरइ	८८८ एक-एस्,
אוו	अस्याः] [ग्रश्वाः]		एकास
कर्म	[श्ररवास् [श्ररवाः]	्खोरास् [-न्स् ]	4
करण सम्प्रदान श्र	-	स् ] [ –िफन् ] ग्रस् ] × खोरोन्	्र एक्व-बुस् एक्व-रुम्
संबंध	श्ररवानाम् वि० श्रश्वाम्		
श्रधिकरण	अश्वेषु श्र	- खोरइ-सि खोरइ-स्	[ एक-इस् ] एकिस्
	ियो स्कासस्य क	प [पु॰, स्त्री॰, न	पुंठी
	[२] २५००० संस्कृत	ग्रीक	a,o
प्रातिपदिक		पालि [स्त्री॰]	त्र्यावि स्रावि
	वारि [नपुं॰]	[=नगर] इद्रि [विशेषण]	मरि [नपुं॰]
ए० व०		<b>S</b> 0	
कर्ता	ग्रवि-स्, वारि [न॰]	पे।लिस्, इद्रि [न०]	्रेत्रोवि-स् , मरे [न०]
कर्म	ग्रवि-म् , वारि [न०]		ग्राव-म्, मर
करण	ग्र्यविना [पु०]	×	×
	त्र्राज्या [स्त्री०] वारिग्णा [नपुं०]	×	×
सम्प्रदान	ग्रवये [पु॰], ग्र <mark>व्य</mark> ै	X	श्रावा \
	[स्त्री], वारियो [न०]	×	X

श्रपादान सम्बन्ध	ग्रवेः, ग्रव्याः [स्त्री०] वारिग्गः [न०] ग्रवेः, ग्रव्याः [स्त्री०] वारिग्गः [न०]	४ ४ पालि-चोस्, पाल- ग्रोस्, पाले-ग्रास्, पालगोस्	आवे [ द् ] मिर-[ द् ] / ग्राविस् / ×
	1	×	
<b>त्र्यधिकर</b> ण	त्रवौ, त्रव्याम् [स्त्री०], वारिणि [न०]	पाल-ई, पालइ	} ×
द्धि० व०			
कर्ता, कर्मा	श्रवी, वारिखी	पालि-ए, पालए	×
करण, सम्प्र	॰, ग्रविभ्याम्	पालि-आ-इन्	×
श्रपा॰	i i		•
संबंध ऋधिक	रण ग्रव्योः, वारिग्गोः	×	×
च० व०			
कर्ता	अवयः, वारीणि	पाले-एस्,	त्र्यावेस <u>्</u>
		[=पालयस्]	मरि-श्र
		पालि-एस्, पालइस्	
		इद्रि-ग्र [न०]	्[न०]
कर्म	=====================================	(	55-
99 <del>11</del>	त्रवीन् [पु॰], ऋवीः		ओवेस्
	[स्त्री०] वारीणि	इस् इद्रि-ग्र	मरिश्र
करगा	[न∘] ग्रविभिः ∫ –भिस् }	×	×
=	, ग्राविभ्यः [ -भ्यस् ]	×	त्रावि <u>ब</u> ु
संबंध	त्रुवीनाम्	पालि-ग्रोन्, पाल-	श्रवि-उम्
		श्रोन्	. MIT 0.7
		. 7	

**अधिकरण** अविषु

पालि-सि, पाल-सि, पालि-ए-स्सि

नोट: —यहाँ हमने स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग शब्दोंके उन्हीं रूपोंका संकेत किया है, जो पुल्लिंग शब्दोंके तत्तत् विभक्तिके तत्तत् वचनान्त रूपोंसे मिन्न होते हैं। अन्यरूप पुल्लिंग रूपोंके समान होनेसे उनका संकेत अनावश्यक समभा गया है, यही कारण है, यहाँ वारिभिः वारिभ्यः, वारिषु जैसे रूपोंका कोई संकेत नहीं है, क्योंकि उनका संकेत अविभिः, अविभ्यः, अविषु जैसे रूपोंके कोई मिल जाता है।

[४] ध्वितयुग्मान्त शब्दों [Diphthongal stems] के रूप

F.1	संस्कृत	ग्रोक	लै॰
प्रातिपदिक	१. नौ	नुड	[निव]
	२. गौ	बाउ	बाउ [बा-वि]
ए० व० कर्ता	नौ-स् [नौः]	नउस्	नवि-स्
भूता	सी: गौ:	बाउम्	बोस् [बाउस्]
कर्म	नावम्	नेव, नड-न्	नवम्
1	गावम्	् बाउ <b>-च</b>	बावेम्
करण	नावा .	नउफि	×
•	सवा	×	×
सम्प्रदान	नावे	×	नवी
	गवे .	$\times$	बावि
स्रपादाव	नावः [ -ग्रस्]	×	नावे [ द् ] बावे [ द् ]
•	गोः [ –स्]	× नेवास्-नेत्र्योस्	नविस्
संबंघ	नावः	नेवास्-नेत्रास्	
	गोः	बावास्	बाविस्

<b>ग्रि</b> घकरण	नावि	नेवि	×
द्वि० व०			
	गवि	बावि	×
कर्ता-कर्म	नावा-नावौ	नेव	×
	गावा-गावौ	व्राव	×
करण, सम्प्र०,	नौभ्याम्	नेवा-इन् , न-आ	इन् X
श्रपादान	गोभ्याम्	वा-वाइन	×
संवंध, ग्राधि०	नावोः	×	×
	गवोः	×	×
व॰ व॰			
कर्ता	नावः	नेवस्	नवेस्
	गाव:	वावंस	बाबेस् [बाबिएस्]
कर्म	नावः	नवस्, नउस्	नवस्
	गावः, गाः,	बावस्, बाउस्	८८ <u>े</u> बाबस्
करण	नौभिः [-भिस्]	नडिफन्	×
	गोभिः [-भिस ]	×	×
सम्प्र॰, श्रपा॰,	नौभ्यः [-भ्यस् ]	×	नवि-बुस्
,	गोभ्यः [-भ्यस् ]	×	बो-बुस्, बू-बुंस्
सम्बंध	नावाम्	नेवोन्, नश्रोन्	नवि उम्
	गवाम्	बावोन्	बा-उम्=बावाम्
<b>श्र</b> धिकरण	नौषु	नेडिस, नडिस	×
	गोषु	बाउसि	X
F2.5	× ×		

[इस संबंधमें इतना संकेत कर दिया जाय कि लैतिनमें ध्वनियुग्मोंके लोपके कारण ध्वनियुग्मांत प्रातिपदिकोंका ग्रामाव है। 'नवि' वस्तुतः इकारान्त प्रातिपदिक है। केवल 'बोस्' का प्रातिपदिक 'बाव्' [या बाउ] ही एकमात्र ऐसा शब्द है, जिसमें ध्वनियुग्मांत शब्दके अवशिष्ट चिह्न देखे जा सकते हैं।]

### हलन्त शब्दोंके रूप

[१] संस्कृत वाच् , [स्त्री॰] ग्रीक त्र्राप् [स्त्री॰], लैतिन वोक् [स्त्री॰] सं॰ ग्री॰ लै॰

	ए० व०		<	
	कर्ता	वाक्	त्र्राप्-स्	वोक्-स् [वाक्स]
	कर्म	वाचं	ग्राप्-ग्र [ग्राप]	वोकम्
	करण	वाचा	×	×
	सम्प्रदान	वाचे	×	वोकि
	त्र्रपादान	वाचः	ſίΧ	वोके [द्]
	संबंध	वाचः	<b>त्रापास्</b>	वोकिस्
	<b>त्र्राधिकरण</b>	वाचि	आपि [यह देतिवका	×
		p.	रूप है]	
	द्वि० व०			
	कर्ता-कर्म	वाचा, वाचौ	<b>अ</b> ।पे	×
	करण, सम्प्र॰	वाग्भ्याम्	त्रापाइ <b>न्</b>	×
,	श्रपा०	[=* वाच्-भ्याम्]		
	संबंध, ऋधि॰	वाचोः	$\times$	×
	च० च०			
	कर्ता	वाचः [ वाचस् ]	त्र <u>ा</u> पस्	वोकेस् [ वोकि-
				एस्]
	कर्म	वाचः [,,]	् आपस्	वोकेस्
			[-फिन्]	
	करण	वाग्भिः [— * वास्त्रिः]	[ _(4) 4 ]	. ^
		1 = % cll'mill'		

वोकिबुस् सम्प्र०-ग्रपा० वाग्भ्यः X = \* वाचभ्यः ऋापोन् वोकुम् संबंध वाचाम्

ग्राप्-सि [देतिव] **ऋ**धिकरण वाक् पु

सं ०

#### प्रतिपदिक

[२] सं॰ भरत् [भरन्त् ] [पु॰ नपुं॰], ग्रीक फरान्त् [पु॰ नपुं॰] लै॰ फरन्त् [पु॰ स्त्री॰ नपुं॰]

ग्री०

लै॰ ए० व० भरन्, भरत् [नपुं ०] फरोन् [-न्त्रान्त्-स्] कर्ता भरन्तम्, भरत् [नपुं ०] फरान्त [०न्त्-ग्र] कर्म करण भरता सम्प्रदान भरते फरान्ते [द्] श्रपादान भरतः [भरत्-त्र्रस ] फरान्तास् [॰न्त्-ओस्] फरन्तिस् संबंध भरतः ५५ फरान्ति श्रधिकरण भरति X द्वि० व० फरान्त [॰न्त्-प] कर्ता-कर्म भरन्ता, भरन्तौ भरन्ती [नपुं॰] ५५ ५ फरान्ताइन् करण, सम्प्र० भरद्भचाम् X = \*भरत्भ्याम् श्रपादान संबंध, ऋधिकरण भरतोः X X बं० वं०

कर्ता	भरन्तः [भरन्त्-ग्रस् ]	फरान्तस्, फरन्तस् [-फरेन्तिएस् ]
	भर्गन्त [नपुं॰]	फरान्त [॰न्त्-ग्र]
कर्म	भरतः	फरोन्तस् [०न्त्-ग्रस् ] फरेन्तस्
	भरन्ति [नपुं॰]	फरान्त [॰न्त्-ग्र]
करण्	मर्राद्ध <b>ः</b>	[ <b>-</b> फिन्]
सम्प्र०-श्रपा	॰ भरद्भयः	× फरेन्ति-बुस्
संबंध	भरताम्	फरान्तोन् फरन्तिम् [फरन्तुम्]
<b>ग्रिधिकरण</b>	भरत्सु	फरान्त्सि [-फराउसि] ×

नोटः—संस्कृतमें \*'भरन्त्'के स्त्रीलिंग रूपोंमें 'ई' प्रत्यय जुड़कर 'भरन्ती' बनता है, जिसके रूप वृक्षी, देवी जैसे ईकारान्त स्त्री० शब्दोंकी तरह चलते हैं। ग्रीकमें स्त्रीलिंगमें 'य' प्रत्यय जुड़ता है। ग्रीकमें सं० भरन्तीके समानान्तर प्रातिपदिक 'फरान्त्य' तथा 'फराउस' हैं, जिनके रूप ग्राकारान्त स्त्रीलिंग शब्द 'खोर' [Xora] की तरह चलते हैं। लैतिनमें पु०, स्त्री०, नपुं० तीनोंमें ये एकसे बने रहते हैं।

्सं॰ मनस् [न॰], दुर्मनस् [पु॰ स्त्री॰], ग्रीक मनास् [न॰], दुरुमनास् [पु॰ स्त्री॰]

	सं०	<b>ग्री</b> क
ए० व॰		
कर्ता	मनस् [मनः] [न०]	मनास्
	दुर्भनाः [दुर्मनास् ] [पु॰ स्त्री॰]	<b>दुस्मने</b> स्
कर्म	मनस् [मनः]	मेनास्
	दुर्भनसं [पु॰ स्त्री॰]	दुरमन्स्-ग्र [०स],
		दुस्मनसंश्र, ०से

<b>३३</b> ०	संस्कृतका भाषाशार्ख	य ग्रध्ययन
करण	मनसा [दुर्मनसा]	[ <del>-</del> [फ़ि]
सम्प्रदान	मनसे [दुर्मनसे]	×
श्रपादान .	मनसः [दुर्भनसः]	X
सम्बंध	मनसः [दुर्मनसः]	मनस्, मनास्,
		मनाओस्, मनेउस्
च्यधिकर <b>ण</b>	मनसि [दुर्भनसि]	मनसि, मनइ
संबोधन	मनः [दुर्भनाः]	मनास्, दुस्मनस् [पु॰ स्त्री॰]
द्वि० व०		
कर्ता-कर्म	मनसी	[मनस], मने
	दुर्मनसा-दुर्मनसौ	दुस्मनसं, दुस्मने
करण, सम्प्र०	मनोभ्याम् [दुर्मनोभ्याम् ]	मनेषाइन्,
ग्रपा०		५५५ <u>५</u> मनसाएरिन्
संबंध, ग्राधिकर	ण मनसोः [ <mark>दुर्मनसोः</mark> ]	×
च <b>० व०</b>		
कर्ता	मनांसि [न०]	मनस [स्-ऋ], मनस्रक्ष, मने
r	दुर्मनसः [पु॰ स्त्री॰]	दुस्मनेसस्
कर्म	मनांसि	मनस [स्-ग्र], मचे
	दुर्मनसः	दुस्मेनसस् [•स्-ग्रस्]
कर्गा	मनोभिः [दुर्मनोभिः]	[मनस्-िफ]
सम्प्र• अपा॰	मनोभ्यः [दुर्मनोभ्यः]	,,×
संबं <b>ध</b>	मनसां [दुर्मनसां]	मनसोन् [मनस्-श्रोन् ],
श्रिधिकरण	मनःसु [दुर्मनःसु]	मनस्-सि, मनसि

## सर्वनाम शब्दोंके रूपोंका तुलनात्मक परिचय

[१] उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाम

* ` ;	[2] 20	म उद्ययाच्या त्यताम	
	सं०	<b>ग्रीक</b>	लैतिन
ए० व०			(
कर्ता	ग्रहम्	एगोन्, एगो	एगो
कर्म	माम् , मा	ए-म, म	म
करण	मया	$\times$	×
सम्प्रदान	मह्यं, [मे]		मि-हइ, मिहि
ग्रपादान	मत्	× ,, , , , ,	मेद्
संबंध	मम, [मे]	्र एमइत्रा,एमाउ,माउ,एमा	उस् [मइ !]
<b>ग्राधिकर</b> गा	मयि	८८ एमा-इ, मा-इ	मइ
द्विवचन			
कर्ता	<b>ग्रावाम्</b>	[>	
कर्भ	ग्रावाम् ग्रावाम् , नौ	र् नाइ, ना	×
करण, सम्प्र०, ऋपादान		नो-इन् , नोइन्	×
सम्बन्धः ऋधिकर्ण			×
ब्हुवचन			
कर्ता	वयं, ग्रस्मे	ग्रम्मस् [ग्रस्मिस् ]	नोस् [१नास्]
	[बैदिक]	हेम-एस् [हेमिस्]	
		हेमइस्	
कर्म ं	ग्रस्मान् , नः	ग्रम्म, हेमग्रस्, हेमस्	नोस्
करण	ग्रस्माभिः	×	X

**ऋधिकर**ण त्वयि सोइ [त्व-इ] तुइ [मूलतः जेनेतिव]

द्वि० व० कर्ता युवाम् ्र स्कोइ, स्को कर्म युवाम्, वाम् करण, सम्प्र० ∫ युवाभ्याम् स्फो-इन् [स्फोइ-फिन्] 🗙 त्रपा० (वाम् [सम्प्र०] स्फोइन्

संबंध, ऋधि० ∫ युवयोः  $\times$ 

च० व० यूयम्, युष्मे [वैदिक] उम्मस्, कर्ता वोस् हुमएस्, हुमइस् उम्म, कर्म युष्मान्, वः हुमग्रस्, हुमइस् युष्माभिः करण उम्मि [ म्मि-फिन् ] वेश-विस् युष्पभ्यं, वः सम्प्रदान हुमिन् वा-विस् [मूलतः • X ग्रपादान युष्मात् देतिव ् वास्त्रुम् संबंध युष्माकं ् वास्त्रि हुमइस्रोन्, हुमे-<u>a</u>: श्रोन्, हुमोन् च्यधिक**रण** युष्मासु X [३] अन्य पुरुष वाचक सर्वनाम [क] पुह्लिंग तथा नपुंसकलिंग सं० लैतिन ग्रीक < ता− इस्-तो-[इ+स+त] प्रातिपदिक त— ए० व० सः, तत् [न॰] हा [स्], ता [न॰] इस्तुस्, इस्ते, कर्ती इस्तुद् [न०] तम्, तत् [न॰] तान्, ता [न॰] इस्तुम्, इस्तुद् [न॰] कर्म तैन करण तोइ = ता-त्राइ भइस्ति ? = इस्ताएइ तस्मै सम्प्र० = क्वाइएइ

ग्रपादान तस्मात् [तोस्=तोत्] इस्ता-द् संबंध तस्य तोइग्रा, ताउ इस्तिउस् [इस्ता-इ-ग्रास् ] ग्राधिकरण तस्मिन् [हाइ=हा-इ] \*इस्ति !=इस्ताइ =हुमि, क्वाइ

द्धि व ॰ कर्ता, कर्म तौ [ता], ते [न ॰ ] तो करण, संप्र ॰ ग्रंपा ॰ तास्याम् ताइन् संबंध, ग्रिधिकरण तयोः 🗶 > व ॰ व ॰ कर्ता ते, तानि [न ॰ ] ताइ, होइ, त [न ॰ ] इस्ती

कर्ता ते, तानि [न॰] ताइ, होइ, त [न॰] इस्ती, इस्त, [न॰] कर्म तान्, तानि [न॰] तान्स्, ताउस्, त [न॰] इस्तीस्, इस्त [न॰]

करण तैः × ×

सम्प्र॰, श्रपा॰ तेभ्यः 🗶 [क्वि-बुस्, हि-बुस्, हि-बुस्,

संबंध तैषाम् तोन् इस्तो-रुम् ग्राधिकरण तेषु ताइ-सि, ताइस् इस्तिस् [क्वइस्]

[ख] स्रोतिंग रूप

सं० ग्रीक लैटिन ए० व• कर्ता है सा ्रहस्त, क-इ कर्म तेन् ताम् इस्तम् [होफे] X. करण तया

सम्प्र०	तस्यै	तेइ'	इस्ति
श्रपादान	तस्याः	$\times$	इस्ता-[ द् ]
संबंध	तस्याः	तेस्	इस्तीउस्
<b>ऋधिकर</b> ण	तस्याम्	तेइ	इस्ति ं
द्वि० व०			
कर्ता, कर्म	ते	ব	$\times$
करण, सम्प्र०,	ताभ्याम्	त-इन्	$\times$
अपादान			
संबंध, ऋधि०	तयोः	×	$\times$
ब॰ व॰			(
कर्ता	ताः	तइ	इस्तए
कर्म	ताः	तस्	इस्तास्
करण	ताभिः	×	×
सम्प्र॰, ग्रपा॰	ताभ्यः	×	×
संबंध .	तासाम्	त-श्रोन्, तोन्	इस्ता∙रुम्
ग्रिधिकरण	तासु	तेइ-सि, तइस्	इस्तीस्
	^	2 2 24	0 0

## संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिन तिङ् विभक्तियाँ

[१] मुख्य तिङ् विभक्तियाँ :—परस्मैपदी

ग्री०-मि, -ग्रो, है०-म्,-ग्रो उ०पु० ए० व० सं०—मि,

[भरामि, ददामि], [दिदोमि, फरो], [सुम् [सं॰

श्रस्मि], फरो] द्वि० व० सं०-वः [भरावः, दद्वः] ग्री० मेस् [दोरिक], लै० मुस् ब० व० सं०-मः

मेन् [एतिक],

[भरामः, द्वः]	[ फरोमन् , [ सुमुस् ,
	दिदोमेन् ] फरिमुस् ]
म् ॰ पु॰ ए॰ व॰ सं॰ – सि,	ग्री॰-सि, एइस् लै॰-स्
[भरसि, ददासि]	[ दिदोसि, फरइस् ] [फर्सं]
द्वि० व० सं०–थः	ग्री॰-तान् X
[भरथः, दत्थः]	[फरतान्, दिदातान्] 🗶
व० व० सं०—थ	ग्री॰-तं लै॰-तिस्
[भरथ, दत्थ]	[फरात, ददात] [फर्तिस्]
प्र∘ पु॰ ए॰ व॰ सं०-ति,	ग्री०-ति, -सि, लै०-त्
[भरति, ददाति]	[एस्ति, तिथेति, [इस्त्, फर्तं] फरसि]
	[दोरिक, दिदोति,
	एतिक, दिदोसि]
द्धि॰ व॰ सं०-तः,	ग्री॰-तान् 🗙
[भरतः, दत्तः]	[फरतान्, दिदातान्] 🗙
ब॰ व० सं०-न्ति,	ग्री०─न्ति [दोरिक], लै०─न्त्
	−उसि [एतिक]
[भरन्ति, ददित]	[फरान्ति [दो॰]
	फराउसि [ए०] [फरन्त्]
	दिदाउसि]

[२] मुख्य तिङ् विभक्तियाँ : ऋात्मनेपदी :— उ॰ पु॰ ए॰ व॰ सं॰-ए [भरे] ग्रीक-मइ [फरामइ] 🗴 द्वि० व० सं०-वहे [भरावहे], ग्रीक-मंथान् [जो मूलतः व० व० रूप ही है] [फरोमथान् ]

व० व० सं०-महे [भरामहे], ग्रीक-मथ [फरोमथ] ८ \*मधह म० पु० ए० व० सं०-से [८ \*सइ] [भरसे], ग्रीक-सइ,-एई [फरह ८ \*फरसइ]

द्वि० व० सं०-एथे [भरेथे], ग्रीक-स्थान, -स्थेन् [फरस्थान,

ब० व० सं०-ध्वे [भरध्वे], ग्रोक-स्थे [फरस्थे ]
प्र० पु० ए० व० सं०-ते [भरते], ग्रीक -तइ [फरतइ ]
द्वि० व० सं०-एते [भरते], ग्रीक-स्थान, स्थेन [फरस्थान, फरस्थेन]

व॰ व॰ सं॰--ग्रन्ते [भरन्ते], ग्रीक-न्तइ, -ग्रतइ [फेरोन्तइ, क्रितइ]

लैतिनमें स्वतन्त्र आत्मनेपदी तिङ् चिह्न नहीं होते, वहाँ 'र्' जोड़ दिया जाता है, जैसे, अमोर्, अमिरस् , अमतुर्, अमसुर्, अमन्तुर्। दि॰ Papillon: Comparative philology applied to Greek and Latin p. 178].

[३] गोण तिङ् चिह्न: परस्मैपदो:—
उ० पु० ए० व० सं०-म् [अ-भर-म्] ग्रीक-न् [ए-फरा-न्]
हि० व० ,,-ग्राव [अ-भराव] 
व० व० ,,-ग्राम [अ-भराम] ग्रीक-मन् [ए-फरा-मन्]
म० पु० ए० व० सं०-स् [:] [ग्र-भर-: [स्]] ,,-स् [ए-फर-स्]
हि० व० ,,-तम् [अ-भर-तम्] ग्रीक-तान् [ए-फर-तान्]
व० व० ,,-त [अ-भर-त] ,,-त ए-फर-त]

प्रविष्ठ ए० व० सं०-त् [ग्र-भर-त्] ग्रीक-त् [ए-फर-त्]
द्विव व० ,,-ताम् [ग्र-भर-ताम्] ,,-तेन् [ए-फर-तेन्]
व० व० ,,-न् [अ-भर-न्],,-न् [८क्न्त्],-ग्रन् [८क्न्त्]

लैतिनमें गौण चिह्न तथा मुख्य चिह्नोंमें कोई भेद नहीं रहा है, क्योंकि यहाँ आकर मुख्य चिह्न न्म, न्स् , न्स् हो गये हैं। लैतिनमें भूतकालका द्योतक आगम [augment] 'अ' [श्रीक तथा प्रा॰ भा॰ यू॰ \*ए] प्राय: ज्ञुत हो गया है, इसके अवशेष केवल उन चार कियारूपोंमें पाये जाते हैं, जिनके आदिमें स्वरध्विन पाई जाती है:—एगि [egi], एदि [edi], एमि [emi], एपि [-epi, in co-epi]। [दे॰ King and Cookson. p. 156].

[४] गौण तिङ् चिह्न, आत्मनेपदी:—
उ० पु० ए० व० सं०-ए [ग्र-भरे] ग्रीक-मान् [-मेन्] [एफरोमेन्]
द्वि० व० ,,-विह् [ग्र-भराविह] ,,-मेथान् [एफरेमेथ]
व० व० ,,-मिह [ग्र-भरामिह] ,,-मेथान् [एफरेमेथ]
म० पु० ए० व० सं०-थाः [ग्र-भर-थाः] ग्रीक-सा [एफरे-सो]
द्वि० व० ,,-एथाम् [ग्र-भरेथाम्] ,,-स्थान् [एफरे-स्थान्]
व० व० ,,-ध्वम् [ग्र-भर-ध्वम्] ,,-थे [-स्थे] [एफरे-स्थे]
प्र० पु० ए० व० सं०-त [अ-भर-व] ग्रीक-ता [एफरे-स्थेन्]
द्व० व० ,,-एताम् [अ-भर-ताम्] ,,-स्थेन् [एफरे-स्थेन्]
व० व० ,,-ता [ग्र-भर-ताम्] ,,-ता,-ग्रता [एफरे-स्थेन्]
-ग्रत [ग्रासत]

## संग्राह्य पुस्तक-सूची

- ?.. Otto Jespersen : Language its Origin, Development and Nature.
- Rloomfield: Language.
- 3. Marcel Cohen: Le Langage.
- 8. Saussure : Cours de Linguistique Generale.
- y. Otto Jespersen: The Philosophy of Grammar.
- English Phonetics.
- Bloch : L'Indo-Aryen.
- A. Meillet: Introduction a l'etude Comparative des langues Indo-europeenes.
- 8. A. Thumb : Handbuch des Sanskrit.
- Yo. Wackernagel: Altindische Grammatik. (Vol. I, II, III).
- ??. Ghosh: Linguistic Introduction to Sanskrit.
- १२. T. Burrow : Sanskrit Language.
  - १३. Edgerton: Phonology of Indo-European.
  - 88. Sturtevant: Indo-Hittite Laryngeals.
  - Hudson-Williams: Introduction to the study of Comparative Grammar.
  - १६. Atkinson: Greek Language.
  - Ruck: Comparative Grammar of Greek and Latin.
  - King and Cockson: Comparative Grammar of Greek and Latin.
  - १६. Papillon: Comparative Philology applied to Greek and Latin.

Rischel: Prakrit Sprachen.

R. Woolner: Introduction to Prakrit.

२२. Macdonell: Vadic Grammar.

Rengali Language.

× २४. ,, :Indo-Aryen and Hindi.

Ry. Dr. Saksena: Evolution of Awadhi.

Ref. Dr. Tagare: A Historical Grammar of Apabhramsa.

76. Dr. Allen: Indo-European primary affix 'Bh' (Trans. of Philological Society of Great Britain 1950).

Rathews: Soviet Contribution to Linguistic thought (Archivum Linguisticum Vol. 2 pt. I-II).

२६. डॉ॰ तिवारी: भोजपुरी भाषा श्रीर साहित्य.

३०. शौनकोय ऋक्प्रातिशाख्य

३१. शुक्तयजुःप्रातिशाख्य ( उब्बट भाष्य सहित ),

३२. तैत्तरीयप्रातिशाख्य

३३. ऋथर्वप्रातिशाख्य

३४. पाणिनिशिद्धा

/३५, माध्यन्दिनीशिद्धा

३६. केशवीशिका

३७. सिद्धांतकौमुदी

३८. वररुचि : प्राकृतप्रकाश

३६. मार्कएडेय : प्राकृतसर्वस्व

४०. हेमचन्द्रः शब्दानुशासन ( ऋष्टम अध्याय ),

४१. डॉ॰ चाटुर्ज्या : भारतीय त्र्रार्थभाषा श्रीर हिंदी



# भारतीय ज्ञानपीठ काशी उद्देश्य

ज्ञानकी विल्पान, अनुपंत्रका भीर भन्नकाणित सामग्रीका अनुसन्धान भीर प्रकाशन तथा कोक-हितकारी मोलिक साहित्यका निर्माण



संस्थापक साह शान्तिप्रसाद जैन

वण्यका श्रीमती रमा जैन

# भारतीय **जा**नपीठ काशी उद्देश्य

क्रानकी विशुप्त, अनुपल्य भीर अप्रकाशित सामग्रीका भनुसन्यान बीर प्रकाशन तथा सोक-हितकारी मीलिक शाहित्यका निर्माण



संस्थापक साहू शान्तिप्रसाद भैन

गण्यका श्रीमती रङ्गा जैन